आधुनिक हिन्दी

डॉ० देवराज उपाध्याय

आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान

डॉ० देवराज उपाध्याय
उप-संचालक, पुरातत्वान्वेषण मन्दिर,
जयपुर

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

समर्पण

बाबूजी के श्री चरणों में,

जो केवल बाबूजी हैं,

जिनके हृदय को कोई भी विशेषण माप नहीं सकता,

जो 'बाढ़हि पूत पिता के धरमा', के सजीव उदाहरण हैं ।

प्रस्तावना

मैंने डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेयजी, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के निरीक्षण में रह कर "आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान" शीर्षक विषय पर अनुसंधान कार्य किया था और राजपूताना विश्वविद्यालय में डाक्टर की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया था। १९५४ ई० के दिसम्बर महीने में थीसिस स्वीकृति हुई। वही थीसिस यत्र तत्र किंचित् परिवर्तन के साथ प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में जा रही है। इच्छा थी कि इसमें कुछ और जोड़-जाड़ कर दूं और कुछ आधुनिकतम कथाकारों के रचनाओं का भी उल्लेख कर दूं। इस प्रकार यह पुस्तक इस लांछन से बच जाय कि इसमें बहुत से उल्लेखनीय कथाकारों की चर्चा नहीं की गई है और उनकी अवहेलना की गई है। पर यह सब कुछ प्रबल कारणों से ही संभव न हो सका।

अनुसंधान शब्द एक अर्थ विशेष के लिए ही सीमित होकर रूढ़ि का रूप धारण करता जा रहा है। किसी कवि या किसी पुस्तक की तिथि, उसकी प्रामाणिकता, पुस्तक में वर्णित सामाजिक या राजनैतिक घटनाओं की सत्यता की जाँच पड़ताल या एतादृश अन्य बातों को ही प्रधानतया अनुसंधान कार्य समझा जाता रहा है। यह भी धारणा सी है कि अनुसंधानीय होने के लिए अनुसंधित्सु लेखकों को कम से कम ३०० वर्ष प्राचीन होना चाहिए। पर इस थीसिस के प्रायः सब कथाकार जीवित हैं और उनकी प्रतिभा आज भी सक्रिय है तथा वे ग्रन्थों के प्रणयन में तत्पर हैं। इस पुस्तक में इन्हीं कथाकारों की रचना पर मनोविज्ञान का क्या प्रभाव पड़ा है तथा उनमें मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म कितनी-कितनी पायी जाती है, इसी [illegible] का अल्पमति विवेचन किया गया है। मनोविज्ञान की अर्थ-सीमा बहुत [illegible] है और इसमें अनेक बातें आ सकती हैं। पर उन सबकी चर्चा करना एक [illegible] तथा एक पुस्तक के बूते के बाहर की बात है। [illegible] मेरे निरीक्षक महोदय श्री डा० वार्ष्णेय जी ने सुझाया था कि रचनाओं के आधार पर "कथाकारों का मनोविज्ञान" ऐसा भी एक अनुच्छेद रहे तो अच्छा हो। पर यह हो न सका। यदि कोई अन्य आलोचक इस विषय की ओर ध्यान दे तो बड़ी अच्छी बात हो।

इस पुस्तक के पाठक दो श्रेणियों के होंगे : मनोविज्ञानवेत्ता तथा साहित्यिक। दोनों को यह पुस्तक अधूरी लगेगी। प्रथम वर्ग तो यह कहेगा कि मनोविज्ञान उपपत्तियों के साथ न्याय नहीं किया गया है दूसरा वर्ग यह दोषारोपण करेगा

आशीर्वचन

मुझे अपने नूतन सहयोगी तथा हिन्दी आलोचना जगत् के सुपरिचित विद्वान डा० देवराज उपाध्याय की आधुनिकतम कृति "आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान" के सम्बन्ध में कतिपय पंक्तियों को लिखते हुए अपार हर्ष हो रहा है। यों मैं आधुनिक कथा साहित्य पर कुछ अधिकार पूर्वक कह सकने की परिस्थिति में नहीं हूँ कारण कि मेरा सम्बन्ध अधिकतर पुरातत्व में ही रहा है। पर इस पुस्तक के कुछ अंश के अवलोकन के बाद मेरे मन में संस्कार जमा है कि डा० उपाध्याय की दृष्टि मार्मिक, सूक्ष्म और रहस्यभेदी है। मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों की राह से उन्होंने प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय, जोशी जैसे कथाकारों पर जो नवीन प्रकाश डाला है, वह सचमुच विचारोत्तेजक है। भले ही किसी को कहीं उसमें सहमति न हो।

उपाध्याय जी का दृष्टिकोण सचमुच आधुनिकतम है। दैवसयोग कि वे अब इस पुरातत्त्वान्वेषण मंदिर में अनुसंधान कार्य के लिए आ गये हैं। यह अधुनातन और पुरातन का अच्छा मणि-कांचन संयोग है। इनकी आलोचनात्मक दृष्टि इस क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखला सकेगी।

मैं इस परिश्रम और अध्ययन सापेक्ष कृति का स्वागत करता हूँ। यह अवश्य ही हिन्दी के आलोचना क्षेत्र की श्री वृद्धि करेगी और पथ-प्रदर्शन का काम करेगी।

जयपुर
राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर,
दि० ४-८-५६

मुनि जिन विजय
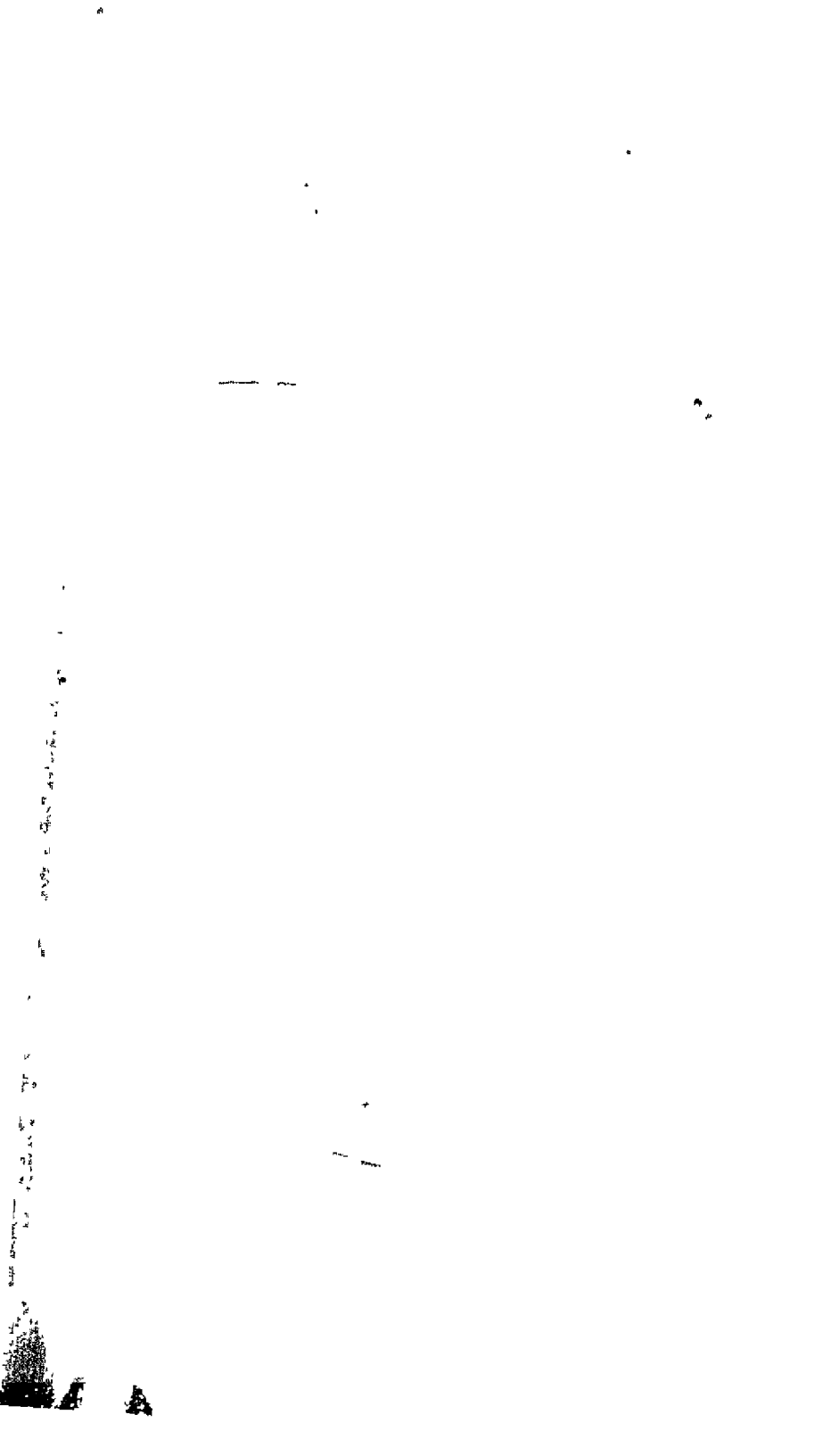
प्राक्कथन

आधुनिक हिन्दी उपन्यास की परम्परा बहुत पुरानी नहीं है। इसके आविर्भाव को अभी पूरे सौ वर्ष भी नहीं हुए और शिल्प तथा उद्देश्य की दृष्टि से वह प्राचीन संस्कृत कथा-साहित्य से अनेक अंशों में भिन्न है। उसने अपने तत्व अनेक क्षेत्रों से ग्रहण किए हैं। किन्तु इतने अल्प काल में ही हिन्दी उपन्यास का अत्यन्त तीव्र गति से विकास हुआ है और आज वह विश्व-साहित्य में आदरणीय स्थान पाने योग्य है। अपनी समस्त आधुनिक भौतिक एवं मानसिक जटिलताएँ लिए हुए जीवन उसमें इकाई बन कर समा गया है। मध्ययुग में जो स्थान महाकाव्य का था, अथवा भारतेन्दु युग में जो स्थान नाटक का था, वही, वरन् युग के अनुकूल उससे भी कहीं अधिक, महत्वपूर्ण स्थान आज उपन्यास का है। उसके द्वारा मानव मन तथा जीवन की अनेक जटिल और विषम समस्याएँ सुलझाने का पुनीत प्रयास किया जा रहा है और धीरे-धीरे वह राष्ट्र की सीमाएँ पार कर अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में पदार्पण कर रहा है।

पिछले लगभग सौ डेढ़ सौ वर्षों में फ्रॉयड-एडलर-युंग द्वारा विकसित, मनोविज्ञान के अंतर्गत, मनोविश्लेषण करना तथा अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक विचार-धाराओं और कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, यूरोप की इन विचार-धाराओं ने मानव जीवन, फलतः साहित्य, को अत्यधिक प्रभावित किया है। इन विचार-धाराओं का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा और पड़ रहा है—कुछ प्रत्यक्ष और बहुत-कुछ अप्रत्यक्ष रूप में। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हिन्दी उपन्यास की विकास-सूचक भूमिका मनोविज्ञान के क्रोड़ में पालित पोषित होने लगी थी और, ऐतिहासिक दृष्टि से, वह अपने भारतेन्दु युगीन रूप को छोड़ आगे बढ़ी। परवर्ती काल में उसमें आधिकाधिक विविध संपन्नता का जन्म हुआ।

हिन्दी के आलोचकों तथा विद्वानों ने हिन्दी उपन्यास में अभिव्यक्त बाह्य जीवन की मीमांसा तो की थी, किन्तु अन्तर्मन का स्पन्दन-दर्शन अभी तक अछूता ही पड़ा था। आधुनिक युग की प्रवृत्ति स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने में है। युग की इस प्रवृत्ति के अनुसार विद्वानों का हिन्दी उपन्यास में उपलब्ध अन्तर्जगत की खोज की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। प्रस्तुत प्रबन्ध में डॉ० देवराज उपाध्याय ने इसी जगत् में प्रवेश करने का सफल एवं साधनापूर्ण प्रयास किया है। एक विशेष काल की औपन्यासिक दुनिया को आपने नई आँखों से देखा और अनेक रहस्यपूर्ण तथ्यों का मार्मिक उद्घाटन किया है। प्रबन्ध में हिन्दी उपन्यास की सामान्य कहानी तो न मिलेगी. किन्तु डॉ०

देवराज उपाध्याय ने उसी को नई तरतीब से सजाया है और यह निरूपण अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी है। उपन्यास-साहित्य के अन्य विद्यार्थियों के लिए यह प्रबन्ध प्रेरणा प्रदान करेगा।

राजपूताना विश्वविद्यालय ने प्रस्तुत प्रबन्ध को पी० एच-डी० की उपाधि के लिए पूर्णतः उपयुक्त पाया। हिन्दी आलोचना-साहित्य में यह एक महत्वपूर्ण कृति है। आशा है हिन्दी के विद्वान इस ग्रन्थ का सहर्ष स्वागत करेंगे।

हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी,
१६-७-१९५६

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

विषय-सूची

परस्पर-विरोधी तत्त्व माने जाते हैं। सत्य से हमारा अभिप्राय अनुभव-गम्य, परिचित, इन्द्रिय-ग्राह्य तथा साधारण बुद्धि-संवेद्य भावों से होता है। जिन भावों तथा पदार्थों को अपनी अनुभूति के क्षेत्र के सजातीय मान लेने में हमें कठिनता नहीं होती, जिनसे हमें समान-धर्मित्व के भाव सहज ही प्राप्त हो जाते हैं उन्हें हम सत्य की संज्ञा देते हैं और जो जरा दूर पड़ी हुई सी वस्तु मालूम पड़ती है जिन्हें देखते ही हम तादात्म्य-स्थापन का आनन्द नहीं पाते, जिनसे बन्धुत्व के भाव-बन्धन से बँधने में कुछ रुकावट सी मालूम पड़ती है उन्हें हम काल्पनिक तथा मिथ्या कह कर अपने हृदय की झुंझलाहट प्रगट करते हैं। परन्तु जिस व्यक्ति ने यह कहा होगा कि Truth is Stranger than fiction)[२] अर्थात् सत्य कल्पना से अधिक विस्मयजनक और अद्भुत है यह उसकी आत्मा के उस दिव्य अन्तःकरण की वाणी होगी जिसमें प्रकृति देश और काल के आवरण को हटा कर मनुष्य के सामने विशुद्ध रूप से आत्म-समर्पण कर देती है। हो सकता है कि इस दिव्य भाव का स्फुरण जिसके कंठ से हुआ हो वह भी इसके यथार्थ गुरुत्व को नहीं समझ सका हो। पर आज के मनोवैज्ञानिकों के अध्ययनमात्र ने हमारे सामने जो वृत्तविवरणों (केस-हिस्ट्री) का बृहत् संग्रह उपस्थित कर दिया है उसके सामने तिलस्मी और जासूसी कथाएँ फीकी पड़ जाती हैं, बच्चों के खिलवाड़ जैसी। स्टेकल ने, फ्रायड ने तथा इस क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों ने स्वप्नों की जो व्याख्या की है, बाहर से देखने में सीधे सादे लगने वाले अथवा अनर्गल और अर्थहीन लगने वाले स्वप्नों की, मनोविकारग्रस्त मनुष्यों की विक्षिप्तताओं की, बाल्य जीवन की जो नई व्याख्या दी गई है उसे पढ़ कर कौन आश्चर्यचकित न हो जायगा? १८९५ में फ्रायड और ब्रुअर ने सम्मिलित रूप से एक पुस्तक लिखी थी स्टडीज इन हिस्टीरिया (Studies in Hysteria)। इसमें एक स्थान पर उन्होंने लिखा है "मुझे भी यह देख कर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता कि जिन लोगों की बातें लिख रहा हूँ वे पढ़ने में उपन्यास की तरह लगती हैं मानो किसी वैज्ञानिक विवेचना की सारी विशेषताओं से उन्होंने हाथ धो लिया हो। परन्तु मुझे इस बात का संतोष है कि पुस्तक के इस रूप धारण कर लेने में विषय की विशिष्टता ही उत्तरदायी है, मेरी अपनी रुचि नहीं। हिस्टीरिया के रोगियों के अध्ययन के लिये केन्द्रीय निदान तथा विद्युत प्रतिक्रियाएँ इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। परन्तु मानसिक व्यापारों की विस्तृत विवृति से (जैसा कि कवियों द्वारा सुनने में आया है) और कुछ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रयोग से हिस्टीरिया के सच्चे स्वरूप को समझने में अधिक सहायता मिल सकती है।"[३] मनोविज्ञान और कथा साहित्य में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है इसी से पता चल सकता है कि १९२४ में एडवर्ड ग्लोवर ने मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के लिये पाठ्य-क्रम बनाया था। इसमें कुछ उपन्यासों का अध्ययन भी अनिवार्य बनाया था। (Helene Deut

पेश करता है तो यह मनोविज्ञान का चमत्कार है। प्रेमचन्द के परवर्ती कथा साहित्य के पाठक के मन में एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है। क्या कारण है कि प्रेमचन्द तक की कथाओं में स्वप्नों का कुछ भी महत्व नहीं है? कथा के सारे पात्र समूह खूब जी भर कर काम करते हैं, उछलकूद करते हैं, सागर को लाँघते हैं, हिमगिरि को हिलाते हैं, डट कर भोजन करते हैं और रात को टाँग पसार कर गहरी नींद सोते हैं। मध्यकालीन युग के आख्यानकों में पूर्वराग के लिये स्वप्न दर्शन की चर्चा अवश्य है पर स्थूल रूप में, उसके पीछे मनोवैज्ञानिक संकेत नहीं। तिस पर भी हम इतने भर की योजना के लिये ही उनका महत्व स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि सूर, तुलसी तथा जायसी को मनोवैज्ञानिकता का ज्ञान उच्चकोटि का था। पर आज का युग बेचैनी का युग है, पाचन शक्ति की दुर्बलता का युग है, फ्रस्ट्रेशन का युग है, हमारा मन विकृत है, भोजन की गम्भीर तृप्ति क्या होती है हम नहीं जानते, सुख निद्रा क्या होती है हम भूल गये हैं और अपनी अतृप्त आकांक्षाओं के कारण रात भर स्वप्न देखते रहते हैं। मनोविज्ञान ने हमारे सामने स्वप्नों के सांकेतिक महत्व को स्पष्ट कर के रख दिया है। यहाँ तक कि उनकी भाषा के समझने के लिये कुंजी भी बनाई है। अतः क्या आश्चर्य है कि अज्ञेय और इलाचन्द्र जैसे आधुनिक कलाकारों के साहित्य में स्वप्नों की चर्चा में अभिवृद्धि हुई हो। इस तरह हम ज्यों-ज्यों गहराई से विचार करेंगे तो पता चलेगा कि हमारे कथा साहित्य में परिवर्तन का क्रम एक निश्चित नियम के अनुसार हो रहा है और वह नियम मनोविज्ञान का है। मनोविज्ञान अन्तिम विश्लेषण में जीवन शब्द का पर्यायवाची हो जाता है क्योंकि जिसे हम जीवन कहते वह अधिकांश रूप में हमारे मनोजगत की सूक्ष्मता की ही वस्तु है। अतः मनोविज्ञान हमारे साहित्य की सबसे अधिक जीवन्त और जागरूक भाग कथा साहित्य को प्रभावित करे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य इतना पर है कि नये मनोवैज्ञानिक रूप ने हमारे सारे [illegible] क्षेत्र को [illegible] है। दुःख तो यह है कि विज्ञान ने भी अधिक रु० (रुपये) लगाने वाले केन्द्र [illegible] ने हिन्दी में एक भी उपन्यास या कहानी की रचना नहीं की है। कहानियाँ तो एक आध मिल भी जाती हैं पर उपन्यास तो शायद एक भी न हो।

'नाग फाँस' नामक कहानी में आधुनिक मनोविज्ञान का स्पष्ट प्रभाव

उदाहरण के लिये हिन्दी के तरुण कहानीकार विष्णु प्रभाकर की "नाग फाँस" नामक कहानी को लीजिये। [illegible] माँ है, बूढ़ी, पगली, अर्द्ध विक्षिप्त सी। उसका एक पुत्र कहीं भाग गया है, दूसरा पुत्र युद्ध में कोई कमीशन पाकर युद्ध के मोर्चे पर चला गया। इसी तरह उसके सात पुत्र उसको छोड़ कर चले गये। एक ही पुत्र रह गया है। कालेज में पढ़ता है। मलेरिया से वह आज महीनों से पीड़ित है- अच्छी से अच्छी

उन्हीं कथाकारों को इस निबन्ध में स्थान मिल सका है जिनमें मनोवैज्ञानिकता की धारा दृढ़ और स्पष्ट है।

पाद टिप्पणियाँ

१. $E = MC^2$ i. e. Energy = (Masss × velocity of light)²
अर्थात् E (शक्ति) M (पिण्ड) से गुणित प्रकाश वेग के वर्ग के बराबर है
प्रकाश वर्ग वेग = ३ × १०¹⁰ सेंटीमीटर अर्थात् १८६००० मील प्रति सेकेण्ड।

२. बायरन की एक पुस्तक डान जुआन से उद्धृत।

३. Studies in Hysteria By Breur and Freud. 1895 114

3. .... I myself am struck by the fact that the case histories which I am writing read like novels, and as it were, dispense with the serious features of the scientific character. Yet I must console myself with the fact that the nature of the subject is apparently more responsible for this issue than my own predilections. Focal diagnosis and electrical reactions are really not important in the study of hysteria, where as a detailed discussion of the psychic processes, as one is wont to hear it from the poet, and the application of a few psychological formulate, allows one to get an insight into the course of the events of hysteria.

(Breur and Freud, 1895, p. 144.

४. Psychology of women Vol I By Helene Deutsch chapt. 10)

'The influence of Environment P. 282-296 जहाँ Alexandra Kollontay के The ways of नामक उपन्यास के पात्रों के सहारे साइकोएनेलिसिस के सिद्धान्तों को समझाया गया है। इस पुस्तक में टालस्टाय और गोर्की के पात्रों की भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है।

५. 'दो चिड़ियाँ' नामक कहानी संग्रह की भूमिका

६. मानसरोवर प्रथम भाग की भूमिका पृ० ८ पाँचवा संस्करण १९४९

७. विवेचना पृ० ११९ से १२६ द्वितीय संस्करण

८. भारतेन्दु युग में भी साहित्यिक स्वप्नों की चर्चा हुई है पर वे स्वप्न मनोवैज्ञानिक न होकर सामाजिक हैं और समाज सुधार की दृष्टि से लिखे गये हैं।

What is more remarkable about the twentieth century, and what marks it off from the previous centuries is the intense aware-

ness it has of its own processes and its innumerable attempts to describe what is happening while it is still happening.

९. Assessment of Twentieth Century Literature by J. Isaacs P. 15 1951

१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास ले० आ० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सातवाँ संस्करण सं० २००८ पृ० ४४६ ।

प्रथम परिच्छेद

विषय प्रवेश

निबन्ध का उद्देश्य

प्रेमचन्द जी तथा उनके परवर्ती उपन्यासकारों की रचनाओं में मनुष्य के मनोविज्ञान को किस रूप में उपलब्ध किया गया है, मानसिक वक्रताओं और जटिलताओं को कहाँ तक और किस रूप में सन्निविष्ट करने का प्रयत्न हुआ है, आधुनिक युग के मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों ने उनके उपन्यास साहित्य को कहाँ तक प्रभावित किया है इत्यादि बातों का अध्ययन करना हमारा उद्देश्य है, साथ ही यह देखने का भी यहाँ प्रयास किया गया है कि मनोविज्ञान के उत्तरोत्तर वर्द्धमान प्रभाव के कारण उपन्यास की रचना पद्धति में, कथा कहने के ढंग में, वर्ण्य-विषय के निर्वाचन में, भाषा के प्रयोग में, कथोपकथन के प्रकार में, कथा की अवधि में किस प्रकार के परिवर्तन उपस्थित होते गये हैं। इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि इस निबन्ध का उद्देश्य (१) हिन्दी उपन्यास साहित्य के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्तुत करना नहीं है, (२) किसी विशेष उपन्यासकार तथा कुछ उपन्यासकारों की कला का सांगोपांग अध्ययन करना भी नहीं और न आधुनिक हिन्दी उपन्यासों का एक व्यापक चित्र ही उपस्थित करना है, (३) आधुनिक उपन्यासों पर एक परिचयात्मक विवरण देने का भी यहाँ प्रयत्न नहीं किया गया है, (४) हिन्दी के आधुनिक उपन्यास साहित्य की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियों का अध्ययन करना हमारा ध्येय नहीं (५) अनेक राजनैतिक, सामाजिक, और आर्थिक आन्दोलनों को हिन्दी उपन्यासों ने कहाँ तक समाहित किया और उनके समावेश ने हिन्दी उपन्यासों में कौन-कौन सी प्रवृत्तियों को जन्म दिया यह हमारे अध्ययन का विषय नहीं है। इनकी चर्चा यत्र तत्र आ गई है तो इतने भर के लिये कि अन्ततोगत्वा इन सबों का आधार भी मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क है और इन सब बाह्य क्रिया-कलापों तथा व्यापारों के माध्यम से मानवता अपने को ही अभिव्यक्त कर रही है।

वास्तविकता तो यह है कि सृजनात्मक साहित्य (उपन्यास जिसका एक रूप है) की रूपयोजना का निर्माण लेखक के अन्तस्तल में होता है और वह तत्स्थानीय नियमों के द्वारा परिचालित होता है, वह आत्मा का क्षेत्र है, वहाँ की प्रदीप्त दीपशिखा निष्कम्प और निर्धूम रूप में जलती रहती है। समाज में उथलपुथल मचा देने वाली आंधियाँ और झंझावातों के प्रभाव-क्षेत्र से वह दूरस्थ है। बाह्य महत्वपूर्ण और डीलडौल वाली

मनोविज्ञान की स्पष्ट झलक हो। प्रेमचन्द जी के आगमन के पूर्व तक हिन्दी उपन्यास साहित्य की यही अवस्था रही। खत्रीजी के उपन्यासों में हृदय की भावनाओं तथा मानसिक प्रतिक्रियाओं पर विशेष बल नहीं दिया गया है, उनमें आश्चर्यजनक बाह्य घटनाओं का जमघट खड़ा किया गया है। वे औपन्यासिक बाजीगर हैं जिनके पात्रों के हैरत-अंगेज कारनामे हमें अपने में इस तरह तल्लीन कर लेते हैं कि उनके मूल में जाकर देखने का मन रह ही नहीं जाता। पाठक की कौतूहल-वृत्ति पाठक की शक्ति के अधिकाश को निश्शेष कर देती है कि आगे बढ़कर और कुछ देखने सुनने की हिम्मत उसमें रह ही नहीं जाती। यदि उनके उपन्यासों मे मनोवैज्ञानिकता का पुट आया है तो केवल इसी रूप में कि उन्होंने कभी-कभी अपने पात्रों के क्रिया-कलापों के कारण बतलाये हैं। विशेषतः उस समय जब कि वे क्रिया-कलाप परिस्थिति के अनुकूल न हों। एक मित्र अपने मित्र से या प्रेमी अपनी प्रेमिका से सद्भाव पूर्ण व्यवहार करता है, उसकी ग्लानि में उठता बैठता है तो यह स्वाभाविक ही है। इसमें कोई भी खटकने वाली बात नहीं। परन्तु हम शत्रु के प्रति अनुराग प्रदर्शन करने लगें अथवा जिस व्यक्ति के हृदयस्थ विरोधी भावों का पता हमें दूसरे अकाट्य प्रमाणों द्वारा चल चुका है अपने उस शत्रु के प्रति सहृदय हो उठें तो इस असाधारण तथा अस्वाभाविक व्यवहार के लिये यथोचित व्याख्या की माँग अवश्यंभावी है और जब तक इस माँग की पूर्ति नहीं होती पाठक के हृदय को प्रबोध नहीं। ऐसे अवसर पर खत्री जी आगे आकर कथा की बागडोर सम्भाल लेते हैं और अपने पात्रों के अटपटे तथा असंगत व्यवहारों के कारण बतलाते हैं। इसी रूप में उनके उपन्यासों में यत्किञ्चित् मनोवैज्ञानिकता का समावेश पाया जाता है अन्यथा उनके सारे उपन्यास बहिर्मुखी हैं, उनकी घटनाओं के आकर्षण में पड़ कर हम मानव मन को भूल सा ही जाते हैं।

उपन्यास की परिभाषा

हमारी सभ्यता के लिये उपन्यास को वही स्थान प्राप्त है जो प्राचीन युग में लोक कलाओं, फोक आर्ट को था। उस युग में तत्कालीन सम्पूर्ण मानव की अभिव्यक्ति का प्रयत्न नृत्य, गीत, अभिनय, चित्र, मूर्ति, इत्यादि कलाओं के द्वारा होता था। आज हम सिनेमा और टेलीविजन तक पहुँच गये हैं और जीवन के परिवर्तन के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति के साधनों में परिवर्तन होता जा रहा है, नये साधनों के आविष्कार और पुराने साधनों के परिष्कार में मानव जाति सलग्न है। मानवता के ऐतिहासिक विकासक्रम में नयी-नयी कलाओं का विकास होता गया है उदाहरण के लिये सिनेमा, टेलिविजन। पर ऐसा कभी नहीं हो सका है और न भविष्य में होने की सम्भावना ही है कि किसी भी कला का मनुष्य ने सर्वथा परित्याग कर दिया हो, एक बार की आविष्कृत कला सदा के लिये मर गई हो कारण यह है कि सारी प्रकृति में ही जड़ से चैतन्य की ओर विकसित

(reality) के इस पहलू को, मानव के आन्तरिक जीवन को शब्दशः प्रतिमान कर देती है जो अन्य कलाओं के लिये असाध्य है। मानव जीवन के प्रत्येक रूप को समूर्त उपस्थित कर देने का साधन ही एक ऐसी रेखा है जो उपन्यास को अन्य साहित्यिक रूप विधानों से पृथक कर देता है और उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करती है।

उपन्यास की कोई सुनिश्चित परिभाषा देना कठिन है, प्रायः यह अंग्रेजी के नावेल शब्द का पर्यायवाची शब्द समझा जाता है, पर नावेल शब्द का प्रयोग अंग्रेजी में जान आस्टिन के अहङ्कार और पूर्वग्रह (Pride & Prejudice) जैसी सुसंगठित कथाओं के लिये भी किया जाता है तथा दूसरी ओर जेम्स ज्वायस के युलिसिस एवं मार्शल प्रूस्ट के अतीत की स्मृतियाँ ला रेशर्श द तां पेर्दू (A La Recherche de tempo Perdu) के लिये भी जिनमें कथा का कोई भी व्यवस्थित रूप नहीं। खत्री जी की 'चन्द्रकान्ता' और उसकी सन्तति, प्रेमचन्द जी के "सेवा सदन" तथा अज्ञेय के 'शेखर-एक जीवनी' तथा "नदी के द्वीप" के लिये हम एक ही शब्द उपन्यास का प्रयोग करते हैं। जो हो, पर जिस व्यक्ति ने उपन्यास शब्द का प्रयोग नावेल के पर्यायवाची के रूप में किया होगा वह अवश्य ही साहित्यतत्त्व तथा उसके नूतन रूप-विधान-तत्त्व का मर्मज्ञ होगा। उप = निकट, समीप, न्यास = रखना, स्थापित करना अर्थात् उपन्यास शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि लेखक इसके द्वारा निकट का, मन की कोई बात कहना चाहता है। इसमें मन ही प्रधान है, बात या घटना गौण। घटना कुछ भी हो पर वह मन पर प्रकाश डाले, वह मन के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए है, चाहे लेखक या पात्र का। एक आदर्श उपन्यास के लिए घटनाओं, व्यापार-शृङ्खलाओं और मानव मन में पारस्परिक सम्वर्द्धनशील आदान प्रदान आवश्यक है। अंग्रेजी के एक वाक्य द्वारा इसी मन्तव्य को इस तरह प्रगट कर सकते हैं सोल शुड बी डिस्क्लोज्ड बाई दी एक्शन आफ दी स्टोरी एण्ड एक्शन शुड बी डिटरमाण्ड बाई दी सोल आफ कैरेक्टर्स अर्थात् पात्र के आन्तरिक आत्म स्वरूप का ज्ञान कथा में वर्णित क्रिया-कलापों द्वारा प्राप्त हो और क्रिया कलापों का उद्भव पात्र की आन्तरिक मनोभूमि पर हो।

उपन्यासों की व्याख्या

इस दृष्टि से उपन्यासों का अध्ययन मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक भी होगा। उपन्यासों को घटना प्रधान या चरित्र प्रधान, आदर्शवादी या यथार्थवादी तथा प्रचलित आलोचना के कुछ शब्दों के सहारे कह सुन भर देने से ही उनके साथ पूर्ण-रूपेण न्याय नहीं हो सकेगा। हमें उपन्यास के पात्रों के व्यवहार को समझने के लिए उपन्यास में वर्णित संसार का ध्यान तो रखना ही होगा और उसके आधार पर ही अपना निर्णय देना होगा मान कि [illegible] की अपनी स्वतंत्र एक दुनिया होती है

वाले विशाल विश्व का आविष्कार कर रहा है जिसे हम आज की मनोविज्ञान की शब्दावली में अचेतन (unconscious) कहते हैं। इस अचेतन संसार की गति बड़ी निराली है। उस पर हमारा नियन्त्रण नहीं है पर हमारे जीवन का सूत्र वहां पर है और हम अधिकांशतः वहां से संचालित हो रहे हैं। यदि उस अचेतन-स्तर की सारी प्रेरक प्रवृत्तियों का हमें ज्ञान हो तो हमारी जीवनानुभूति में अभिवृद्धि होगी, हम अधिक ग्रहणशील बनेंगे और हम उपन्यास के पात्रों के जीवन व्यापार को अधिक सूक्ष्मता से हृदयंगम कर सकेंगे। भले ही उपन्यासकार से हमें पूरी सहायता न मिलती हो। उदाहरण के लिये आधुनिक कथा साहित्य में साधिकार प्रवेश करने वाली और अपनी अभिव्यक्ति की जोरदार मांग उपस्थित करने वाली इन प्रवृत्तियों को लीजिये। यौन सम्बन्धी वर्णन-विश्लेषण-विषयक स्वच्छन्दता और साहस, नायिकाओं के गर्भ स्थापन विधि का उल्लेख, किसी भारी संकटापन्न स्थिति में, मृत्युमुख-सम्मुख अवस्था में प्रणय और आत्म समर्पण की व्याकुलता, भाई बहिनों के सम्बन्ध के वर्णन को अवांछनीय सीमा तक पहुँचाने वाली स्वच्छन्दता, पुत्र द्वारा माता पिता के प्रणय क्रीड़ावलोकन, शैशवावस्था की अधिक महत्ता, विवाहिता (परकीया, कुमारी नहीं) से प्रेम करने की प्रवृत्ति, विकृत मानस व्यक्ति, शराबी, द्यूत व्यसनी और अपराधी मनोवृत्ति के पात्रों की अधिकाधिक अवतारणा करने की प्रवृत्ति, ये सब बातें ऐसी हैं जिनका पूरा रसास्वाद तब तक नहीं आ सकता जब तक कि हमें फ्रायडियन मनोविज्ञान का पूरा परिचय न हो।

ऐसी परिस्थिति में मानव मन की क्या अवस्था होती है और वह क्यों विशिष्ट रूप में आचरण करने के लिये बाध्य है, विवश है, उस पर कौन सी ऐसी बाध्यता है कि वह कुमारी से प्रेम न कर विवाहिता के प्रति ही प्रणयोन्मुख हो सकता है। ये सब बातें फ्रायड के द्वारा बतलाई इडिपस ग्रन्थि के द्वारा अधिक स्पष्ट हो सकेंगी और हम उपन्यास का रसास्वादन अधिक सुचारु रूप से कर सकेंगे। किसी कवि की कविता का रसास्वादन हम अपने को काव्य जगत की सीमा में रख कर भी कर सकते हैं पर कवि के जीवन की घटनाओं की सहायता यदि प्राप्त हो सके तो रहस्योद्घाटन की कुंजी ही मानो हाथ आ जाती है। कबीर की अक्खड़ता, सूर तुलसी की विनयशीलता और केशव की रसिकता से कौन परिचित नहीं। पर कौन ऐसा व्यक्ति है जो उनके जीवन की परिस्थितियों और घटनाओं के आलोक में इन बातों को देख कर अधिक गहरे संतोष का अनुभव नहीं करता। उसी तरह आधुनिक मनोविज्ञान का परिचय तथा उसके आलोक में उपन्यासों की आलोचना निस्सदेह हमारे अध्ययन विधि को अग्रसर करेगी।

आंग्ल साहित्य में उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की परम्परा

आंग्ल साहित्य में इस तरह के अध्ययन की परम्परा सी ही स्थापित हो गई है। स्वयं फ्रायड ने तथा उसके प्रशंसक अर्नेस्ट जोन्स Earnest Jones ने कथात्मक

साहित्य के पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इस तरह के विश्लेषणों में डॉ० जोन्स (Jones) द्वारा उपस्थित किया गया [illegible] कथा प्रसिद्ध है। हैमलेट के पिता के निधन [illegible] चाचा से विवाह कर लेती है। [illegible] होकर माँ और चाचा के [illegible] द्वारा उसकी हत्या की गई है। प्रारम्भ में, [illegible] विश्वास करने के लिये भी तैयार नहीं [illegible] हो। द्वितीयतः, हत्या की बात की [illegible] और [illegible] पर हो जाने पर भी वह अपने पितृ-हन्ता चाचा से बदला लेने में [illegible] का प्रदर्शन करता है। कितने अवसर आते हैं जब कि सुविधा पूर्वक चाचा की हत्या की जा सकती थी पर वह ऐसे अवसरों से लाभ नहीं उठाता। कहीं न कहीं [illegible] इस मार्ग में बाधा के रूप में आ खड़ा होता है। वह मानो अपने पिता की हत्या से मन ही मन सन्तुष्ट है। इस विचित्र विरोधाभास का क्या कारण? हैमलेट के हृदय में प्रतिहिंसा की भयंकर ज्वाला धधक रही है पर उसकी लपटें पितृव्य को छू कर ही लौट आती है। उसे भस्मीभूत नहीं कर देती जो वे सहज ही कर सकती थी। इस प्रश्न पर न तो हैम-लेट के द्वारा ही प्रकाश पड़ता है और न शेक्सपियर ने ही कुछ कहा है। डॉ० जोन्स के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से इस प्रश्न के अनुसन्धान में सहायता अवश्य मिलती है। उनका कथन है कि अपने संकल्प विकल्प, प्रतिहिंसा [illegible] वाली मानसिक स्थिति के प्रति हैमलेट के शैथिल्य का यह कारण है कि अपने मानस की गहराई की [illegible] प्रवृत्तियों से वह स्वयं अपरिचित है। मनुष्य स्वयं अपने को नहीं जानता। दूसरी ओर शेक्सपियर भी मौन है कारण कि वह भी इस प्रश्न के मनोवैज्ञानिक पहलू से अनभिज्ञ है। शेक्सपियर के व्यक्तित्व के अज्ञात और [illegible] कोने में निवास करने वाली प्रतिभा के द्वारा गम्भीर मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रतिबिम्बित करने वाली घटना की सृष्टि हो गई पर उसे स्वयं इसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं। हैमलेट प्रतिहिंसा के लिये व्यग्र अवश्य मालूम पड़ता है, अपनी असमर्थता को कोसता है, कभी-कभी भूत की बातों में अविश्वास प्रकट करता है, कभी प्रतिशोध का अवसर पा जाने पर भी [illegible] उप-युक्त अवसर के लिये कार्य को स्थगित कर देता है। पर ये सब [illegible] हैं। डॉ० जोन्स की व्याख्या है कि हैमलेट बाह्य रूप में अपने चाचा की हत्या के लिये व्यग्र भले ही दृष्टिगोचर हो पर ऐसे गम्भीर मनोवैज्ञानिक कारण हैं कि वह अपने चाचा की हत्या कर नहीं सकता। उसके चेतन मन की प्रतिहिंसा-परायणता और आकुलता के नीचे लाचारी है जो कार्य-सिद्धि में बाधक होती है और [illegible] के लिये [illegible] को थाम लेती है। वह एक वयः-प्राप्त शिशु है। स्वाभाविक विकास क्रम के अनुसार प्रत्ये

इडिपस परिस्थिति से आगे बढ़ जाना चाहिए था पर वह पूर्णरूपेण इस अवस्था से मुक्त नहीं हो सका है। जिस तरह शिशु हृदय में अपनी माँ के प्रेम के प्रतिद्वन्द्वी पिता के प्रति द्वेषमूलक भाव रहते हैं और वह उसे अपने मार्ग से हटा देने की कामना किया करता है उसी तरह हैमलेट का अचेतन मन अपने पिता की हत्या पर प्रसन्न ही है, वह इस हत्याकाण्ड में अपनी सफलता का बीज देखता है और इस विषय में सहायक अपने चाचा के विरुद्ध उसका हाथ झट से नहीं उठता।

अतः डा० जोन्स की स्थापनायें ये हैं (१) हैमलेट अपनी माँ को प्यार करता था और पिता के प्रति द्वेष के भाव उसके हृदय में वर्तमान थे। पर ये भाव सामाजिक दृष्टि से उसने ही निन्दनीय थे। अतः दमित होकर अचेतन मन की गुप्त कन्दरा में चले गये और अति क्षतिपूरण (over compensation) की प्रक्रिया द्वारा निष्कासित होकर पिता के प्रति आदर्श प्रेम और गर्व के रूप में परिणत हो गये। (२) हैमलेट अपने चाचा की हत्या करने में असमर्थ इसलिये है कि उसके पिता की हत्या करके चाचा ने वही किया है जो वह स्वयं करना चाहता था और (३) कि वह चाचा अब पितृ प्रतिनिधि (father surrogate) बन गया था, उसने पिता का रूप ले लिया था। अतः हैमलेट की सारी नैतिक भावनायें इस प्रतिनिधि पितृत्व के नाश का विरोध कर रही थीं।

एक कहानी की व्याख्या

यदि इस दृष्टि से हम हैमलेट, ओथेलो या किंगलियर का अध्ययन करें तो हम पात्रों के मनोविज्ञान का अधिक सुचारु परिचय प्राप्त कर सकते हैं। ऊपर हैमलेट के सङ्कल्प विकल्प के मनोवैज्ञानिक पहलू पर डा० जोन्स के विचारों का उल्लेख किया गया है। पर हैमलेट एक नाटक-ग्रन्थ है और नाटकों से हमारा विशेष सम्बन्ध नहीं। हमारे अध्ययन का आधार उपन्यास और कहानी है अतः कथा साहित्य का उदाहरण लेना अच्छा होगा। स्वयं फ्रायड ने स्टीफन ज़्विग (Stefan Zweig) की एक कहानी एक नारी के जीवन के चौबीस घंटे (Four and twenty hours in a woman's life) की व्याख्या अपने मनोविश्लेषण की दृष्टि से की है।[१०] कथा का सारांश यह है। एक सम्भ्रान्त महिला छोटी उम्र में ही विधवा हो जाती है। वह अपने दो पुत्रों को बड़े यत्न से पालती है, उनका लालन पालन करती है। बच्चे बड़े हो जाने के पश्चात् अपने जीविकोपार्जन में संलग्न हो माँ से पृथक हो जाते हैं। उन्हें अब माता की सहायता की आवश्यकता नहीं रह जाती। अब वह महिला ४२ वर्ष की अवस्था में देश पर्यटन के लिये निकलती है और मोन्टीकार्लो में कसूम नामक स्थान पर विश्राम के लिये ठहरती है। वहाँ एक नवयुवक को देखती है। उसकी हथेलियों के सौन्दर्य तथा उसके द्यूत-क्रीड़ा-कौशल पर मुग्ध हो उसकी सामीप्य कामना की भावना से आन्दोलित हो

कि वह अपना सर्वनाश (Suicide) कर रहा है ये सब बातें इस कहानी में वर्णित प्रतिनिहित क्रिया में वर्तमान हैं। इस कहानी में मां एक स्वैरिणी नारी का रूप धारण कर लेती है। यह भी किशोरावस्था का चित्रण मात्र है जिसमें मां एक दूसरे व्यक्ति पिता से सम्बद्ध रूप में ही देखा जाता है। मां इस कहानी में पुत्र की अंकशायिनी के रूप में चित्रित है। उसने अपने पति की याद में अपने को अन्य प्रणय प्रार्थनाओं के लिये अप्रवेश्य, अभेद्य भले ही बना लिया हो पर मां की छिपी आकांक्षा जिसमें वह अपने पुत्र को प्यार करती है इस उचित और अभीष्ट साधक अवसर को पाकर अपने प्रभाव को दिखलाये बिना न रह सकी।

इसी तरह फ्रायड ने ल्यू नार्डो विन्ची नामक प्रसिद्ध इटेलियन चित्रकार की बाल्यकालीन स्मृति की मनोवैज्ञानिक मनोविश्लेषणिक व्याख्या की है और उसके जीवन की कुछ विशिष्टताओं के मनोवैज्ञानिक कारण स्पष्ट किये हैं * उदाहरणार्थ, उसने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि ल्यू नार्डो विन्ची किन लाचारों के कारण अपने प्रारम्भ किये गये कार्यों को पूरा नहीं करता था, और उन्हें अधूरा ही छोड़ अन्य किसी काम में संलग्न क्यों हो जाता था।

हिन्दी के कुछ उपन्यासों के पात्रों की, जीवन घटनाओं की मनोविश्लेषणिक व्याख्या का प्रयत्न इस निबन्ध में किया गया है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यास 'सितारों के खेल' की नायिका लता चेतनलाल की प्रेम-प्रार्थनाओं और प्रणय-याचनाओं को सदा ठुकराती रही है। पर जब वह वातायन से गिर कर अंग-भंग कर लेता है तो उसे बचाने के लिये लता अपने प्राणों की बाजी लगा देती है। वह बच भी जाता है, पर उसका जीवन मृत्यु से भी बदतर होता है उसकी सूरत बिगड़ गई है, टांगें और भुजायें बेकार हो गई हैं, दांत टूट गये हैं, मस्तिष्क पर इतनी चोट पहुँची है कि वह किसी को पहिचानता नहीं। चेतनलाल सदा आँखें बंद किया रहता था। आकाश में ताका करता, पर अब लता के हृदय में इस जीवन्मृत मांस के लोथड़े के लिये प्रेम की भावना जाग पड़ती है और वह उसके लिये क्या नहीं करती जो प्रेमिका अपने मनोनुकूल और मनचाहे प्रेमी के लिये नहीं कर सकती है। "किमतः आश्चर्यमपरम्" पर पाठक को इतना ही मानसिक आघात सहना नहीं पड़ता। लता देवी को विष

*It seems that it had been destined before that I should occupy myself so thoroughly with the Vulture for it comes to my mind as an early memory. When I was still in a cradle a vulture came down to me, he opened my mouth with his tail and struck me a few times with his tail against my lips"
(Cited by Scognamiglio from Codex Atlanticus p. 65)
Leonardo Vinci p. 34.

भल ही नहीं होती हो, उसका आन्तरिक स्वार्थ तो सिद्ध होता ही है, वह अपनी दृष्टि में तो ऊँचा उठता ही है, उसको एक आत्म-निष्ठ तृप्ति प्राप्त होती ही है। जिन उपन्यासों में इस तरह की जटिल मानस प्रक्रिया की अवतारणा की गई हो, आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में रैशनेलाइजेशन (Rationalisation) का प्रयत्न दीख पड़े उसे हम मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहेंगे। अगले परिच्छेद में अज्ञेय के नवीनतम उपन्यास 'नदी के द्वीप' की मनोवैज्ञानिकता का उल्लेख किंचित विस्तार के साथ किया गया है। इस उपन्यास को रेखा और भुवन की प्रणयानुभूति का उपन्यास कह सकते हैं। दोनों का प्रेम अपनी चरमावस्था पर पहुँचा हुआ है। पर जब किसी आन्तरिक प्रेरणा के कारण भुवन गौरा के प्रति अनुरक्त होता सा दीखता है तो रेखा डा० रमेशचन्द्र से विवाह कर लेती है, कारण उनमें यथेष्ट उदारता है। "(रमेश) ने एक गहरी संवेदना मुझे दी है। जिससे मेरी गाँठ और रुद्ध कपाट मानों द्रव्य होकर बह गई, वह भी तुम्हारी तरह गुनी और कार्य व्यस्त जीव है, तुम्हारी तरह कम बोलते हैं। पर जिससे भी मिलते हैं उस पर उनका गहरा असर पड़ता है। थकी झुकी अवसन्न चेतना को जैसे उनका संवेदना तुरन्त सहारा देकर सीधा कर देती है[1] इत्यादि।"

उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता का समावेश एक और प्रकार से हो सकता है। एक पात्र को भिन्न-भिन्न लोगों के साथ एक ही प्रकार का व्यवहार करते दिखा कर भी उसके मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म भेद की ओर ध्यान दिलाया जाय। सेठ गोविन्द दास जी के 'इन्दुमती' नामक बृहदकाय उपन्यास की प्रधान नायिका इन्दुमती ललित को भी प्यार करती है, निर्मोही को भी, बशीर अली को भी, और वीरभद्र देव को भी। पर उस बाह्य साम्य के भीतर क्रियाशील होने वाली मानसिक प्रवृत्तियों में क्या अन्तर है वह आगे चलकर स्पष्ट हो जाती है। पाठक देख लेता है कि इन सब क्रियाओं का सांकेतिक स्वरूप, मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अलग अलग है। १९३५ में ब्रिटिश मंत्रीमण्डल के द्वारा दिये गये श्वेत पत्र (White Paper) को भारतवर्ष के सब राजनैतिक दलों ने अस्वीकृत कर दिया था। पर इस अस्वीकृति के मूल भूत मानसिक कारण अलग-अलग थे जिन्हें जाने बिना अस्वीकृति के वास्तविक राजनैतिक स्तर का ज्ञान नहीं हो सकता। ठीक इसी तरह एक से लगने वाले कार्य की मूल-भूत विभिन्नता और विभिन्न से लगने वाले कार्यों का मौलिक एकता को दिखलाना मनोवैज्ञानिक उपन्यास का ध्येय होगा। 'इन्दुमती' अनेक रूपों में प्रकट होती है जो प्रायः परस्पर विरोधी से लगते हैं। विवाह संस्था में अटल विश्वास करने वाली इन्दु ललितकुमार से शादी करती है। सुख और सुविधा में लालित पालित इन्दु जीवन की कठिन से कठिन यातनाओं में भी अपने को डालने से नहीं हिचकती पर इन सब अकाण्ड ताण्डवों के मूल में उसके पिता अवध-बिहारी के द्वारा उसके मानस पर लौह लेखनी से लिखा उपदेश है "कि

(master spirit) से भव भिन्न न होकर एक क्षण वीर और दूसरे ही क्षण कायर की तरह आचरण करने वाले व्यक्ति इन सब विषयों की अवतारणा से औपन्यासिक को अधिक मनोवैज्ञानिक जटिलताओं और बारीकियों को दिखलाने का अवसर मिलता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास का टेकनीक

उपन्यास के क्षेत्र में मनोविज्ञान के प्रवेश के आग्रह के साथ ही उसके बाह्य कलेवर, अभिव्यक्ति के रंग ढंग में कुछ परिवर्तन आ जाना अनिवार्य ही है। ठीक उसी तरह जैसे भावों के परिवर्तन होने से तद्‌सूचक अनुभावों में सहज परिवर्तन हो जाते हैं। क्रोध और शोक के अनुभाव पृथक-पृथक होते हैं। साहित्य का साधारण विद्यार्थी भी वाह्यरूपाकार (form) और आन्तरिक विषय (content) के यौगपत्य और संलग्नता से अच्छी तरह परिचित है। वह जानता है कि आन्तरिक प्रेरणा अपनी अभिव्यक्ति भी साथ लिए आती है, वसन्त आता है अमराइयों को गदराता हुआ, कलियों को चटकाता हुआ, और कोकिल-कंठ में अमृत घोलता हुआ। मनोविज्ञान प्रवेश के बाह्य पद-चिन्ह भी उपन्यास की भूमि पर स्पष्टतया अङ्कित हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यास का ध्येय, जैसा ऊपर उल्लेख हो चुका है, मात्र अनुभूति का ही नहीं परन्तु अनुभूति के आत्म-निष्ठ तथा विषयीगत रूप का प्रदर्शन होता है। अतः इसमें (१) सुसङ्गठित कथा वस्तु के प्रति उदासीनता होती है, इसमें इस बात की इतनी परवाह नहीं होती कि कथा की कड़ियाँ इतनी बारीकी से मिलाई जायँ कि कहीं भी जोड़ मालूम न पड़े। इसमें घटनायें गौण होंगी, उपलक्षण मात्र होंगी। उनके सहारे पात्रों के आन्तरिक भावचक्र को खोलकर रखना ही उद्देश्य होगा। आंग्ल साहित्य में तो कथा की सुव्यवस्था (Orderly unfolding of plot) को छिन्न भिन्न करके देखने वाले औपन्यासिकों का एक सम्प्रदाय ही है। पर हिन्दी में भी इसकी प्रतिक्रिया जैनेन्द्र, अज्ञेय, शिवचन्द्र तथा अञ्चल जी के कुछ उपन्यासों में स्पष्ट दिख पड़ती है। (२) कथा भी कोई लम्बी चौड़ी दीर्घकालीन और महाकाव्य की तरह जीवन के वृहदंश को घेरने वाली न होगी। विस्तार से अधिक गहराई की ओर लेखक का ध्यान अधिक रहेगा। रूसी उपन्यासों में मनोविज्ञान की सूक्ष्मता विशेषतः मनोविकृत विज्ञान की सूक्ष्मता को आग्रह-पूर्वक समाविष्ट करने का श्रेय दास्तावेस्की को है। इसके उपन्यासों का निर्माण जीवन के एक लघु अंश को ही लेकर किया गया है। अपराध और दण्ड (Crime and Punishment) में केवल पाँच दिनों की कथा है। ब्रदर्स करमजोव (Brother Karemenazov) में सात दिनों की, दी इडियट में आठ दिनों की। प्रेमचन्द के परवर्ती मनोवैज्ञानिकता के पुट को लेकर चलने वाले उपन्यासों में इस कथाकुञ्चन की प्रवृत्ति स्पष्ट है। अज्ञेय का शेखर एक रात में देखे गये विजन (Vision) का प्रोत्क्षेपण है, 'नदी के द्वीप' में डेढ़ वर्ष की कथा है, पहाड़ी के 'सराय' में एक महीने की कथा है और 'निर्देशक' में तीन महीने

की। निकट भविष्य में इस प्रवृत्ति के विकास होने की आशा है। (३) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कम से कम पात्रों से ही काम चलाने की चेष्टा होती है। [illegible] से घटना प्रधान वर्णनात्मक उपन्यासों को भी सफलता पूर्वक निर्वाह करने में कठिनाई होती है। वे कथा शरीर से सम्यक् प्रकार से घुल मिल कर पूर्णविकसित [illegible] हो, तद्रूप होकर नहीं रहते अथवा नहीं तो आत्म हत्या, किसी रोग और आकस्मिक दुर्घटना या अन्य किसी उपाय द्वारा उन्हें उपन्यास की रंगभूमि से हटा दिया जाता है। प्रेमचन्द तथा उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों में यह बात पाई जाती है। पर जहाँ वर्णनात्मकता से अधिक मनोवैज्ञानिकता पर बल हो, जहाँ एक पात्र को अनेक स्थानों में ले जाकर अथवा अनेक को एक के मन में ले जाकर तत्सदृश परिस्थिति की आन्तरिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करना हो वहाँ पात्रों की संख्या कम करनी ही होगी। आज के उपन्यास में पात्र संख्या संकोच की प्रवृत्ति विशिष्ट है। सामान्यतः किसी भी उपन्यास में चार पांच से अधिक पात्र नहीं हैं। इटरनल हसबैंड (Eternal Husband) नामक उपन्यास में तो दो ही पात्र हैं। शेखर जीवनी, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी में भी पात्रों की संख्या तीन चार से अधिक नहीं है। (४) वार्तालाप की शुद्ध मनोविज्ञान के प्रदर्शन में अधिक सहायक होगा। प्रेमचन्द के पुराने उपन्यास प्रायः अधिकतर और भारी-भरकम घटनाओं से इस तरह लदे रहते थे कि सुन्दर और सरस वार्तालाप को पनपने का अवसर ही नहीं मिला करता था। आज यह परिस्थिति बदल गई है। उपन्यास का अधिकांश वार्तालाप से भरा रहता है। अब तो ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं जिनमें अथ से इति तक वार्तालाप के सिवाय कुछ और है ही नहीं। पत्रात्मक कहानी या उपन्यास इसी पद्धति के परिवर्तित रूप हैं। (५) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वर्णनात्मकता (narration) से अधिक नाटकीयता (dramatisation) की प्रवृत्ति होगी। अर्थात् घटनाओं का संयोजन कुछ इस ढंग से होगा कि वे स्वयं-स्फूर्त हों, स्वयं शक्तिमान हों, उनमें अपने स्वरूप को स्पष्ट करने की क्षमता हो, पदपद पर लेखक के साथ चलने की आवश्यकता न हो। लेखक के अस्तित्व का जहाँ तक कम भान हो वही अच्छा। अतः इस तरह के उपन्यासों में कुछ विशिष्ट उद्दीप्त और उदात्त क्षणों और घटनाओं को ही स्थान प्राप्त हो सकेगा। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों पर विचार करते समय नदी की लहरों पर बहते हुए एक कार्क के टुकड़े का चित्र हमारी कल्पना में जाग पड़ता है। घटनायें कार्क के टुकड़े हैं, पात्रों के चेतना-प्रवाह नदी की लहरें हैं जिनके वात्याचक्र पर डूबते उतराते ये हमारा मनोरंजन करते रहते हैं। कार्क तो छोटा सा नगण्य टुकड़ा मात्र है पर नदी की लहरों की उन्मत्तता का सहयोग पाकर स्वयं नदी की उन्मत्तता बन गया है। घटनायें छोटी भी भले हों हों पर मानव मन के उन्माद से समन्वित हैं। (६) मनोवैज्ञानिक उपन्यास के अध्ययन से पाठक में जो प्रतिक्रिया होगी

१२४६९

है अन्योपन्यासोत्पन्न प्रतिक्रिया से भिन्न होगी। वर्णनात्मक उपन्यास का पाठक श्रोता होगा, वह आश्चर्य चकित हो औपन्यासिक के मुख की ओर देखेगा अर्थात् उसका ध्यान उपन्यास की ओर न होकर उपन्यास से बाहर की ओर होगा। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पाठक की दृष्टि उपन्यास के पात्रों की ओर होगी, वह बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होगा, वह पात्रों के क्रिया कलाप से अधिक उनकी मूल प्रेरणा को देखेगा। उसका सम्बन्ध वक्ता और श्रोता का न होकर अभिनेता और दर्शक का होगा। दर्शक नाटककार की ओर न देखकर अभिनेता के अभिनय-कौशल और उसके सहारे मूल वृत्तियों को ही देखता है। वर्णनात्मक उपन्यास के पात्रों के साथ पाठक का संबन्ध बहुत कुछ वैसा ही रहता है जैसे इतिहास के पात्रों के साथ, नीरस, निर्जीव। हम उन्हें वैसे ही जानते हैं जैसे अकबर और अशोक को जानते हैं। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पात्रों की जानकारी में आत्मीयता की आद्रता रहती है, हम उन्हें इस तरह जानते हैं जैसे अपने साथी को, अपने स्वय को। (७) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के प्रणेता और उसके निर्मित पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध में भी विभिन्नता है। घटना प्रधान उपन्यास के लेखक और उसके पात्रों के सबध से यह भिन्न है। घटना प्रधान उपन्यास के पात्रों का स्रष्टा तटस्थ दर्शक है, वह पात्रों से अलग हट कर अपनी सर्व-व्यापिनी दृष्टि से पात्रों की गतिविधि का अवलोकन करता रहता है, और उनकी रिपोर्ट देता चलता है। दोनों में बन्धुत्व का भाव नहीं, वे दोनों 'पथ के साथी' हैं और 'बटाऊ की नाई' कभी भी एक दूसरे को छोड़कर चल दे सकते हैं। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास का निर्माता अपने पात्रों का घनिष्ट मित्र होता है। वह अपने मित्र के बारे में लिखता है, उसके कथन में जीवनानुभूति होती है। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक कथाकार को बार-बार अपनी ओर से कहने सुनने की, उपदेश देने की, नीति परायणता के नारे बुलंद करने की आवश्यकता नहीं होती। वह जो कुछ कहता है स्वतः पूर्ण है, उसे किसी बाह्य सहायता की अपेक्षा नहीं होती। (८) ऊपर उल्लेख हो चुका है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास में सब्जेक्टिव आस्पेक्ट आफ एक्सपिरियन्स (Subjective aspect of experience) अर्थात् अनुभूति के आत्म-निष्ठ रूप की अभिव्यक्ति ही लक्ष्य रहता है। लेखक चाहता है कि जो भी कथा हो, जो भी घटनायें हों वे अपनी प्रधानता का त्याग कर पात्रों की मानसिकता, उसके मानस की प्रवहमानता को परिस्फुटित कर नजरों से ओझल हो जाय। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसी कथा की योजना हो जिसमें मनोनीत ध्येय की सेवा में ढल जाने की अधिक से अधिक क्षमता हो। कथा कथा के रूप में छोटी तो हो ही जाती है पर उसमें एक लोच आ जाती है कि पात्रों की जीवन-साँस से भर कर विशाल-काय रूप धारण कर सकती है मानो छोटी सी रबड़ की थैली हो और बच्चे की साँस से फुलाई जाकर बैलून बन गई हो, उसे मानसिक शक्ति से खींचकर बढ़ाया

जा सकता है तीन भागों में [illegible] खड़ी नहीं रहती पर जिसी [illegible] वह शैली किसी की तरह [illegible] अपने क्षेत्र में अधिक से अ[illegible] धारण करने पड़ते हैं। कभी आत्म [illegible] कभी चेतना प्रवाहात्मक ([illegible] सम्मिश्रण अर्थात् उपन्यास [illegible] को प्रदर्शित करने की क्षमता [illegible] प्राप्त करती रही है। मनुष्य के मनो[illegible] के साथ आंतरिक प्रेरणाओं का भी अध्ययन करना है।

निष्कर्ष—ऊपर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये जो [illegible] किया गया है उसका सारांश यह है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास में मनोविज्ञान [illegible] और [illegible] (Subjective aspect of experience) अर्थात् अनुभूति के आत्म-निष्ठ [illegible] पर अधिक जोर रहता है। उपन्यास में मनोविज्ञान की बातें कहीं तो अनायास स्वाभाविक रूप में आ जाती हैं, कहीं लेखक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को दृष्टि में रख कर अपने उपन्यास की रचना करता है। उपन्यास को पूर्णतया समझने के लिये आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से सहायता लेना आवश्यक है। सम्भव है एक सतर्क पाठक को आलोच्य पुस्तक में वे बातें मिल जायें जो लेखक के लिये भी अकल्पनीय हों। कुछ विषय मनोवैज्ञानिक होते हैं और कुछ पद्धतियाँ मनोवैज्ञानिक होती हैं। कुछ उपन्यासों के विषय मनोवैज्ञानिक होते हैं पर प्रतिपादन की पद्धति अमनोवैज्ञानिक। कुछ की पद्धति मनोवैज्ञानिक तो विषय अमनोवैज्ञानिक। कुछ में दोनों का अभाव, कुछ में दोनों का सन्निवेश। इस दृष्टि से हम हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। हिन्दी में आधुनिक उपन्यासों का इतिहास केवल ४०, ५० वर्षों की अवधि में सिमटा हुआ है। अतः प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, और यशपाल, इन्हीं पाँच प्रतिनिधि उपन्यासकारों की रचनाओं के आधार पर ही इस निबन्ध में अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। आधुनिक उपन्यासकारों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो वे उपन्यासकार जो प्रेमचन्द का ही अनुकरण करते हैं, विषय और उसके प्रतिपादन की शैली दोनों में ही। आज भी बहुत से उपन्यासकार प्रेमचन्द के ही पदचिन्हों पर चल रहे हैं। दूसरी श्रेणी में वे उपन्यासकार आते हैं जिनमें प्रेमचन्द के विरुद्ध प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है। जैनेन्द्र और अज्ञेय में विषयगत तथा शैलीगत दोनों तरह की प्रतिक्रियाएँ परिलक्षित होती हैं, इलाचन्द्र और यशपाल में शैली तो वही है पर विषय निर्वाचन में

अवश्य इन लोगों ने मौलिकता का परिचय दिया है। इस निबन्ध में निराला, कौशिक, प्रसाद इत्यादि के उपन्यासों की चर्चा नहीं की गई है कारण कि जिस अर्थ में यहाँ मनोविज्ञान को लिया गया है उस अर्थ में इनके उपन्यासों में कोई ऐसी विशेषतायें नहीं मिलती जो प्रेमचन्द में न पाई जाती हों। प्रसाद जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा ने उपन्यास की ओर जाकर ऐसे विषय को चुनने का प्रयत्न किया था जिसमें मनोवैज्ञानिकता लाई जा सकती थी। उदाहरणार्थ 'कंकाल' में जारज संतान की चर्चा है। पर ऐसा मालूम पड़ता है वे इस क्षेत्र में अधिक मौलिकता न दिखला सके। मेरे कथन का अर्थ उस समय स्पष्ट हो जायेगा जब यह कल्पना करें कि यह विषय यदि इलाचन्द्र जोशी के हाथ में पड़ता तो वह कौन सा दुनिया न खड़ी कर देते और उन्होंने किया भी है। अतः प्रेमचन्द जी के बाद इन लोगों को भी प्रतिनिधि मान लिया जाय। और आज तो नये से नये उपन्यासकार अपनी रचनाओं से हिन्दी उपन्यास क्षेत्र को हरा भरा करने में संलग्न हैं। [illegible], मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृत-लाल [illegible], [illegible], भगवतीप्रसाद वाजपेयी इत्यादि। पर आज भी इनमें प्रेमचन्द जी की आत्मा का [illegible] बोल ही रहा है। यह अवश्य है कि समय के प्रवाह के साथ इन उपन्यासों में नई-नई घटनायें आ गई हैं, नये-नये विषयों का समावेश हो गया, उदाहरणार्थ देश विभाजन, काला बाजारी, राजनैतिक क्षेत्र में नैतिक पतन इत्यादि। पर इनका आगमन तो अनिवार्य है, स्वाभाविक है। प्रेमचन्द के समय में ये समस्यायें नहीं थीं अतः उनके उपन्यासों में इनका समावेश नहीं हो पाया था। अतः इन विषयों के आ जाने मात्र से ही ये उपन्यास किसी विशिष्टता का दावा नहीं कर सकते। प्रश्न किसी विशिष्ट विषय के आधार पर उपन्यास लिखने का नहीं है। वास्तविक प्रश्न यह है कि इन विषयों को लेकर लेखक के द्वारा किस तरह के चित्र का निर्माण हो सका है, लेखक ने इन विषयों को कौन सी सार्थकता प्रदान की है। नैयायिकों ने घट निर्मिति के कारणों में कुम्भकार, कुलाल और निष्ठा की गणना की है। देश और काल की नहीं। हालां कि इन सब वस्तुओं का भी घट-निर्मिति में कुछ हाथ अवश्य है। अतः यहाँ पाँच प्रतिनिधि तथा किसी मनोवैज्ञानिक विशेषता के लिये प्रसिद्ध उपन्यासकारों की रचनाओं तक ही यह निबन्ध सीमित रखा गया है।

पाद टिप्पणियाँ

१. दास्तावेस्की ले० आंद्रा जीद, पाँचवा अध्याय, द्वितीय संस्करण पृ० १२६

२. रोम के पेट्रोनियस नामक लेखक ने पेट्रोनीई आरबिट्री सेट्रिकन (Petrnii Arbitri Satrycon) नामक रोमांस लिखा था। इसमें अनेक घटनाओं का वर्णन है। इस पुस्तक की सबसे प्रसिद्ध घटना वह है जिसमें एक व्यक्ति ट्रलमाचियो नामक नायक

द्वितीय अध्याय

आधुनिक मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदाय और उनके मुख्य मुख्य सिद्धांत

मनोविज्ञान किसे कहते हैं

मानव विश्व का [illegible] है। [illegible] पदार्थों की भावना और सम-
झना [illegible] इसका आधार [illegible] मानव। मानव
मानव के [illegible], [illegible] की [illegible] के प्रति क्रियाशील
होने के कारण मानव [illegible] सामाजिक प्राणी कहा है। मानव के भाव की
चिन्तनात्मक और [illegible] मनोविज्ञान का एक कारण और भी है कि इस
व्यापार के द्वारा [illegible] को समझने में भी सहायता मिलती है। इस प्रकार की
मानव के प्रति मानव की चिन्ता को, समझने समझाने, देखने बूझने के प्रयत्न को
मनोविज्ञान (Psychology) का अध्ययन कहते हैं। इसमें मानव व्यापार, उसके
क्रियाकलाप, उनके आचरण तथा प्रतिक्रियाओं का अध्ययन होता है।

मनोविज्ञान (Physiology) और शरीर विज्ञान (Psychology)

मानव व्यापार के परिशीलन का मनोविज्ञानातिरिक्त और भी ढङ्ग हैं जिनमें शरीर विज्ञान (Physiology) भी एक है। यह जीव कृत क्रियाओं का वर्णन करता है उन क्रियाओं की सिद्धि किस प्रकार होती है इसका विवरण उपस्थित करता है तथा यन्त्र के उन कल पुर्जों की चर्चा करता है जिनके सहारे मानव जीवन धारण करने में समर्थ होता है तथा जीवन धारणोपयोगी क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। परन्तु मानव की कर्मण्यता, उसके उद्यम और कार्य तत्परता के पीछे छिपी रहने वाली प्रेरक शक्तियों, मूल कारणों को अनुसंधान करना शरीर विज्ञान (Physiology)का ध्येय नहीं। इसका काम वर्णन कर देना भर है, मूल रूप में क्रियाशील रहने वाले प्रेरणा तन्तुओं को सुल-झाना नहीं। यह काम मनोविज्ञान का (Psychology) का है। अतः कहा जा सकता है कि शरीर विज्ञान यह बतलाता है कि किस प्राणी ने किस प्रकार अमुक व्यापार किया, उसके शारीरिक अनुभावों ने क्या रूप धारण किये, चेहरा तमतमा गया, भुजाएँ फड़कने लगीं ? पर मनोविज्ञान बतायेगा कि उसके इन शारीरिक अनुभावों के क्या कारण हैं, उसके मनोजगत में क्रोध नामक भाव का आधिपत्य ही मूल कारण है मनोविज्ञान का

क्षेत्र अधिक व्यापक है। शरीर विज्ञान शरीर के अवयवों की क्रियाओं का अध्ययन करता है उदाहरणार्थ श्वास प्रश्वास क्रिया का, रक्त संचार क्रिया का [illegible] तथा अन्य क्रियाओं का। परन्तु मनोविज्ञान [illegible] मानस को अपने अध्ययन का आधार बनाता है। एक का विषय शरीर और शारीरिक व्यापार है दूसरे का मानस और मानसिक व्यापार।

इतिहास

मानव मन का अध्ययन और विवेचन बहुत पहले से होता आया है। विकास के प्रवाह के साथ ही मानव में अपनी शक्तियों के [illegible] हुई होगी, इससे अपने सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों को समझने की प्रवृत्ति [illegible] होगी और इसके साथ मनोविज्ञान का अध्ययन किसी न किसी प्रकार प्रारम्भ हो गया होगा। भारतवर्ष में प्राचीनतम चिन्तन की व्यवस्थित झलक वेदों में मिलती है। उन्हीं में मनोविज्ञान के अध्ययन की अनेक सामग्रियाँ उपलब्ध होती हैं। उपनिषदों में, सांख्यदर्शन में, योग दर्शन में, न्याय दर्शन में तथा बौद्ध दर्शन की अनेक शाखाओं में मानव मन सम्बन्धी उपपत्तियाँ प्राप्त हैं। इनके अध्ययन के द्वारा मनोविज्ञान सम्बन्धी अनेक बातें उपलब्ध हो सकती हैं।

पश्चिम में यूनानियों ने मानव मन के अध्ययन का प्रारम्भ किया था। अरस्तू ने अपने ग्रंथों में युवा और वृद्धावस्था की भावनाओं का, जागृत तथा सुषुप्त तथा स्वप्नावस्थाओं का, नर और नारी के मनोविज्ञान का, स्मृति और प्रज्ञा की प्रक्रियाओं का तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों का वर्णन किया है। परन्तु तत्कालीन विचारक दार्शनिक थे। अतः इन्होंने मनोविज्ञान को दर्शन का अंग मानकर ही अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। दर्शनशास्त्र ही मुख्य है मनोविज्ञान तो वहीं तक आ सकी है जहाँ तक उनसे दर्शन के अध्ययन में सहायता मिल सकती है। मध्य युग तो एक तरह से विचारों के लिये अन्धकार का युग था, चिन्तन के क्षेत्र में इस समय कुछ भी प्रगति नहीं हो सकी।

आधुनिक युग में अनेक ऐतिहासिक कारणों से तथा विशेषतः डार्विन के उत्क्रान्ति (Evolution) के सिद्धान्तों के प्रचार और विज्ञान के नित्य नूतन आविष्कारों के द्वारा मानव के चिंतन प्रवाह में प्रगतिशीलता आई और जीवन तथा उसकी प्रक्रियाओं की ओर लोगों का ध्यान गया। मन और उसकी शक्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ, मन को भी अन्य पदार्थों की तरह एक पदार्थ मान लिया गया और कार्य कारण की शृङ्खला में आबद्ध कर प्रयोगशाला की पद्धति पर उसके स्वरूप का निर्णय होने लगा। इस तरह मन के स्वरूप की समस्या को लेकर अनेक मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय खड़े हो गये हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं है। उनके सूक्ष्म भेदों और प्रभेदों में

हमारा विशेष सम्बन्ध नहीं है। हम केवल उन्हीं सम्प्रदायों की चर्चा करेंगे जो १९०० अर्थात् बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थापित हो गये थे, लोगों के ध्यान को आकर्षित करने में सफल हो सके थे तथा जिनके द्वारा कला और साहित्य का क्षेत्र प्रभावित होने लगा था। इन सम्प्रदायों के नाम ये हैं मनोविश्लेषण सम्प्रदाय (Psycho-analysis), सम्पूर्णतावादी सम्प्रदाय (Gestalt), आचरणवादी सम्प्रदाय (Behaviourism)। इनके सिद्धान्तों की पृथक-पृथक चर्चा दी जा रही है। इन सिद्धान्तों में मनोविश्लेषण Psycho-analysis ने कथाकारों का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट किया है। हिन्दी कथाकारों का परिचय तो मनोविश्लेषण और फ्रायड तक ही सीमित है। अतः उसकी चर्चा सर्व प्रथम थोड़े विस्तार में दी जा रही है।

मनोविश्लेषण सम्प्रदाय

सिगमण्ड फ्रायड (१८५६-१९३९) का जन्म मोरेविया के एक गरीब यहूदी परिवार में हुआ था। वह बाल्यकाल से ही मेधावी और परिश्रमी था। उसने छात्रवृत्ति के सहारे अध्ययन करते हुए डाक्टरी विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त की और विशेषज्ञ डाक्टरों की प्रसिद्ध नगरी वियेना में स्नायविक रोगों के विशेषज्ञ चिकित्सक के रूप में उसने अपना व्यवसाय प्रारम्भ किया। पर व्यवसाय प्रारम्भ करने के पहिले भाग्यवशात् पेरिस के दो चिकित्सक चारकट और जैनेट (Janet) के साथ कुछ दिन रह कर उनके सम्मोहन व्यापार तथा उसके द्वारा अनेक शारीरिक रोगों के निवारण करने वाली पद्धति का घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने का उसको अवसर मिला। उसने देखा कि सम्मोहित अवस्था में मनुष्य का व्यक्तित्व एक विचित्र तरह से तरल और लचीला हो जाता है। सूचनाओं द्वारा उसको किसी प्रकार तोड़ा मरोड़ा जा सकता है, उस पर किसी तरह के शारीरिक लक्षण, चिन्ह तथा उपसर्ग उत्पन्न किये जा सकते हैं, उसमें फोड़े उगाये जा सकते हैं, किसी अंग को पक्षाघातित किया जा सकता है और एक सीमा के अन्दर उससे इच्छापूर्वक कोई काम लिया जा सकता है। सबसे विचित्र बात यह देखी गई है कि सम्मोहन की अवस्था में व्यक्ति में कुछ ऐसी बातों की स्मृति उग आती है जिनके ज्ञान का लवलेश भी उसे जाग्रत अवस्था में नहीं रहता। फ्रायड को अपने मनोविश्लेषण भवन के निर्माण करने के संकेत सूत्र इन दो व्यक्तियों के सम्मोहन सम्बन्धी प्रयोगों से ही मिले।

मनोविश्लेषण का प्रथम वृत्त (Case) और उसका निष्कर्ष:[१]

पर इन दो व्यक्तियों से भी अधिक फ्रायड के मन में तैरते विचारों को निश्चयात्मक रूप देने में सहायता देने वाला एक तीसरा व्यक्ति हुआ। इसका नाम था ब्रूयर। यह वियेना का प्रसिद्ध और वयोवृद्ध अनुभवी स्नायविक रोगों का विशेषज्ञ चिकित्सक था। ब्रूयर के पास एक इक्कीस वर्षीया अन्ना ओ नाम्नी जर्मन कुमारी

भावात्मक [illegible] [illegible] किया, [illegible] की अभिव्यक्ति को [illegible] [illegible] सफलता के लक्षण दिखाई पड़े और वह बिना कठिनाई के [illegible] में [illegible] में समर्थ हो सकी और क्रम से इन सब लक्षणों से सदा के लिये छूट गई।

इस [illegible] के [illegible] निष्कर्ष ने ये परिणाम निकाले हैं (१) कि हमारी चेतनावस्था की [illegible] आदि ही [illegible] मूल कारण का [illegible] नहीं है (२) कि सम्मोहन या इसी [illegible] विशेष [illegible] मनुष्य के उस अचेतन की तह तक पहुँचा जा सकता है जिसमें [illegible] के [illegible] या बीज छिपे पड़े हों। इन दोनों स्तरों के [illegible] सम्बन्ध [illegible] स्थापित कर अर्थात् इसी स्मृति या [illegible] को जीवित रूप से बाहर लाकर इस मानसिक [illegible] प्राप्त कर सकता है। ये ही निष्कर्ष ब्रूयर ने निकाले जिनके आधार पर फ्रायड ने अपने मनोविश्लेषण का प्रासाद खड़ा किया पर इतना अवश्य है कि इस प्रासाद की आधारशिला की प्रथम ईंट ब्रूयर ने रखी।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि मानव व्यक्तित्व में चेतन के अतिरिक्त एक और स्तर होता है जिसे अचेतन कह सकते हैं। इन दोनों स्तरों के बीच एक अभेद्य सी मालूम पड़ने वाली दीवार है जिसे तोड़ कर अचेतन में प्रवेश करना अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों में सम्बन्ध स्थापित हो जाने, शृंखला की भूली हुई कड़ियाँ पा जाने पर व्यक्ति के जीवन में स्वास्थ्य लाभ की सम्भावना हो सकती है। आगे चल कर ज्यों-ज्यों अधिकाधिक रोगियों की परीक्षा और चिकित्सा के अवसर आते गये और फ्रायड के अनुभवों में अभिवृद्धि होती गई त्यों-त्यों वह अपने मनोविश्लेषण सम्बंधी सिद्धान्तों को लोगों के सामने स्पष्ट रूप से रखता गया।

अचेतन मस्तिष्क

फ्रायड की मनोवैज्ञानिक पद्धति का अध्ययन हम इन शीर्षकों के अन्दर कर सकते हैं (१) अचेतन मस्तिष्क (२) लिबिडो (३) दमन (४) इडिपस ग्रन्थि। फ्रायड ने कहा कि मानव मस्तिष्क में तीन स्तर होते हैं, अचेतन, अर्द्धचेतन और चेतन। अचेतन की कल्पना फ्रायडियन मनोविश्लेषण का आधार भूत सिद्धान्त है जिसके सम्बंध में अत्यधिक लिखित सामग्री उपलब्ध है और सबके विचारों में साम्य ही हो सो बात नहीं। पर इतना समझ लेने से काम चल जायगा कि मानव मस्तिष्क का ⅞ अंश इसी अचेतन की परिधि के अन्दर है और मनुष्य के विचार, उसके व्यवहार तथा रहन सहन के ढंग की स्वाभाविकता या अस्वाभाविकता का मूल प्रेरक यही है। जिस तरह एक नदी में तैरते हुए बर्फ के चट्टान का अधिकांश जल प्रवाह की तह में नजरों से ओझल रहता है, दिखलाई पड़ने वाला तो थोड़ा सा ही है। ठीक इसी तरह मस्तिष्क का चेतन अंश जहाँ पर सोच समझ कर "ऐसा-करूँ-कि-ऐसा-करूँ" इस तरह के व्यापार

आयेगा। पर आधुनिक मनोविश्लेषणवादियों ने बतलाया कि इस चेतन संघर्ष के अतिरिक्त मनुष्य के अन्दर एक और संघर्ष चलता रहता है जिसका उसे पता नहीं और जो इससे अधिक भयङ्कर और शक्ति का शोषक होता है तथा तरह तरह की मानसिक और शारीरिक व्याधियों का उत्पादक है।

लिबिडो

मनुष्य के मानसिक तथा शारीरिक व्यक्तित्व को परिचालित करने वाली मूल शक्ति को फ्रायड ने लिबिडो कहा है। यह बड़ी शक्तिशालिनी होती है और बाह्य जीवन में अपनी अभिव्यक्ति के लिये सदा उत्सुक रहती है। पर यह काम-मूला और स्वार्थ मूलक होने के कारण समाज की नैतिक धारणाओं से मेल नहीं खाती। अतः हमारा मन इसकी अभिव्यक्ति का निरोध करता है। फ्रायड के मत से यह काममूला है और सारी लिबिडो या काम शक्ति ही जीवन की मुख्य परिचालिका है। पर यह अवश्य है कि फ्रायड के अनुसार लिबिडो का अर्थ बहुत व्यापक है और यह स्थूल काम वासना तक ही सीमित नहीं है। इसकी सीमा के अन्दर मनुष्य के सारे आनन्द, उल्लासपूर्ण कार्य व्यापार, मनोरञ्जन व्यापार, प्रेम, घृणा जैसी मानसिक पक्ष वाली सब बातें आ जाती हैं। पर इसका प्रधान स्वरूप काम था। यदि साहित्य शास्त्र के इतिहास को देखा जाय तो शृंगार रस के रसराजत्व को दिखलाने वाली प्रवृत्ति जो भक्ति, वात्सल्य, करुण तथा उत्साह इत्यादि को रति के अन्दर ही अन्तर्भुक्त करने की पक्षपातिनी है यह इसी लिबिडो के सर्वसामन्यकारी प्रवृत्ति से मिलती जुलती दिखलाई पड़ेगी।

इडिपस ग्रन्थि

फ्रायड के मिथुन भाव सम्बन्धी सिद्धान्त मौलिक थे और हमारी अब तक की धारणाओं को जड़ को हिला देने वाले क्रान्तिकारी थे। लोगों की धारणा यही थी कि मनुष्य में काम भाव का अंकुर एक विशेष अवस्था में ही उगता है जिसे तारुण्य कहते हैं, जब अंग प्रत्यंग पूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं और प्रजनन क्रिया के लिये पूरी प्रौढ़ता आ जाती है या आने लगती है। यह कभी किसी ने कल्पना नहीं की थी कि जन्म के साथ ही बालकों में कामभाव की उत्पत्ति हो जाती है और बालक तरह-तरह से उसको तृप्ति का साधन भी निकाल लेता है। फ्रायड के जितने सिद्धान्त थे उन सभी में उसके बाल्य मन वाले सिद्धान्त का सबसे अधिक विरोध हुआ था। हम बालक के मन की संवेदन की कल्पना में मग्न रह कर शिशु को भगवान के रूप में देखने के अभ्यस्त थे। ऐसी अवस्था में फ्रायड एक ऐसी बात कहने लगे जिसके द्वारा हमारे चिर पोषित विचारों की नींव हिल गई। अतः इसका विरोध होना स्वाभाविक ही था।

बाल्यकालीन मिथुन भाव—बाल मन के सूक्ष्म अध्ययन के बाद फ्रायड ने यह सिद्धान्त निकाला कि बालक के मन में जन्म से अनेक क्रियाओं का एक बात्या-

वह दूसरों को प्यार करने लगता है जो उसी से मिलते जुलते स्वलिङ्गी हो। यही Homo-sexuality अर्थात् स्वलिङ्गी कामभावना कहलाती है। बाद मे पर लिङ्गी प्रेम का उदय होता है जिसमे अपने से भिन्न लिङ्ग वाले के प्रति पुरुष या स्त्री के प्रति काम भावना की चाहना उत्पन्न होती है।[२]

यह स्पष्ट है कि मनुष्य को अपने स्वस्थ विकास के लिये एक अवस्था का छोड़ कर दूसरी अवस्था पर आगे निर्बाध बढ़ता जाना चाहिये। परलिंगी प्रेम का विकास मनुष्य की स्वाभाविक और स्वस्थ अवस्था है पर यह तभी सम्भव है जब वह पूर्ण रूपेण स्वरति की भावना से मुक्त हो जाय। जिसका अर्थ यह होता है कि पूर्वावस्था में लिपटी कामुकता छूट कर दूसरी अवस्था में चली जाय और वह अपने शुद्ध रूप मे रह जाय। स्वलिंगी से परलिंगी अवस्था में जाने का यही अर्थ है कि प्रथमावस्था से कामुकता अलग होकर दूसरी अवस्था में केन्द्रित हो जाती है और यह स्वरति स्वलिंगी व्यक्ति के प्रति सौहार्द स्नेह इत्यादि के रूप मे रह कर सामाजिक व्यवहार में सहायक होती है। यदि किसी कारण से जिसमे स्वाभाविक प्रवृत्तियों के साथ अनुचित हस्तक्षेप मुख्य है एक अवस्था की कामुकता का दूसरी अगली अवस्था मे स्थानान्तरीकरण नहीं होता तो वह मनुष्य के स्वस्थ विकास मे बाधक होकर अनेक तरह के रोगों अथवा विकृतियों का कारण होता है।

प्रवृत्तियो का ध्रुवीकरण: जीवन और मरण प्रवृत्तियाँ

आगे चल कर फ्रायड के सिद्धान्तो मे विकास होता गया और उसने प्रवृत्तियों के ध्रुवीकरण वाले (Polarity of motives) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। फ्रायड ने कहा कि मनुष्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि वह सदा से दो विपरीत प्रवृत्तियों से परिचालित होता रहता है, एक प्रवृत्ति उसे पूर्व की ओर खींचती है और दूसरी उसे पश्चिम की ओर। उसमें स्वप्रेम की प्रवृत्ति है तो साथ पर प्रेम की भी, निर्माण की है तो विनाश की भी। उसमें जीवन की अदम्य आकाङ्क्षा है तो मरण की भी उतनी ही है। ये दोनो विपरीत तथा परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियाँ उसके व्यक्तित्व के साथ लगी रह कर उसके जीवन के व्यापारों मे प्रगटित होती रहती है। पर इन दो विपरीत प्रवृत्तियो की एक ही व्यक्तित्व मे निवास करने वाली बात को किस तरह समझाया जाय, अन्धकार और प्रकाश को एक ही स्थान पर बैठा कर किस तरह दिखलाया जाय। इसके परिणाम स्वरूप फ्रायड के जीवन प्रवृत्ति Eros और मरण प्रवृत्ति Thantos नामक सिद्धान्तों का आविष्कार हुआ।

फ्रायड ने कहा कि जीवन के उदय के साथ ही अन्दर से प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओं के कारण बालक में लिबिडो की उत्पत्ति होती है। वह अपने प्रवाह का मार्ग ढूँढ़ा करती है। पर प्रारम्भ में कोई अन्य वस्तु न पाकर जीव के ऊपर ही लिपट

जाती है। यह स्वरति या Self libido की अवस्था है। बाद में ज्यों-ज्यों व्यक्ति में वस्तुवादी दृष्टि उत्पन्न होती जाती है, 'स्व' से पृथक 'पर' का ज्ञान होता जाता है त्यों-त्यों उसका लिबिडो अन्य वस्तुओं पर केन्द्रित होने लगता है, वह माँ को प्यार करने लगता है, बाद में सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों तथा संसार की अन्य वस्तुओं से संलग्न होकर परात्मक रति Object libido की अवस्था उत्पन्न होती है। जिस अनुपात में एक का विकास होगा उसी अनुपात में दूसरे का ह्रास होगा। परात्मक रति के साथ स्वरति का ह्रास होता है, और स्वरति में परात्मक रति का। इन दोनों के परस्पर विरोध का समाधान किस तरह सम्भव है। यही प्रश्न फ्रायड के सामने था।

फ्रायड ने उत्तर में कहा कि जीव में मृत्यु की प्रवृत्ति की कल्पना किये बिना काम नहीं चल सकता। मानव जीवन में जिस तरह जन्म सत्य है उसी तरह मृत्यु भी। मृत्यु जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, जो न अपनी रक्षा का लाख प्रयत्न करने पर भी उसने मृत्यु रूपी लक्ष्य पर पहुँच कर ही रहना है। तब यह अनुमान करना ही पड़ेगा कि मनुष्य में उस लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रेरणा सहज तथा नैसर्गिक रूप से वर्तमान है (जो उसे मृत्यु लक्ष्य की ओर प्रेरित किये रहती है) और वह प्रकटित भी होगी। पर मनुष्य की मृत्यु तो एक बार ही होती है, वह बार-बार तो मरता नहीं। तब इस मरण प्रवृत्ति का प्रकाशन किस रूप में होता है। मनोविश्लेषणवादियों का कहना है कि जिस तरह मनुष्य की लिबिडो पहिले स्वकेन्द्रित रहती है, अन्तर्मुखी रहती है पर बाद में दूसरों से लिपट कर प्रेमभाव के रूप में परिणत हो जाता है उसी तरह यह स्व मृत्यु भावना बहिर्मुखी होकर पर मृत्यु भावना का रूप धारण कर लेती है। मरने की भावना मारने की भावना बन जाती है। चूँकि यह शक्ति दूसरों को मारने में व्यय हो जाती है अतः अपने आश्रय को मारने की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य में दूसरों से प्रतिस्पर्द्धा करने, दूसरों पर विजय प्राप्त करने, दूसरों को तंग करने, आक्रमण करने की प्रवृत्तियाँ इसी मृत्यु कामना के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है और कम या अधिक मात्रा में सब मनुष्यों में वर्तमान रहती है। आत्मपीड़न और आत्मभर्त्सना की प्रवृत्ति इसी श्रेणी में आयेगी। सैडिज्म Sadism की अर्थात् अपनी प्रेमिका को तरह-तरह से यन्त्रणा देकर मिथुन भाव की तृप्ति पाने की प्रवृत्ति अथवा प्रेमिका द्वारा पीड़ा प्राप्त कर मिथुन भाव की तृप्ति की प्रवृत्ति मैसोचिज्म Masochism भी इसी मरण प्रवृत्ति का विकसित रूप है[3]।

मन के तीन भाग[4]

वास्तविक व बाह्य संसार तथा सभ्यता की माँगों के अनुसार व्यक्तित्व को परिवर्तित करने वाले अंश को अहंभाव कहते हैं। यह अहं हमारी सहज और स्वाभाविक अन्तर्प्रेरणाओं पर नियंत्रण रखता है और उन्हें परिमार्जित तथा परिशोधित कर ही

एक सज्जन अपनी लड़की को जिसे फिट आते थे लेकर रेल से कहीं जा रहे थे। रेल यात्रा में भीड़ के कारण लड़की के फिट के दौरे बढ़ गये और उसे फिट पर फिट आने लगे। फिट आने की हालत में वे सज्जन अपनी पुत्री को होश में लाने के लिये उसे तरह तरह से प्यार करते और पुचकारते थे। उनके साथ में एक कहार की लड़की भी जा रही थी। उसे भी फिट आने लगे। इस लड़की में कहीं प्यार किये जाने की भूख थी। उसके अचेतन ने फिट को ही प्यार प्राप्त करने का साधन समझ कर उन सज्जन की हिस्टीरिया ग्रस्त लड़की से तादात्म्य कर लिया और इसी कारण उसे भी दौरे आने लगे।

स्थानान्तरीकरण (Transference)

(Transference) स्थानान्तरीकरण मन की वह गुप्त क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य एक व्यक्ति से सम्बन्धित ईर्ष्या, द्वेष या प्रेम की भावना को दूसरे पर आरोपित कर देता है। मनोविश्लेषण चिकित्सालय में प्रायः देखा जाता है कि रोगिणी अपने डाक्टर से प्रेम करने लगती है और यह प्रेम इतना प्रबल हो जाता है कि रोग मुक्त हो जाने पर भी वह उससे अलग होना नहीं चाहती। दूसरी तरफ इसकी भी संभावना होती है कि रोगिणी के मन में डाक्टर के लिये अपार घृणा का उदय हो। यह भी सम्भव है कि ये दोनों विपरीत भावनाएँ बारी बारी से उसके हृदय पर अधिकार कर सकती हैं। अर्थात् मनोविश्लेषक डाक्टर मनोविश्लेषित के लिये पिता, माता, भाई, बहिन सब हो सकता है और इन व्यक्तियों के प्रति विश्लेषित व्यक्ति की बाल्यावस्था में जो जो भावनायें उठी होंगी उन्हीं का आलम्बन मनोविश्लेषक या अन्य कोई भी व्यक्ति हो सकता है। प्रायः ऐसा हो जाता है कि किसी व्यक्ति के प्रेम की तथा किसी के लिये घृणा की भावना अनायास और अकारण उठने लगती है। मन की ऐसी स्थिति स्थानान्तरीकरण की विषय मात्र है।

बद्धत्व (Fixation)

बहुत से मनुष्य ऐसे होते हैं जो अपनी विगत अवस्था को छोड़ना नहीं चाहते। हालांकि स्वाभाविक समय क्रम के अनुसार वे उस अवस्था को पार कर चुके होते हैं। वर्तमान जीवन की कठिनाइयों का सामना करने में वे अक्षम हैं अतः पुरानी स्थिति से वे चिपके रहना चाहते हैं। बाल्यावस्था में बालक हर तरह से अपनी माँ पर निर्भर रहता है, उसे स्वयं कुछ करना नहीं पड़ता पर इस अवस्था के पार कर जाने पर उसे आत्मनिर्भर होना पड़ता है जिसके अनुकूल बनने में कठिनता होती है। अतः वह बालक ही रहना चाहता है। बालक बने रहने वाली इस प्रवृत्ति पुरानी विगतावस्था से चिपके रहने वाली प्रवृति को मनोविश्लेषणवाद में बद्धत्व (Fixation) कहा जाता है। कई लोग होते हैं जो पत्नी से माँ के व्यवहार की आकांक्षा रखते हैं, चाहते हैं कि पत्नी भी

उनकी उसी तरह से देख भाल करें जिस तरह से माँ करती थी। ये एक तरह से Mother baby हैं। पति बन कर भी वे पुत्र ही रहना चाहते हैं, उनका अचेतन सुख और रक्षा की पूर्वावस्था से चिपका रहना चाहता है, आगे बढ़ना नहीं चाहता।

प्रत्यावर्तन (Regression)

इसी से मिलती जुलती दूसरी क्रिया होती है जिसे प्रत्यावर्तन कहते हैं। इसमें मनुष्य समय के प्रवाह के साथ अगली अवस्था में बढ़ता जाता है, उसकी माँगों के अनुसार कार्य तत्परत्व अपने में लाता भी है पर किसी अवसर विशेष में विशेषतः किसी महान सकट के अवसर पर वह पुनः बाल्यावस्था में लौट आता है। बहुत से वयःप्राप्त मनुष्य भी अपने माता पिता के स्नेह के पाने के लिये बाल्योचित व्यवहार करते हैं, तुतला कर बोलना, गोदी में बैठना, दुलराना पुचकारना प्रारम्भ कर देते हैं। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण १६१४-१८ के महायुद्ध में बम के भय से त्रस्त आस्ट्रेलियन सैनिक में मिलता है। वह २५ वर्ष का एक स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट नवयुवक था पर वह अपनी बाल्यावस्था में प्रत्यावर्तित कर गया। एक डेढ़ वर्ष के बालक की तरह घुटनों के तथा हाथों के बल चलने लगा, अर्द्धस्फुट अनर्थक वाक्यों का उच्चारण करने लगा तथा बच्चों की तरह रगीन चित्रों से खेलने लगा अर्थात् वह बालक ही बन गया।

उदात्तीकरण (Sublimation)

प्रत्येक दमित इच्छा के साथ भावावेश भी लगा रहता है, जो अपने प्रवाह का मार्ग ढूँढ़ा करता है। इन भावावेगों को समाजानुमोदित नैतिक प्रणालियों से प्रवाहित होने की क्रिया को उदात्तीकरण कहा जाता है। सम्भव है कोई नारी अपने हृदयस्थ मातृत्व की भावना को कुचल दे पर वह कुत्ते, बिल्ली या किसी जन्तु को प्यार करने लगे। इस तरह कला प्रेम, साहित्य प्रेम, देश प्रेम, मानवीय लैंगिक (Sexual) प्रेम का प्रतिनिधि हो सकता है। यह उदात्तीकरण (Sublimation) की क्रिया भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सकती है। दूसरों को पीड़ा देने या दण्डित करने की इच्छा स्वपीडन का रूप ले सकती है। गाँधी जी जब उपवास के द्वारा आत्म-शुद्धि की बातें करते तो शायद यह उनकी पर-पीड़न की भावना थी जो स्व-पीड़न के रूप में प्रवाहित होती थी। कालिदास का विरही यक्ष या दुष्यन्त चित्रकला में अपने भावावेगों को प्रवाहित कर अपने जीवन की कटुता को सह्य बनाते थे।

स्वप्न (Dreams)

स्वप्न विज्ञान फ्रायड की एक मौलिक देन है। फ्रायड ने प्रतिपादित किया है कि स्वप्न हमारी दमित वासनाओं की पूर्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सुषुप्ति की अवस्था में प्रतिहारी थोड़ा असावधान हो जाता है, अतः दमित वासनाओं को थोड़ा रूप बदल कर चेतन के क्षेत्र में प्रवेश करने की सुविधा हो जाती है। यदि वे वास्तविक रूप

से ही आने लगें तो प्रतिहारी उन्हें पहिचान कर रोक देगा। पर थोड़ा सभ्य वेश बना लेने पर उसे धुसा देकर निकल चलना उतना कठिन नहीं होता। अतः स्वप्नों के अध्ययन से मनुष्य के अचेतन के स्वरूप को समझने में कुछ सहायता मिल सकती है। स्वप्नों की भाषा प्रतीकात्मक होती है। स्वप्न उलूल जलूल तथा अनर्गल से भले ही मालूम पड़ते हों पर वास्तव मे वे सार्थक होते हैं। स्वप्न के दो अंश होते हैं दिखावटी अंश (Manifest) और वास्तविक अंश (Latent content)। प्रथम तो वह है जिसे हम देखते हैं, याद कर सकते हैं, लोगो से कह सुन सकते हैं, दूसरा अंश ही वास्तविक है जो दिखावटी रूप धारण कर प्रगट हुआ है। इसी रूप को पहिचानना मनोविश्लेषक का प्रधान कर्त्तव्य होता है। कहने का अर्थ यह है कि स्वप्न एक अलग चीज है, उसका अर्थ कुछ दूसरा ही है जिसे जानने में सतर्कता की आवश्यकता है। एक उदाहरण लीजिये। एक महिला ने स्वप्न देखा कि मैं पहाड़ की चोटी पर हूँ, एक घोड़े ने मेरा पीछा किया। मैं घोड़े के साथ पर्वत शिखर से कूद पड़ी और तैर कर एक नीले जहाज की ओर चली गयी। स्वप्न कुछ बे सिर पैर का मालूम पड़ता है पर मनोविश्लेषक पद्धति का अवलम्बन ग्रहण कर इसका अर्थ निकाला गया है। महिला के जीवन की थोड़ी कथा जान लेने से स्वप्न का अर्थ स्पष्ट हो जायगा। एक नवयुवक, पोलो का खिलाड़ी, घोड़ों की अच्छी नस्ल की पहिचानने वाला तथा उन्हें शिक्षित (Train) करने मे सिद्धहस्त इस महिला के पास बहुत आता जाता था। उसका घर एक उपनिवेश मे था जिसे वह (Blue Isle) कहा करता था। उसकी बड़ी आकांक्षा थी कि इस महिला से उसका विवाह हो जाय और वे दोनों उपनिवेश में चल कर एक शांत तथा सुखमय जीवन व्यतीत करें पर वह महिला सदा यही कह कर इस प्रसङ्ग को टालती जाती कि उसके व्यस्त जीवन में विवाह की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं है। पर ऐसा मालूम होता है कि चेतन रूप में, प्रकाश तौर पर विवाह के विरोध के बावजूद भी इस महिला के हृदय में कहीं न कहीं अचेतन मे प्रणय की आकांक्षा थी। इस शङ्का का समर्थन इस बात से भी हो जाता है कि इस स्वप्न के तीन या चार सप्ताह पश्चात् ही उस नवयुवक से उसने विवाह कर लिया। इस पूर्वापर की कथा को जान लेने पर इस बेतुके स्वप्न का सङ्गत अर्थ लगाना कठिन नहीं। स्वप्न का अर्थ यह है—

घोड़ा :—	अश्वारोही, पोलो का खिलाड़ी, प्रेमी
घोड़े का पीछा करना :—	नवयुवक का कोर्टशिप करना
गिरि शिखर से कूद पड़ना :—	अविवाहित जीवन के कल्पना जगत से उतरकर वास्तविक वैवाहिक जीवन की सतह पर आना

नीला जहाज :— नवयुवक का वास स्थान जिसे वह (Blue Isle) कहता था। नीला जहाज और समुद्र की सङ्गति इस बात से लगाई जाती है कि वे दोनों (Blue Funnel line) नामक जहाज पर ही यात्रा करके (Blue Isle) नामक स्थान पर जाया करते थे।[५]

इतनी बात जान लेने पर इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता कि यह स्वप्न महिला के अचेतनस्थ परिणयाकांक्षा का छद्मवेशी रूपक है जो अपना तृप्ति लाभ इस तरह कर रहा है। स्वप्न सांकेतिक होते हैं, वे रूपक हैं जो अचेतनाकांक्षाओं के निरापद प्रतिनिधि हैं।

रेशनलाइजेशन (Rationalization)

अब तक यह स्पष्ट हो गया है कि मनुष्य के अनेक व्यवहारों का आदि स्रोत, अशिष्ट, क्रूर, इन्द्रियलोलुप और कामार्थी अचेतन है। पर अपने व्यवहारों को ऐसे भावो से सम्बद्ध देखना हम पसन्द नहीं करते। अतः हम अपने व्यवहारो के लिये अच्छा, न्यायानुमोदित और सङ्गत पर असत्य कारण दिया करते है। मानव मन की यह क्रिया रेशनलाइजेशन (Rationalization) कही जाती है। कोई व्यक्ति आज २५ वर्षों से कांग्रेस का सदस्य रह कर उसकी सेवा मे तत्पर रहा है पर इधर कुछ दिनों से वह अनुभव करने लगा है कि काँग्रेस का सदस्य बने रह कर उसकी सब महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हो सकती। कांग्रेस का परित्याग कर वह दूसरी संस्था का सदस्य बन जाता है और दूसरों को अथवा अपने को भी यह कह कर संतोष देता है कि उसके इस सम्बन्ध विच्छेद का कारण यह है कि कांग्रेस अपने आदर्शों से च्युत हो गई है। यह रेशनलाइजेशन की क्रिया कभी जानबूझ कर चेतन स्तर पर होती है। हम जानते हैं कि हम अपने व्यवहारो पर दूसरा रंग केवल सुर्खरू बनने के लिये ही दे रहे हैं। पर कभी कभी अज्ञात रूप में भी इसका अवलम्बन लेते हैं। हम रेशनलाइजेशन करते तो हैं पर हमें इसका ज्ञान नहीं होता।

मनोविश्लेषण से ही उत्पन्न अन्य मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय

फ्रायड के शिष्यो तथा सहयोगी एडलर और जुङ्ग ने मनोविश्लेषण से मिलते जुलते पर इससे कुछ प्रधान अंशो मे भिन्न अपने सम्प्रदायो की स्थापना की जिसका नाम उन्होंने क्रमशः वैयक्तिक Individual और विश्लेषण Analytic मनोविज्ञान रखा है। एडलर के ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि फ्रायड द्वारा प्रतिपादित अचेतन, दमन तथा व्यक्ति में काम भाव के विकास के इतिहास पर उसकी विशेष आस्था नही है। परन्तु उसका सबसे अधिक विरोध लिबिडो Libido को काम-

मूलक शक्ति मानने वाले सिद्धान्त से है। उन्होंने मनुष्य की मूल वासना को काम वासना न मान कर विजय की वासना मानी है। उनकी मान्यता है कि नैसर्गिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति में दूसरों पर विजय प्राप्त करने की, दूसरों से श्रेष्ठ रहने की, सर्वाधिक शक्तिशाली होने की वासना वर्तमान रहती है। येनकेन प्रकारेण वह अपने सहवर्गियों में उच्च बनने का अभिलाषी होता है। यदि उसमें एक तरह की कमी हुई तो यत्न पूर्वक दूसरी शक्ति का अत्यधिक विकास कर लोगों के आदर और पूजा का पात्र बनना चाहता है। परीक्षा में असफल होने वाला विद्यार्थी फुटबाल या क्रिकेट का प्रसिद्ध खिलाड़ी बन जाता है, वक्तृत्व शक्ति का विकास कर लेता है। यही पौरुष विरोध Masculine Protest मनुष्य के जीवन की परिचालिका है। इस भाव से प्रेरित होकर मनुष्य अपने अन्दर जीवन की एक विशेष शैली का निर्माण कर लेता है। एडलर भी बाल्य जीवन के महत्व को स्वीकार करता है और कहता है कि बाल्य जीवन की लचीली अवस्था में ही उस जीवन शैली का निर्माण हो जाता है जिसके अनुरूप सारे जीवन व्यापार परिचालित होते रहते हैं। बालक प्रारम्भ से ही अपने आसपास के वातावरण पर अपनी सत्ता जमाये रहना चाहता है पर अपने माता पिता तथा अन्य लोगों के सम्पर्क में आने वाले लोगों के सामने अपनी शक्ति हीनता की भी उसे कटु अनुभूति होती है। पहिले तो सब को अपनी शक्ति से प्रभाव में लाने की चेष्टा करता है पर बाद में सफल होते न देखकर अन्य उपायों से भी काम लेना प्रारम्भ करता है। कभी रोकर (बालाना रोदनं बलम्), कभी हँस कर, कभी खेलकूद कर, यहाँ तक की कभी रुग्ण होकर भी लोगों पर अपनी सत्ता या प्रभुत्व जमाये रहना चाहता है। जीवन की समस्या का सामना वह किस ढङ्ग से करेगा, संकट के अवसर पर वीरों की तरह सामना करेगा या कायर की तरह दुम दबा कर भाग जायेगा, संसार के अन्य मनुष्यों तथा अपने कर्त्ताओं के प्रति उसका दृष्टिकोण मैत्री भाव का होगा या शत्रुता का होगा यह सब उसकी जीवन शैली पर निर्भर करेगा जो जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ही निर्मित हो जाती है और जिसके मूल में दूसरों पर विजय पाने की आकांक्षा रहती है।

फ्रायड ने बड़े ही सबल तर्कों द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि प्रत्येक मानसिक विकृति के मूल में दमित काम प्रवृत्तियाँ ही हैं। मनुष्य का मानसिक संतुलन इसलिये नष्ट हो जाता है कि उसकी दमित कामेच्छायें अचेतन से निकल कर चेतन के क्षेत्र में प्रवेश कर वहाँ अराजकता का दृश्य उपस्थित कर देती है। एडलर कहता है कि नहीं, ऐसी बात नहीं। मानसिक विकृतियों का कारण यह है कि विजय-कामनावश मनुष्य के अन्दर जिस जीवन शैली का निर्माण हुआ है उसमें सामाजिक और वैयक्तिक आदर्श दोनों प्रेम पूर्वक नहीं रह सकते। व्यक्ति ने अपने सामने उच्चता का ध्येय रखा है। वह सामाजिक जीवन के विरुद्ध पड़ता है। अतः वास्तविक उपलब्धियों के स्थान पर

उनके मार्ग में बाधक होने वाले कुछ कारणों की कल्पना कर लेता है। "यदि मैं स्वस्थ होता, धनवान होता, ऐसी अड़चनें मेरे मार्ग में नहीं होती तो आज मैं सर्वश्रेष्ठ हुआ होता" इस तरह की मनोवृत्ति से कुछ तो मनुष्य को संतोष होता है और कुछ दूसरे लोग भी उसकी अवस्था से प्रभावित होकर उसको ऐसी सुविधायें देते हैं जो दूसरों को सहज प्राप्त नहीं। उसके कार्यों पर विचार करते समय अपने मापदण्ड को कुछ शिथिल कर देते हैं। आधुनिक युग का अति प्रचलित सर्व जिह्वाग्रवर्ती हीनता ग्रन्थि (Inferiority Complex) शब्द का जन्मदाता एडलर ही हैं। उसके मत में यह हीनता ग्रंथि सब में पाई जाती है और इसी के कारण मनुष्य की जीवन शैली का निर्माण होता है। जो मनुष्य के प्रत्येक व्यापार में प्रतिबिम्बित होती रहती है, जिसके उठने बैठने, चलने, फिरने, खड़ा होने, हाथ मिलाने के ढङ्ग में यहाँ तक कि सुषुप्ति की अवस्था में जो आकृति ग्रहण करता है उसमें भी उस जीवन शैली का दर्शन किया जा सकता है। जो व्यक्ति पीठ के बल सीधे एक तत्पर सिपाही की तरह सोता है तो इससे यह सूचित होता है कि वह लोगों की आँखों में अधिक ऊँचा उठा दिखना चाहता है। सर पर चादर तानकर घुडमुडिया कर सोने वाले व्यक्ति से कर्मठता तथा प्रयत्नशीलता की आशा नहीं की जा सकती। पेट के बल सोने वाला दुराग्रही तथा नकारात्मक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति होता है।

जुंग की Analytic of Psycholcgy फ्रायड के मनोविज्ञान की उपशाखा कही जा सकती है। जुंग का दृष्टिकोण एक दार्शनिक तथा रहस्यवादी की तरह है। वे फ्रायड के मूलतत्वों में विश्वास करते हैं। उन्होंने अपने ग्रंथों में अचेतन, दमन, प्रतीकात्मक स्वप्न इत्यादि सब बातों की पर्याप्त चर्चा की है पर कुछ परिवर्तित अर्थ में। जुङ्ग के ग्रंथों के अध्ययन से ऐसा मालूम होता है कि वे फ्रायड के प्रशंसक अवश्य हैं क्योंकि फ्रायड ने मानवीय व्यक्तित्व की गहराई में उतरने का प्रयत्न किया। पर वे उनसे असंतुष्ट इसलिये हैं कि फ्रायड समस्या की अंतिम सीमा तक न जाकर बीच में ही दुकान खोल बैठ गये और वहीं से उन्होंने अपना कारबार प्रारम्भ किया।

जुंग और अचेतन

उदाहरण के लिये अचेतन को लीजिये। जुंग फ्रायड के अचेतन को तो स्वीकार करते हैं पर कहते हैं कि इस स्तर के नीचे भी एक और स्तर है। अर्थात् अचेतन के दो स्तर हैं वैयक्तिक अचेतन (Personal unconscious) और समस्त अचेतन (Racial Uuconsious)। हमारा (Personal Unconscious) भोगेच्छु, स्वार्थी, बीभत्स और क्रूर मूल प्रवृत्तियों का तथा दमित भावनाओं का रहस्यागार भले ही हो पर यदि मन के अन्तः पटल को भेद कर देखा जाय तो पता चलेगा कि उसमें एक समष्टि मन का स्तर है जो हमारी सारी सौन्दर्य-प्रियता, नीतिमत्ता और खूबियों का

आदि स्रोत है। हमारे चेतन मन को जिन खूबियों, भलाइयों का ज्ञान रहता है वे अपने तात्विक रूप में समष्टि मन में वर्तमान रहती हैं जिस तरह अचेतन हमारी अनैतिक भावनाओं का आगार है वैसे ही हमारी नैतिकता का भी। उसी मनुष्य का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित हो सकता है जिसके वैयक्तिक अचेतन और समष्टि अचेतन में पूर्ण सामंजस्य हो। इस सामंजस्य की स्थापना के बाद में मनुष्य की प्रतिभा को अधिक से अधिक क्रियान्वित होने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। फ्रायड के द्वारा निर्धारित दमित भावनाओं का आगार अचेतन को मानते हुए भी जुंग एक पद आगे बढ़कर कहते हैं कि इसके बाहर समष्टि मन भी होता है जिसे दमित भावनाओं से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। इसमें निवास करने वाली भावनाएँ अस्पष्ट, निराकार, अनियंत्रित और अनिर्वचनीय होती हैं पर यह मानव जाति में निसर्ग से प्राप्त है और युग युग से मनुष्य में निवास करती आई हैं। सत्य की खोज, अदृश्य शक्ति में विश्वास, देवत्व और ईश्वरत्व में आस्था दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक उत्प्रेरणाओं का निवास चेतनातीत समष्टि अचेतन में रहता है और हमारी चेतना को भी प्रभावित करता रहता है।

पर जुंग का सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त वह है जिसके द्वारा उन्होंने मनुष्य को दो प्रकारों में विभाजित किया है। बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त संसार के कृत्यों में अभिरुचि रखने वाला सामाजिक प्रवृत्ति का होता है, उसमें कल्पना का अभाव होता है और कभी कभी निरुत्साहित भी हो जाता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति विचार में तल्लीन रहता है उसकी कल्पना अधिक जाग्रत रहती है। सामाजिकता की उसमें कमी होती है, भावावेग में वह कम आता है, नीरस सा होता है। मन की चार शक्तियाँ होती हैं विचार (Thinking) भाव (Feeling) अन्तर्दर्शन (Intuition) संवेदन (Sensation)। इन्हीं चार शक्तियों के आधार पर इन दोनों वर्गों को फिर से चार-चार उपवर्गों में विभाजित कर दिया गया है, नीचे की तालिका से स्पष्ट होगा।

मानव

बहिर्मुखी — विचारक, भावुक, अन्तर्दर्शक, संवेदक,

अन्तर्मुखी — विचारक, भावुक, अन्तर्दर्शक, संवेदक,
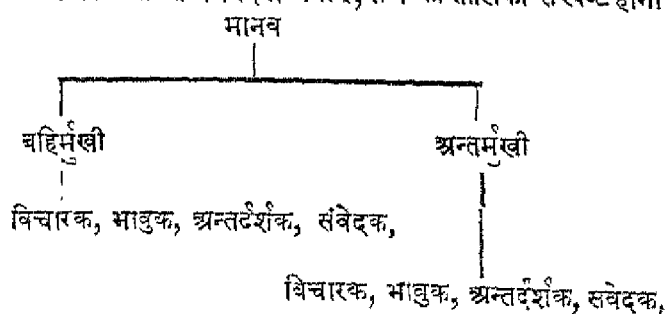
(Psychiatry for Everyman)[६] के आधार पर इन आठों प्रकार व्यक्तियों के गुणों का उल्लेख कर प्रसङ्ग समाप्त करूँगा। बहिर्मुखी विचारक दुनिया वस्तुओं और मनुष्यों में दिलचस्पी लेता है। वह अपने को व्यावहारिक समझता है अं

ठोस वास्तविक घटनाओं के आधार पर सिद्धान्तों की स्थापना करता है, विचारक होने के कारण उसमें भावावेश की कमी होती है और उसे अपने भावावेगाभाव पर गर्व रहता है। अपने से मतभेद रखने वाले को वह मूर्ख समझता है। वह अपने विचारों को दूसरों के ऊपर भी लादना चाहता है; इसके उदाहरण राजनीतिज्ञों और प्रयोगशील वैज्ञानिकों में मिल सकते हैं।

अन्तर्मुखी विचारक में भावावेश की कमी होती है और वह वास्तविकता से अधिक विचार जगत में अभिरुचि रखता है। अपने प्रिय सिद्धान्त से प्रारम्भ कर उन्हीं के सहारे निश्चित करता है कि घटनायें कैसी होनी चाहिये। विचारक होने के कारण उसमें मानवता तथा सही सहिष्णुता का अभाव होता है। उदाहरण के रूप में रोब्सिपायर तथा कार्ल मार्क्स और लेनिन जैसे अनेक क्रान्तिकारियों को उपस्थित किया जा सकता है। स्त्रियों में अन्तर्मुखी भावुक प्रकृति के व्यक्ति अधिक मिलते हैं। इस प्रकृति का व्यक्ति असमाजिक होता है और अपने को अभिव्यक्त कर सकने में उसे कठिनाई होती है। इसमें प्रेम और घृणा के सबल भाव वर्तमान रहते हैं जिन्हें वह अभिव्यक्त नहीं कर सकता जिसके कारण उसे तकलीफ होती है। वह चाहता है कि दूसरे उसकी कद्र करें। लोग उसे स्वार्थी समझते हैं।

यदि बहिर्मुखी भावुक व्यक्ति को देखना हो तो एक साधारण नारी को देख लीजिये। वह परम्परा पालक सामाजिक तथा दूसरों में इतनी दिलचस्पी लेती है कि उसे अपने मानसिक जीवन का ज्ञान नहीं रहता। वह अनुभव तो करती है कि यह बात ठीक है पर तर्क सम्मत रूप में सोच नहीं सकती।

काव्य प्रेमी, कला प्रेमी, संगीत-प्रेमी, रसना-स्वाद-प्रेमी, मदिरा प्रेमी, ऐन्द्रियसुखोपभोगेच्छु लोग अन्तर्मुखी संवेदक कहे जा सकते हैं। ये अकेले एकान्त में आनन्दोपभोग करना चाहते हैं और संसार को अपने दृष्टिकोण से देखते हैं।

बहिर्मुखी संवेदक भी इन्द्रिय परायण होता है पर उसकी इच्छायें प्रायः छिछली और गवांरू होती हैं। यह मन्द बुद्धि होता है और इन्द्रिय लोलुपता सदा इसके साथ लगी रहती है। यदि यह किसी के प्रति दया भाव दर्शाता भी है तो इसलिये कि इसके द्वारा वह अपने को उच्च समझता है। पर वास्तव में यह विचार-हीन स्थूल-बुद्धि और स्वार्थ परायण होता है।

अंतर्मुखी अन्तर्दर्शक रहस्यवादी होता है। वह भावुक होता है। लोगों की बातों से अधिक उनके आन्तरिक अर्थों पर उसका ध्यान अधिक होता है। यही कारण है कि लोगों को अविश्वसनीय तथा धोखेबाज की तरह भी दिखलाई पड़ सकता है।

बहिर्मुखी अन्तर्दर्शक सच्चे अर्थों में संसारी जीव होता है। किसी बात पर जम-

कर नहीं रहता और भाग्य पर उसे भरोसा होता है वह खूब धूत व्यसनी होता है और अपनी मान्यताओं को लाख समझाने पर भी नहीं छोड़ सकता।

ऊपर जिन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा की गई है उनसे हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि संसार की सारी बुराइयों का मूल अज्ञान है। मनुष्य दुनिया की बातों को तो जानता है पर अपने अन्दर की बातों को नहीं जानता। यदि वह अपने सच्चे स्वरूप को जान सके, अपनी आत्मा को पहिचान सके तो ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि वह सुख और शांतिपूर्वक अपनी जीवन यात्रा पूरी कर सके। यह आत्म ज्ञान किस तरह से हो सके इसके भिन्न-भिन्न उपाय शास्त्रों में बतलाये गये हैं। भारत में प्राचीनकाल में बहुदर्शनों विशेषतः पातंजल योग ने अपने अनुरूप मार्ग बताये और आज मनोविश्लेषणवादी बतला रहे हैं।

गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान

आधुनिक मनोविज्ञान के सम्प्रदायों में जर्मनी के गेस्टाल्ट सम्प्रदाय की पर्याप्त प्रसिद्धि है और इसके सिद्धान्तों ने मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया पर प्रकाश डाल कर मानव मानसिक व्यापार के क्षेत्र की ज्ञानवृद्धि में अधिक सहायता पहुँचाई है। जब हम किसी वस्तु को देखते हैं अथवा किसी ध्वनि को सुनते हैं, दूसरे शब्दों में जब हम किसी बाह्य उत्तेजक वस्तु के सम्पर्क में आते हैं तो उनका रूप ग्रहण करने में हमारी मानसिक प्रक्रिया किस तरह क्रियाशील होती है? बाह्य वस्तु से टकरा कर प्रकाश की लहरें लौट पड़ीं और उन्होंने आँखों के चक्षु गोलकों पर आघात किया, वहाँ से संवेदन शिराओं द्वारा वे लहरें मस्तिष्क में पहुँचीं और वहाँ एक ऐसा व्यापार हुआ जिसको हमने वस्तु का देखना कहा। प्रश्न यह होता है कि जिसे हम देखना कहते हैं वह बाह्य पदार्थ से उत्पन्न और संवेदनिक शिराओं द्वारा मस्तिष्क में उपलब्ध कराई गई लहरों का संघात मात्र ही है या और कुछ? यों साधारणतः विचारने से तो यही प्रतीत होता है कि किसी भी ज्ञात दृष्ट जिघ्र श्रुत या स्पृष्ट पदार्थों में तज्जनित प्रकम्पन-संघात के सिवा और कोई वस्तु है नहीं। अतः वे संघात विशेष रूप से कोई अलग पदार्थ हो ही नहीं सकते। ज्यादा से ज्यादा हम यही कह सकते हैं कि वे भिन्न प्रकम्पनों के रसायनिक मिश्रण हैं। ठीक उसी तरह जिस तरह हाइड्रोजन और आक्सीजन का मिश्रण पानी है अथवा सोडियम या क्लोरीन का मिश्रण सोडियम क्लोराइड है जिसे हम साधारण नमक के रूप में जानते हैं। पर वास्तव में यह बात है नहीं।

एक प्रयोग कीजिये। ∴ इस तरह के तीन बिन्दुओं को देखिये। वे तो हैं तीन बिन्दु मात्र ही और उनके बीच में रिक्त स्थान भी हैं पर आप क्या वहाँ तीन बिन्दुओं को न देखकर एक व्यवस्थित त्रिकोण को नहीं देख रहे हैं? चलचित्रों में

घोड़ों की स्थिर मुद्राओं के भिन्न भिन्न चित्र लिये रहते हैं पर आप देखते हैं दौड़ते हुए घोड़ों को। ऐसा क्यों ? गेस्टाल्ट मनोविज्ञान ने इसका रहस्य बतलाया है।

सिद्धान्त

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की मान्यता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु-जाल में संपूर्णता नामक भाव की अवस्थिति होती है। पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों ने इस ओर पूर्ण रूप से ध्यान नहीं दिया है। बरदरमियर के साथ दो और मनोवैज्ञानिक इसकी ओर अग्रसर हुए जिनका नाम कोहलर और काफका था। इनके लेखों और पुस्तकों से इस मनोविज्ञान के प्रचार में अत्यधिक सफलता मिली। इन लोगों ने अपने प्रयोग के द्वारा तथा अनेक सबल तर्कों के द्वारा यह बतलाया कि मानव ज्ञानोपार्जन तथा दक्षतोपार्जन-प्रक्रिया, स्मृति में अव्याहत, प्रतिभा ज्ञान (Intuition) क्रियात्मक चेष्टायें ये सारे गेस्टाल्ट हैं और ये अपनी खंड क्रियाओं के संग्रह मात्र नहीं हैं। ये अपनी समग्रता को लेकर ही पूर्ण हैं।

मानव की चिंताधारा तथा विकास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि सदा वह बारी-बारी से विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रभावित हो अपना रूप निर्धारित करती आई है। एक विश्लेषणात्मक और दूसरा संश्लेषणात्मक। इसी को स्थूल तथा सूक्ष्म, खंड और पूर्ण, संकुचित तथा व्यापक, निर्जीव तथा सजीव अनेक नामों से पुकारा जा सकता है। पहला दृष्टिकोण किसी वस्तु को बिखेर कर उसका लेखा जोखा लेता है और दूसरा उसे समेट कर उसकी पूर्ण इकाई के व्यापकत्व को देखता है। दोनों दृष्टिकोणों के सामने प्रश्न केवल एक ही है। किसी वस्तु पर विचार करते समय हम मूल रूप में किस चीज को पहिले प्राधान्य देना चाहिये, और किसको गौण समझना चाहिये। विश्लेषणवादियों का उत्तर है कि सृष्टि की उत्पत्ति के मौलिक उपादानों का सूक्ष्म रूप अणु है, वे ही प्रधान हैं, स्वतंत्र हैं उनकी अलग सत्ता है और उन्हीं से संसार की उत्पत्ति है और उन्हीं में लय भी होगा। इस दृष्टिकोण वाले लोग उन नियमों का निर्देश करते हैं जिसके द्वारा इन खण्डों के योग से पूर्ण का निर्माण होता है। परन्तु प्रधानता इन खण्डों की है, पूर्णता की अपनी सत्ता अलग नहीं होती।

पर गेस्टाल्ट मत वाले इस मत से एकदम असहमत हैं। उनका दृष्टिकोण इससे सर्वथा विपरीत है। उनका कहना है कि सबसे प्रमुख खंडित स्वतःपूर्ण और स्वतः सिद्ध इकाइयाँ नहीं, पर वह धारा है, वह व्यवस्था है, वह प्रणाली है, वह परिपार्श्विकता है जिसकी परिधि में ये तथाकथित खंडित इकाइयाँ भी अपनी सार्थकता की सिद्धि प्राप्त करती हैं और इसके अभाव में इनकी कोई भी वास्तविक सत्ता नहीं है। इन लोगों की मान्यता है कि जीवन को सञ्चालित करने वाले नियमों की पूर्ण इकाई में

सजीव परस्परानुभूतित्व की राह से देखना चाहिए। पूर्णता ही वास्तविकता है। खण्ड भ्रम है। यदि यह ठीक है कि ये क्रियदर्श टुकड़े अपने परस्परानुगातित्व की रक्षा करने वाली विशिष्ट पूर्ण व्यवस्था के बीच ही स्थिति धारण करते हैं तो उनकी प्राथमिकता कहाँ रही। पहिले तो वही व्यवस्था ही सामने आती है जिसके द्वारा ये अस्तित्व में आते हैं। देश और काल पूर्वक सगठित व्यवस्था की पूर्णता ही प्राथमिक वस्तु है, विभाजन और विश्लेषण, चीर फाड़ तो अपनी सुविधा के लिये बुद्धि के द्वारा निर्मित खेल है, भौतिक शास्त्र की दृष्टि से अलग निरपेक्ष तिल नहीं परन्तु धनात्मक और ऋणात्मक विद्युत सवेग से ही पूर्ण होकर वह आता है। प्राणिशास्त्र की दृष्टि से भी (cell) नहीं परन्तु जीव ही इकाई है। मनोविज्ञान मे भी इसी तरह मानव चेतना या व्यक्तित्व की सपूर्णता ही प्रमुख है सावेदनिक या वैयक्तिक सपूर्णता नहीं।

गेस्टाल्ट और प्रातिभ ज्ञान (Intuition)

गेस्टाल्टवाद ने प्रातिभ ज्ञान के क्षेत्र में भी जो प्रयोग किये हैं वे भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। उनके द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक प्रकार का ज्ञान परस्पर सम्बद्ध रूप से ही होता है। प्रातिभ ज्ञान है क्या चीज? यही न कि कोई समस्या या उलझन मेरे सामने उपस्थित है, उसका हल कोई समझ में नहीं आता तब तक रहस्यमय शक्ति के द्वारा अचानक ही मार्ग सूझ पड़ता है और मेरे मस्तिष्क में कुछ रिक्तताओं के कारण जो तनाव था वह दूर हो गया। मुझे शान्ति मिलती है। यहीं प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होता है।

कोहलर ने कुछ शिपांजियों के साथ इस तरह का प्रयोग करके देखा है और उनके व्यवहार मे गेस्टाल्ट सिद्धान्तों का समर्थन पाया है। एक शिपाजी को एक बड़े कमरे म बन्द कर दीजिये। साथ ही एक केले को इतनी ऊँचाई पर टाँग दीजिये कि वह उसकी पहुँच के बाहर हो। पास ही में एक डडा रख दीजिये। शिपाजी कुछ ही प्रयोगों के बाद उस डंडे की सहायता से केले को तोड़ कर खा लेगा। इससे पता चलता है कि जिसे हम प्रतिभा कहते हैं वह परिस्थिति को पूर्ण व्यवस्थिति के प्रति ही क्रियाशील होती है, खडाशो के प्रति नहीं। इस सम्बन्ध में दो एक और प्रयोग किये गये हैं जिनके द्वारा गेस्टाल्ट के सिद्धांतों का समर्थन होता है और जिनका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। कोहलर के पास एक शिपाजी था जो सबसे तेज था। उसके सामने एक विशेष समस्या रखी गई थी। दो डंडे रख दिये गए थे। वे दोनो ऐसे थे कि एक दूसरे मे घुसेड़ कर इतने लम्बे बनाये जा सकते थे कि खास ऊँचाई पर रखे केले को उनकी सयुक्त लम्बाई से तोड़ा जा सके। पर वे अलग-अलग इस काम के लिये छोटे पड़ते थे। वह शिपांजी करीब-करीब एक घण्टे तक कभी एक

डडे से तो कभी दूसरे से केले तोड़ कर खाने का प्रयत्न करता रहा। अन्त में हार कर बैठ गया और वह अन्यमनस्क भाव से डडे से खेलता रहा तब तक ये दोनों डडे जुड़ गये। शीघ्र शिपाजी उनके सहारे से केले को तोड़कर खाने लगा। दूसरे दिन भी देखा गया कि इस ज्ञानोपलब्धि की स्मृति बनी रही। इन सब तथा एतादृश अनेक अन्य प्रयोगो से यही निष्कर्ष निकलता है कि जब कभी ज्ञानोपलब्धि होती है तो वह पारस्परिक सम्बन्धो की पूर्णता के साथ ही होती है।

हमारा ध्येय, गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की विस्तृत व्याख्या करना नही है। यद्यपि यह बहुत ही मनोरजक है। हमारा ध्येय इतना ही है कि हम निश्चित रूप से स्वीकार करले कि इस मनोविज्ञान के सम्प्रदाय के अनुसार कोई वस्तु निरपेक्ष नहीं होती, कोई घटना मात्र नहीं है वह कुछ और है। कोई विचार या भाव खडित नही है, सब जगह पूर्णता है। जिसके अन्दर आकर इनको रूप या आकार मिलता है जिसके कारण ही इनका सार्थकता की सिद्धि होती है। यह बड़ा ही क्रान्तिकारी दृष्टिकोण है जिसने जीवन के हर पहलू पर एक नये ढंग से विचार करने के लिये प्रेरित किया है। शिक्षा, समाज, ज्ञान विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में इसका प्रयोग होना चाहिये। यदि एक बार यह सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार कर लिया जाता है कि पूर्णता ही प्राथमिक है और खंडता गौण है, परिकल्पित है तो शिक्षिकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपनी बातों को इस ढग से विद्यार्थियो के सामने रक्खें कि उनमे इस समग्रता की दृष्टि का विकास हो। उनमें समस्या को हल करने वाली मनः स्थिति पैदा हो। साहित्यिक, कथाकार, समाज सुधारक, राजनैतिक नेताओ को अर्थात् प्रत्येक विधायक स्रष्टा को चाहिये कि वह प्रतिभा को किसी परिस्थिति में पूर्णता की ओर ही केन्द्रित करें, खडांश की ओर नहीं। खंडांश की ओर देखने से वास्तविकता हाथ नहीं लगती "तोड़ तोड़ कर सोचने की आदत छोड़ो, यह कोई निश्चतार्थ तक नही पहुँचा सकती। परिस्थिति की पूर्ण साकारता पर ध्यान को केन्द्रित करो। उसे स्पष्टतया देखो और समस्या सी लगने वाली जो रिक्तता है उसे पहिचानो। विवरण की छोटी-छोटी बातों की छानबीन करते भी तुम्हारा ध्यान खण्ड शक्तियो को छोड़कर पूर्ण सत्य की ओर लगा रहे। तुम्हारा ध्यान इस ओर लगा रहना चाहिये कि विवरण की इन छोटी-छोटी बातों का परिस्थिति की पूर्णता मे क्या स्थान है।*

---

*Werthermeir का यही संदेश था। इसी बात को Wood Worth ने भी अपनी Contemporary Schols of Psychology नामक पुस्तक में गेस्टाल्ट के सिद्धान्तों को समझाते हुए लिखा है— Avoid piecemeal thinking which is, sure to be blind Concentrate upon the struct re of the situati on get that clearly in view and locate the gap in it which constitute the problem. In scrutinizing details be always . looking for structural pattern than piecemeal truth" asking yourself what role each d etail play in the structure of the whole situation.

और वे ऐसी पद्धति की माँग करने लगे जो वैज्ञानिक पद्धति की तरह ठोस हो, दृढ़ हो और जिसे प्रयोगशालाओं के निश्चित वातावरण में भिन्न-भिन्न रूप में परीक्षा लेकर देखा जा सके। इसी माँग की पूर्ति के फलस्वरूप मनोविज्ञान के क्षेत्र में आचरणवाद का जन्म हुआ जिसे लोगों के सामने उपस्थित करने का श्रेय दो ही व्यक्ति को है अमेरिकी वाटसन को और रूसी पावलभ। वाटसन की आचरण नामक पुस्तक (Behaviour) १६१४ में प्रकाशित हुई तथा इससे भी एक वर्ष पूर्व उसने कुछ व्याख्यान दिये और पत्रिकाओं में कुछ लेख भी लिखे थे। उनके अध्ययन से वाटसन का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। वाटसन की दृष्टि वस्तुनिष्ठ है। वे मनोविज्ञान की भी व्याख्या उन सज्ञाओं के सहारे करना चाहते हैं जिनका ठोस रूप हम समझ सकें, जिनके बारे में किसी तरह के संदेह की गुंजाइश न हो। उन्होंने कहा कि मनोविज्ञान मानव के अन्तःप्रदेश के अंधकार में चलती रहने वाली प्रक्रिया का नाम नहीं है। वह मनुष्य के बाह्य आचरण शारीरिक अनुभवों के ऊपर विचार करने वाला एक शास्त्र है। हमें इसी परिभाषा को दृढ़ता के साथ पकड़े रहना चाहिये। पूर्व में लोग हुए हैं जिन्होंने मनोविज्ञान को आचरणवादी परिभाषा दी है पर व्यवहार में इस सिद्धान्त का वे पालन नहीं कर सके हैं। मनोविज्ञान में चैतन्य मानसिक स्थिति, चेतन मस्तिष्क, इच्छा भाव कल्पना इत्यादि जैसी धारणाओं को लाना सीधी बात को उलझा देना है। हम मनुष्य को उसकी बाहरी क्रिया कलापों द्वारा उत्तेजित वस्तु तथा तज्जनित प्रतिक्रिया के रूप में, अभ्यास निर्माण तथा अभ्यास समन्वय के रूप में अच्छी तरह समझ सकते हैं। 'चेतन मस्तिष्क की बात छोड़ो, आन्तरिक चेतना की बातें न करो, आत्म निरीक्षण को गोली मारो, मानसिक धारणाओं की बात दूर करो तथा मस्तिष्क के अन्दर कौन सी धारा काम कर रही है उसका विचार भी दूर करो। तुम्हारे सामने दो ही ठोस वस्तु है उत्तेजनक मानव तथा तज्जनित मानव प्रतिक्रिया। इन्हीं पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हो, इतना ही हमें करना चाहिये। आगे बढ़ना एक अज्ञात और अज्ञेय क्षेत्र में प्रवेश करना है। अतः इन लोगों ने निर्णय किया कि मनोविज्ञान एक ऐसी शास्त्रीय व्यवस्था की नींव डालनी चाहिये जिसके द्वारा प्रवर्तक वस्तु एवं तज्जन्य प्रक्रिया की परिभाषा में, मनुष्य के बाह्याचरण के रूप में मनोवैज्ञानिक मान्यताओं की व्याख्या की जा सकें। अन्यथा अपना अस्तित्व ही मिटा डालना चाहिये। पहले मनोविज्ञान दर्शनशास्त्रका अंग था वैसे ही वह अपने अतीत की ओर लौट चले। मध्यकालीन युग की आत्मा की तरह अस्पृष्ट, अदृष्ट, अनाघ्रात, अछूत, अनास्वाद्य एक शब्द में इन्द्रियातीत अन्तर्दर्शन चैतन्य Conscious जैसे पदार्थ को ला बैठाने से तो कोई लाभ नहीं होता। यह युग विज्ञान का, अधिभौतिक शास्त्र का है, रसायन शास्त्र का है। जिसमें विज्ञान की दृढ़ता तथा प्रयोगशालीनता का अभाव है उसे जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं। उसका ध्यान इस ओर जाने लगा

कि देखें की प्रयोगशाला का कुत्ता भोजागम सूचक विविध बाह्य उत्तेजनाओं के प्रति कैसे कैसे भिन्न आचरण करता है। इसी अध्ययन के फलस्वरूप Conditioned Reflex वाले विश्व प्रख्यात सिद्धान्त का जन्म हुआ।

यह (Conditioned Reflex) क्या है ? यदि कुत्ते को माँस का टुकड़ा या कोई ऐसी वस्तु दी जाय जो उसकी भोज्य सामग्री हो तो उसके मुँह में लार भर आवेगी। यह क्रिया नैसर्गिक होगी पावलभ के शब्दों में यह क्रिया (Innate या Absolute Reflex) है। यदि कुत्ते के सामने एक घंटा बजाई जाय तो उसके मुँह से लार का निकलना कभी संभव न होगा। परन्तु माँस के टुकड़े के साथ ही घंटी भी बजाई जाय तो आप देखेंगे कि ६० या ७० बार की समकालीनता के बाद केवल घंटी की ध्वनि मात्र भोज्याभाव के बावजूद भी लार निस्सरण करने में समर्थ हो सकेगी। दो उत्तेजनाओं भोजन सामग्री तथा घंटी की ध्वनि दोनों के यौगपत्य की छाप कुत्ते पर पड़ गई है और उसमें एक नई प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई है कि वह ध्वनि के श्रवण से ही उसमें लार निस्सरण वाली प्रतिक्रया होने लगती है। यह प्रतिक्रिया कृत्रिम है, अल्पकालीन है। इसी प्रतिक्रिया को पावलभ ने (Conditioned Reflex) कहा है। वह प्रतिक्रिया जो अपने नैसर्गिक आधार के सिवा दूसरी कृत्रिम उत्तेजनाओं द्वारा जगाई जाये तो वह (Conditioned Reflex) है। यह लार निस्सरण विशुद्ध नैसर्गिक प्रतिक्रिया है और माँस का टुकड़ा या कोई भोज्य पदार्थ नैसर्गिक उत्तेजना, घंटी की ध्वनि लार निस्सरण की नैसर्गिक उत्तेजना नहीं है। पर एक अवस्था विशेष में वह इस प्रतिक्रिया विशेष को उत्पन्न कर रही है। अतः घंटी की ध्वनि मात्र से उत्पन्न लार निस्सरण प्रतिक्रिया को (Conditioned Reflex) कहेंगे और घण्टी की ध्वनि को (Conditioned Stimulus) अर्थात् कृत्रिम उत्तेजना।

आगे चलकर पावलभ ने इसी अभ्यस्त क्रिया सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये। इन प्रयोगों को भिन्न अवस्थाओं के बीच करके देखा और मनोविज्ञान के बहुमूल्य सिद्धान्तों का अनुसंधान किया। आप कुत्ते के सामने एक काले रङ्ग का तख्ता रखिये। बाद में हटा दीजिये, तत्पश्चात् घंटी बजा कर खाद्य पदार्थ दिये जाने की व्यवस्था कीजिये। कुछ समय के उपरान्त आप पायेंगे कि काले तख्ते को देखते ही कुत्ते में लार स्रवण की क्रिया प्रारम्भ हो जायेगी। इस तरह अनेक प्रयोग के बाद पावलभ इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उपयुक्त अभ्यास से किसी भी वस्तु से कोई भी प्रतिक्रिया जगाई जा सकती है। उदाहरणार्थ बिजली के कष्टकर आघात खाकर भी कुत्ता प्रसन्नतापूर्वक लार स्रवण की क्रिया में प्रवृत्त हो सकता है। दूसरी ओर यह अवस्था उत्पन्न की जा सकती है कि बासुरी की सुरीली आवाज सुनकर उसमें रोषावेश के लक्षण प्रकट होने लगें और वह लार स्रवण की क्रिया बन्द कर दे। दूसरे शब्दों में पावलभ अपनी इच्छानुसार

कुत्ते को चाहे जैसा बना सकता था, स्वाभाविक प्रतिक्रिया को दमित कर उसके स्थान पर आश्चर्यजनक असाधारण प्रतिक्रिया की स्थापना कर सकता था। कुत्ते को शाकाहारी तथा फलाहारी बना, देना सर्प और नेवले को मैत्रीपूर्वक रहना सिखला देना कोई कठिन बात नहीं है। कुत्ते का वृहद मस्तिष्क उत्तेजक (Exciting) और अवरोधक (Inhibitory) प्रेरणाओं को ग्रहण करने वाला एक जटिल यंत्रागार है और इन उत्तेजक तथा अवरोधक प्रेरणाओं के पारस्परिक संघर्ष के द्वारा ही यह निश्चित होता है कि कुत्ते की प्रतिक्रिया कौन सा रूप धारण करेगी।

आचरण के क्षेत्र में कुत्ता और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं। जो बात कुत्ते के लिए लागू है वह मनुष्य के लिये भी उतनी ही ठीक है। बालक बहुत थोड़ी स्वाभाविक क्रिया सामर्थ्य (Reflex) के साथ जन्म लेता है। पर ज्यों-ज्यों बढ़ने लगता है, जैसी जैसी परिस्थितियो का सामना करना पडता है उनमे नई नई प्रतिक्रियाये उत्पन्न होने लगती हैं। वह देखता है कि संघर्ष में टिकने के लिये कहीं तो उसे स्वाभाविक क्रियायें दबा कर रखनी पड़ती हैं और कहीं उभार कर। परिस्थिति जन्य अवरोधक प्रेरणाओं के कारण बालक की प्राथमिक या मौलिक क्रियाओं का रूप विधान सदा परिवर्तित होता रहता है परन्तु यह सारी प्रक्रिया अर्थात् जीवन की माँगों से सामजस्य बैठा लेने की प्रक्रिया यंत्रवत् चलती रहती है। मनुष्य की इच्छा या चेतना का इसमें कोई हाथ नहीं होता। कहने का अर्थ यह है कि पोपोलोफ के हाथों पड़ कर मनुष्य एक यन्त्र मात्र रह गया। जिस तरह भौतिक या रसायन शास्त्र अणु को इकाई मान कर चलता है उसी तरह पावलभ ने प्रतिक्रिया वृत्त खंड Reflex Arc को ही मनोवैज्ञानिक इकाई के रूप मे ग्रहण कर मनोविज्ञान को बाह्यार्थ निरुपणी दृष्टि से देखने के प्रयास से मनोविज्ञान के स्वरूप मे एक क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। वह अन्तदर्शन की रहस्यमयी कन्दरा से निकल कर विज्ञान की दृढ़ भूमि पर आकर विराजमान हो गया।

इस रूसी आचरणवाद की परम्परा को अमेरिका के वाटसन ने आगे बढ़ाया। इन्होने मनोविज्ञान के सम्बन्ध मे अनेक अनुसधान किये हैं तथा शिशु मनोविज्ञान के व्यवस्थित अध्ययन के प्रथम उन्नायकों में इनका नाम लिया जाता है। इनके व्याख्यान तथा तीन पुस्तकों में आचरणवादी मनोविज्ञान सम्बन्धी सारे सिद्धान्तों का सकलन प्राप्त हो सकता है। आचरण १९१४ (Behaviour 1914) नामक ग्रंथ में पशुओं के मनोविज्ञान की आचरणवादी व्याख्या की गई है। दूसरी पुस्तक है मनोविज्ञान आचरणवादी दृष्टिकोण से, १९२४-२५ (Psychology form the Stand point of Behaviourism, 1924-25) जिसमें शिशुओं और प्रौढ़ व्यक्तियों के आचरण का अध्ययन किया गया है।

आचरणवादियों ने मानव मनोविज्ञान को विशुद्ध रूप से वस्तुनिष्ट Objective

रूप देने के उद्देश्य से केवल दो ही बातों को अपने अध्ययन का विषय बनाया। एक तो बाह्य उत्तेजक वस्तु को जिसे अंग्रेजी में Stimulus कहते हैं और दूसरे मनुष्य के तत्सम्बन्धी आचरण प्रतिक्रिया को (Response)। मनुष्य के अन्दर कहीं देखने की, पीड़ा अनुभव करने की, सूँघने की चेतना प्रक्रिया होती भी हो तो उसे स्वीकार नहीं थी। इस तरह की कोई चेतन प्रक्रिया होती भी हो तो उसे वैज्ञानिक रूप में देखने और परीक्षा करने के साधन हमारे पास नहीं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिये हम प्रतिक्रिया करने वाले मानव, आचरण करने वाले मानव को ही ले सकते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य देखता है, सुनता है; इतना ही कह सकते हैं कि उसमें इस तरह की चाक्षुप या श्रावणिक प्रतिक्रिया होती है। आपके सामने पटाखे की आवाज हुई। आवाज होते ही आप चौंक पड़े अथवा बोल उठे कि आवाज बड़ी तेज थी। आपके नासारन्ध्र के तन्तुओं में किसी गन्ध का सम्पर्क हुआ। आपमें उसे सूँघने की प्रतिक्रिया होने लगी अथवा आपने कहा कि गंध बड़ी तेज है। किसी भी सूरत में आप प्रतिक्रिया को ही अध्ययन का विषय बना सकते हैं चाहे वह प्रतिक्रिया कायिक या वाचिक हो तापमापक यंत्र Thermometor मानव शरीर के उत्ताप का उल्लेख अवश्य करता है पर इससे अनुमान करना कि उसे उत्ताप की मात्रा की अनुभूति भी होती है क्या उचित होगा? नहीं। उसी तरह जीव को जिसमें पशु और मानव सब सम्मिलित हैं प्रतिक्रिया करते देखकर उसकी अनुभूति की भी कल्पना कर लेना गलत होगा। तिस पर भी इस चेतना की बात पर आस्था नहीं करने से हम कुछ घाटे में नहीं रहेंगे। हम मानव का अध्ययन उनके अभाव मे भी आचरणवादी रूप में अच्छी तरह वैज्ञानिक ढङ्ग से कर सकते हैं। यदि आचरणवादियों के विरोधी दल की ओर से यह आपत्ति की जाय कि सब उत्तेजक वस्तु तो प्रत्यक्ष नहीं होती तथा मनुष्य के सब व्यापार भी तो प्रत्यक्ष नहीं होते? उदाहरणार्थ, मैं यहाँ बैठा हूँ। यकायक मुझे पुरानी बात स्मृति मे आई और मेरा मन घृणा के भाव से भर गया। ऐसी अवस्था में न तो उत्तेजक वस्तु ही सामने है न तज्जनित कोई बाहरी क्रिया ही दृष्टिगोचर हो रही है। एतादृश मानव पर आचरणवादी वस्तुनिष्ठ दृष्टि से विचार कैसे किया जा सकता है? मनुष्य के भाव और उसके विचारों की क्रिया तो अन्तर्जगत मे होती है। फिर इस अन्तः व्यापार के अध्ययन के लिए तो एक ही साधन हो सकता है अन्तर्दर्शन इस पर हम वाह्यनिष्ठ दृष्टि से कैसे विचार कर सकते हैं?

आचरण के दो प्रकार : बाह्य और आंतरिक

इसके उत्तर में आचरणवादी मनोवैज्ञानिकों का निवेदन है कि मनुष्य के आचरण दो प्रकार के होते हैं बाह्य (Explicit) और आन्तरिक (Implicit)। बाह्य का अर्थ दृश्य जिनको हम देख सकते हैं। आन्तरिक वे जिनको साधारण रूप में

देखना सम्भव नहीं होता। जिनको देखने के लिये किसी विशिष्ट प्रणाली का आश्रय लेना पड़ता है। सोचने विचारने की क्रिया तथा मनोवेगों को इसी आंतरिक प्रतिक्रिया की श्रेणी में लिया जा सकता है। इस बाह्य और आंतरिक प्रतिक्रिया में आकार का भेद भले ही हो पर प्रकार का नहीं। ये आंतरिक होते हैं सही, पर ये हैं प्रतिक्रियायें ही। अभी तक ऐसे सूक्ष्म यंत्रों का निर्माण नहीं हुआ जिनके द्वारा इन्हें इन्द्रियगोचर किया जा सके पर इससे इनके प्रतिक्रियात्व या आचरणत्व में कोई बाधा नहीं होगी।

तर्क या विचार की क्रिया

मानव विचार क्रिया के वास्तविक स्वरूप के ऊपर वाटसन ने जो अपनी मान्यतायें प्रकट की हैं वे युक्तियुक्त मालूम पड़ती हैं, बोधगम्य हैं और प्रसिद्ध हैं। अतः उन्हीं पर पहिले विचार किया जाय। वाटसन कहेंगे कि इस बात को स्वीकार कर लेने में किसी को आपत्ति नहीं होगी कि जब हम विचार-मग्न होते हैं तो उस समय भी एक तरह से बात ही करते हैं। भले ही वह बात दूसरों को सुनाई न पड़े। विचारक्रिया भी बाह्य क्रिया है, विचार भी मौन वार्तालाप है। जिस तरह श्रव्य रूप में बातें करते समय हमारी वागेन्द्रियां और तत्सम्बन्धी अवयव क्रियाशील रहते हैं वही क्रिया विचार अर्थात् मौन वार्तालाप के अवसर पर भी जारी रहती है। भेद इतना ही है कि वह इतनी सूक्ष्म होती है कि उसको ग्रहण करना दूसरों के लिये कठिन होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक छोटा सा शिशु किसी कार्य करने में, जैसे खिलौने को देखने के साथ और खेलने के साथ बातें भी करता जाता है। पहिले वह जोर से बोलता था अब धीरे-धीरे बोलता है। बाद में केवल होठों को स्पन्दित करके ही रह जाता है। अन्त में वह अवस्था भी आ जाती है कि कुछ भी बाह्य शारीरिक चेष्टा नहीं दिखलाई पड़ती वह आंतरिक हो जाती है। वही प्रौढ़ विचार क्रिया है जो मौन वार्तालाप और Sensation Motor के आचरण के रूप में समझी और समझाई जा सकती है। उसके लिये किसी चेतना की कल्पना करना बात को और भी उलझा देना है।

वाटसन और शिशु मनोविज्ञान

ऊपर कहा गया है कि वाटसन ने अपनी पुस्तकों में शिशु मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों को लिपि-बद्ध किया है। उसने कहा कि बालकों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बालकों के भावात्मक आचरण के तीन ही मूल रूप होते हैं। भय, क्रोध और प्रेम। चूंकि इन तीन भावात्मक आचरणों के सिवाय अन्य कोई रूप दृष्टि-गोचर नहीं होता अतः इन्हीं तीनों को मनुष्य की मौलिक भावनायें स्वीकार कर लेनी चाहिये। भय की उत्पत्ति आधार नष्ट होने तथा तेज, भारी जोर की आवाज से होती है। बालक की स्वाभाविक स्वच्छन्दता में हस्तक्षेप तथा अवरोध से क्रोध की तथा शरीर के सहलाने तथा थपथपाने से प्रेम की उत्पत्ति होती है इन तीनों भावनाओं के मूल

कारण निश्चित हैं पर परिवर्तित क्रिया की पद्धति के द्वारा किसी भी कारण से कोई भाव उत्पन्न किया जा सकता है। भय की बात ही लीजिये। यह प्राथमिक रूप में भारी आवाज तथा आधाराभाव से उत्पन्न होता है। पर हम चाहें तो जहाँ भय का नामो निशान भी नहीं होना चाहिये वहाँ भय की सृष्टि कर सकते हैं। एक बालक खिलौने को पकड़ने के लिये प्रसन्नता पूर्वक अग्रसर होता है। तब तक आवाज दी, खट। वह रुक गया और भयभीत मुद्रा से इधर उधर देखने लगा। फिर आगे लपकता है तब तक आवाज आई खट, अब वह अधिक भयभीत हुआ। इस खट खट क्रिया के इस रूप में पर्याप्त पुनरावृति होने पर बालक खिलौने से भयभीत होने लगेगा। दूसरे शब्दो में जहाँ भय नहीं था वहाँ स्थापित कर दिया गया। वाटसन का कथन था कि इस तरह की परिवर्तित भावनाओं का उन्मूलन करना कठिन होता है। बहुत से मनुष्यो में किसी वस्तु के प्रति अकारण ही भय घृणा द्वेष इत्यादि के भाव पाये जाते हैं जिनसे उसका पिंड छुड़ाना कठिन हो जाता है वे भले ही इनकी निरर्थकता को अच्छी तरह अनुभव करते हो।

वाटसन और वातावरणवाद

अन्त में आते आते वाटसन का आचरणवाद वातावरणवाद में परिणत हो गया। वंशानुक्रम से प्राप्त मानसिक विशिष्टताओ एवं सहज प्रवृत्तियों को उसने अपनी विचार सरणि से दूर कर दिया और उसने अपना सारा ध्यान वातावरण के ऊपर ही केन्द्रित कर दिया। उसने कहा कि मनुष्य के विकास मे वातावरण का ही सर्वाधिक महत्व है। मनुष्य के चारो ओर अनुकूल वातावरण की सृष्टि कर उसे जिस रूप मे चाहें मोड़ा जा सकता है। यहाँ पर उसके शब्द उद्धृत किये जाने योग्य है "यदि मुझे अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने की स्वतंत्रता हो तो मै किसी भी साधारण शिशु को अपने इच्छानुसार किसी विषय में विशेषज्ञ बना सकता हूं, चिकित्सक, वकील, कलाकार, श्रेष्ठ व्यापारी यहाँ तक कि उसे भिखमंगा और चोर बना सकता हूँ। चाहे उसकी प्रतिभा, रुचि, प्रवृत्ति, योग्यता तथा व्यवसाय कुछ भी हो और किसी भी वंश में उसने जन्म ग्रहण किया हो।"

वाटसन के पश्चात् लैशले, टोलमैन, हल्ल और स्किनर आदि अन्वेषकों ने आचरणवादी मनोविज्ञान की परम्परा को अग्रसर किया। यद्यपि वे अपने को आचरणवादी ही कहते हैं फिर भी उनके अनुसंधानो के सहारे आचरणवादी और अन्तर्दर्शन पद्धति पर आधारित मनोविज्ञानों का पार्थक्य कम होता गया है। इन लोगों ने अंतर्दर्शन की प्रतिक्रिया को ही आचरणवादी और वस्तुनिष्ठ भाषा में अभिव्यक्त किया है। इन लोगों की मनोवृत्ति यह मालूम पड़ती है कि मनोवैज्ञानिक अनुसधानों के क्षेत्र में अंतर्दर्शन को दूर करने की कोई आवश्यकता नहीं। उनको ही इस रूप में उपस्थित

किया जा सकता है कि वे वैज्ञानिक परीक्षा के वशीभूत हो सकें। किस तरह उन्हें योग्य बनाया जाय यह एक अति पारिभाषिक विषय हो जायेगा जिसके क्षेत्र में प्रवेश करना यहाँ आवश्यक नहीं।

अन्य मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय

ऊपर की पंक्तियों मे आधुनिक मनोविज्ञान के तीन सम्प्रदायों का परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त बहुत से मनोवैज्ञानिक किसी भी सम्प्रदाय से असंलग्न होकर अपने वैयक्तिक रूप में अनुसंधान का कार्य कर रहे हैं और उन्हें किसी सम्प्रदाय विशेष की श्रेणी मे रखना असम्भव है। पर फिर भी कुछ मनोवैज्ञानिकों को उनकी विशिष्टताओं के आधार पर प्रवृत्तिवादी (Hormic) और जीवी (Holistic) कहा जा सकता है। प्रवृत्तिवादी मनोविज्ञान के समर्थकों में मैकडुगल प्रसिद्ध है और जीवी मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से अनुसंधान करने वाले मनोवैज्ञानिकों मे (Adolf Meyer 1866 George Ellett Coghill (1872-1949) के नाम लिये जाते हैं।

प्रवृतिवादी मनोविज्ञान

मैकडुगल द्वारा प्रचारित मनोविज्ञान के सम्प्रदाय के द्वारा हमें कोई ऐसी विशेष बात नहीं मिलती जो अन्य सम्प्रदायों द्वारा प्राप्त न होती हो। इनकी सबसे प्रसिद्ध संस्थापना को हम प्रवृत्ति सिद्धान्त (Theory of Instinct) के नाम से पुकारते हैं। इस सिद्धान्त के द्वारा मनुष्य मे नैसर्गिक रूप से काम करने वाली मूल प्रवृत्तियों को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया गया है। एक दल के विचारक हैं जिन्हें सुखवादी (Hedonist) कह सकते हैं। उनका कहना है कि जितनी हमारी इच्छाएँ होती हैं, उनके मूल में आनन्द प्राप्ति की भावना रहती है। पर आनन्द को मूल मान लेना और इच्छा को गौण बना देना गलत रूप से देखना है। भोजन कब आनन्दप्रद होता है? जब हम क्षुधित होते हैं अर्थात् जब हमें भोजन की इच्छा है। जब हमें भूख नहीं, भोजन की इच्छा नहीं तब भोजन में आनन्द देने की शक्ति नहीं। इसलिये इच्छा ही हमारे मानसिक जीवन का अधिक मूलभूत प्रकार है और इस मूलभूत तत्व को पहिचानना हमारा कर्त्तव्य है। इन मूलभूत मानसिक तत्वों को (Instinct) कहा जाता है। मैकडुगल अनेक जाँच पड़ताल के बाद इस नियम पर पहुँचे कि मनुष्य में नैसर्गिक रूप से १२ प्रवृत्तियाँ रहती है। इन प्रवृत्तियों में तीनों प्रकार के ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक अनुभव रहते हैं। उदाहरण के लिये खतरे मे बचने की सहज प्रवृत्ति है। इसका ज्ञानात्मक पहलू यह है कि जिसमें मनुष्य शीघ्र ही खतरे को पहिचान लेता है। इस बोध के साथ ही उसकी सहचर भावना भय जागती है और काँपना, भागना इत्यादि क्रियात्मक रूप को उत्पन्न करती है। जितनी सहज प्रवृत्तियाँ हैं उनमें प्रत्येक मे सहचर भावना और क्रियायें लगी रहती है। समय और परिस्थितियों की शिक्षा

और अनुभव के अनुसार इन सहज प्रवृत्तियों के बाह्य रूप में परिवर्तन हो सकता है पर मूलतः वे ज्यों की त्यों रहती हैं। युयुत्सा (Fighting) की सहज प्रवृत्ति के रूप का दो कारणों से परिवर्तन हो सकता है। जब बालक के स्वच्छन्द अंग संचालन और कार्य व्यापार में प्रतिरोध होता है वह हाथ पैर चलाने लगता है अथवा रोता है। आगे चलकर वह अवस्था आ सकती है कि बालक में क्रोध उत्पन्न करने के लिये उसके व्यापारावरोधक स्थूल कारणों की आवश्यकता न पड़े। वह स्थूल कारण सूक्ष्म रूप धारण कर ले। सम्भव है थोड़ा भ्रूभंग या थोड़ी डाँट बालक में क्रोध की लहरें उत्पन्न कर दे और वह हाथ पैर चलाने के स्थान पर मारने के लिये, गाली देने के लिये या अपने शत्रु को किसी अन्य प्रकार से पीड़ित करने पर उद्यत हो। यद्यपि इन दोनों व्यापारों में बाह्य दृष्टि से अनेक अन्तर हैं और इन दोनों के मूल में रहने वाली सहज प्रवृत्ति एक ही है।

सहज प्रवृत्तियों में एक विशेष तरह का परिवर्तन होता है तब ये भाव (sentiments) का रूप धारण कर लेती हैं। जब बहुत सी सहज प्रवृत्तियाँ एक वस्तु विषय या विचार के चारों ओर एकत्र हो जाती हैं तो उनके सम्मिलित रूप को भाव कहते हैं। देशभक्ति को हम भाव कहते हैं; सहज प्रवृत्ति नहीं। देशभक्ति के भाव सब में वर्तमान रहते हैं पर इसी से देशभक्ति नामक एक सहज प्रवृत्ति मान लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तव में देश के नाम पर कितनी ही सहज प्रवृत्तियाँ संलग्न हो जाती हैं। हम देश के लिये अपने को (Assert) कहते हैं। अपनी क्षमता का प्रदर्शन करते हैं (Self assertion) देश के लिये युद्ध करते हैं (combat) उसके लिये डरते हैं (Fear) उसके प्रति आत्म समर्पण करते हैं, देश के लिये बड़े कोमलभाव धारण करते हैं (parental instinct)।

अतः इन सब प्रवृत्तियों ने देश के साथ सम्बद्ध होकर देशभक्ति नामक भाव का रूप धारण कर लिया है। मैक्डुगल का कहना यह नहीं है कि हमारा जीवन सहज प्रवृत्तियों द्वारा संचालित होता है जैसा कि कुछ लोगों की धारणा है। नहीं, जीवन का सञ्चालन भावों (Sentiments) के द्वारा होता है जो सहज प्रवृत्तियों की भावनात्मक शक्ति से संचालित होते हैं। मनुष्य के जीवन व्यापार और उसके कार्य कलाप बौद्धिक धारणाओं के द्वारा रूप धारण नहीं करते परन्तु उनके मूल में राग द्वेष, उत्साह, प्रतिद्वन्द्विता, अभिरुचि, राग विराग इत्यादि भावों का निवास है जिनका मूल स्रोत सहज प्रवृत्तियाँ हैं जिनकी प्रेरणा शक्ति का सहारा पाकर ये इतने परिणामक, पुरअसर या कारगर हो जाते हैं।

एक बालक पकड़ लिये जाने पर हाथ-पैर हिलाता है और वयस्क समाचार-पत्र में अपनी निन्दा की बातें पढ़कर सम्पादक के पास आक्रोश-पूर्ण पत्र लिखने के लिये

अग्रसर होता है। दोनों के मूल में काम करने वाली सहज प्रवृत्ति में कोई अन्तर नहीं हालाकि दोनो के कार्य व्यापार बाह्य दृष्टि से भिन्न है।*

अतः ध्यानपूर्वक देखने से मैकडुगल के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का महत्त्व यही मालूम पड़ता है कि इसने इस विश्व और सारे कार्यारम्भ की शृङ्खला में व्यक्ति और सहज प्रवृत्तियो का महत्त्व बढ़ा दिया। उसने बतलाया कि इस ससार की किसी भी राजनैतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक व्यवस्था में हमें सहज प्रवृत्तियों की अवहेलना का अत्यधिक मूल्य देना पड़ेगा। इस मनोविज्ञान का सबसे अधिक विरोध उन लोगों के द्वारा हुआ जो अपने को परिस्थितिवादी (Environmentalist) कहते हैं जिनका सिद्धान्त यह है कि मनुष्य के विकास मे तथा विश्व की व्यवस्था में सबसे अधिक हाथ बाह्य परिस्थितियों का है। सहजप्रवृत्तिवादियों की मान्यता है कि मानव के विकास या चारित्रिक गठन पर और दूसरी बातें भले ही अपना प्रभाव डाल लेती हों पर उनका नेतृत्व सहज प्रवृत्तियाँ ही करती है। पर परिस्थितिवादियों का दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है कि परिस्थितियाँ ही सिर्फ, विशेषतः मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ ही, हमारे चरित्र निर्माण घटकों का सम्पादन करती हैं। जिसको मैकडुगल महोदय सहज प्रवृत्तियाँ कहते हैं ये मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियाँ नहीं हैं पर परिस्थितियों की अवस्था मे संयोजित एकाधिक प्रवृत्तियों के योग से उनका निर्माण हुआ है। एक मानवी माँ अपने बच्चे का पालन करती है पर इसका अर्थ यह नहीं है कि यह पालन वृत्ति किसी मौलिक सहज मातृ प्रवृत्ति (Mothering Instinct) के परिणाम स्वरूप है। परन्तु यह एक जटिल क्रिया है जो बूढ़ी नारियों और डाक्टरों के अनुकरण करते-करते सीख ली गई है। यही बात मैकडुगल द्वारा प्रतिपादित अन्य सहज प्रवृत्तियों के बारे में कही जा सकती है और दिखलाया सकता है कि उन सब क्रियाओं का रूप बड़ा जटिल है।

अब अन्त मे (Holistic) सम्प्रदाय पर विचार करना चाहिये। इन लोगों का कहना है कि अन्य जितने भी मनोवैज्ञानिक हैं उनका दृष्टिकोण एकाकी है। यदि मनुष्य के सच्चे स्वरूप को समझना है तो हम मनुष्य को पूर्ण इकाई के रूप में समझें। सहज प्रवृत्तियो के माध्यम से, अचेतन के माध्यम से अथवा व्यवहारवाद के माध्यम से ही मनुष्य पर विचार करना समस्या को विकृत और छोटा करके देखना है। मनुष्य पर विचार करते समय उसकी समस्या का निदान किसी शारीरिक विकार में अथवा बाल्य-कालीन किसी दमित आकांक्षा में मिल जाय, ठीक है पर मनुष्य की मानसिक अवस्था

---

* Where to fight and how to fight are but the primary motive of fighting back against interference which remains the same from infancy to old age.

और उसकी विकृतियाँ धीरे-धीरे विकसित होती हैं और उसका कारण होता है समाज के प्रति उसका दोषपूर्ण दृष्टिकोण। उदाहरणार्थ समस्या को वास्तविक रूप में न देख कर कल्पना के जगत में पलायन करने की प्रवृत्ति। अतः किसी असाधारण मानस वाले व्यक्ति पर विचार करते समय उसे इसी रूप में देखना चाहिये कि उसे एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा है जो उसको शक्ति के बाहर है। ऐसा करना गलत होगा कि किसी तरह तोड़ मरोड़ कर उसे मनोविज्ञान के द्वारा निर्धारित किसी मानसावस्था की श्रेणी में ला पटका जाय।

पाद टिप्पणियाँ

1. Freud—His dream and sex theories by Joseph Jastrow Pocket book Edition, First printing June 1948 Page 11-16.
2. Normal and abnormal Psychology by J Ernest Nicole 1948 chapter three P 50-55.
3. Introductory lectures on psycho analysis by S. Freud, P,
4. Contemporary Schools of Psychology by R. Woodworth 8th. Edition 1949, P.
5. Normal and abnormal Psychology by J. Ernest Nicole 1948—Page 45.
6. Psychiatry for every man by J A. C. Brown Philosophical Library, New Yark 1947 Page 96-97.
7. अन्य सम्प्रदायों की सामग्री मुख्यतः वुडवर्थ तथा मैकडगल की पुस्तकों से एकत्र की गई हैं।

तृतीय अध्याय

प्रेमचन्द के उपन्यास और मनोविज्ञान

प्रेमचंद का महत्व

हिन्दी साहित्य-क्षितिज पर आधुनिक उपन्यास की प्रथम किरण प्रेमचन्द के उपन्यास सेवा-सदन से प्रस्फुटित होती दिखलाई पड़ती है। जिस तरह प्रथम रश्मि के स्वागतार्थ पक्षियों के कल कण्ठ से स्वागतोच्चार के गीत फूट पड़ते हैं उसी तरह उपन्यास कला को सामयिक मांग को प्रेमचन्द के सजग विवेक ने पहचाना, उसकी सम्भावनाओं तथा आवश्यकताओं का सच्चा ज्ञान प्राप्त किया और तदनरूप वातावरण उपस्थित करने का प्रयत्न किया। उनके हाथों एक ऐसी भूमि तैयार हो पाई जिसके आधार पर खड़ी हो उपन्यास-कला युग की प्रगतिशील एवं परिवर्तनशील समस्याओं को, जटिलताओं को अपने अन्दर समाहित कर सके। यों तो प्रेमचन्द जी की उपन्यास-कला पर तथा हिन्दी कथा-साहित्य को उनकी देन पर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे जा चुके हैं, लिखे जा सकते हैं, लिखे जा रहे हैं। पर प्रेमचन्द का महत्व दो ही बातों पर निर्भर करता है कि प्रथमबार हिन्दी उपन्यास को एक क्रमबद्ध, उत्तरोत्तर, प्रवर्द्धमान, साफ सुथरी, अथ से इति तक सम्बद्ध-शृंखलित-संगठित कथा प्राप्त हुई। विदेशों में एक तरह के विशेषज्ञ होते हैं जिन्हे सौन्दर्य विशेषज्ञ कहते हैं। उनका काम है तरह तरह के उपचारों द्वारा, सौन्दर्य प्रसाधनों द्वारा तथा प्रत्येक अवयव को उचित व्यायाम देकर मानव शरीर के अंग प्रत्यंग के सौन्दर्य को निखार कर रख देना। उनके उपचार का सहारा पा मांसपेशियाँ पृथक पृथक पर संगठित रूप मे अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करती हुई सारे शरीर की शोभा वृद्धि करती हैं। कहीं भी किसी प्रकार की टूट, शिथिलता, व्यतिक्रम, अन्यथाकारिता तथा शोभा-विध्वंसक विद्रूपता नहीं दिखलाई पड़ती। एक सौष्ठव पूर्ण, सुसगठित चुस्त दुरुस्त व्यक्तित्व की मूर्ति उपस्थित हो जाती है। हिन्दी उपन्यास के कथा भाग को, कथा शरीर को परिमार्जित कर, उसके शरीर पर विद्रूप रूप से चिपके रहने वाले आवश्यक भागों को काट तराश कर सारे शरीर में स्वस्थ रक्त का संचालन कर प्रेमचन्द के हाथों प्रथम बार कथा की एक भव्य और दर्शनीय मूर्ति का निर्माण हुआ। उनकी कथा आदि से अंत तक सम्बद्ध है, कहीं भी किसी तरह की शिथिलता नहीं, सारी घटनायें जुड़ी हुई, पारस्परिक सहयोग से कथा के सौन्दर्य को अभिवृद्धि में सलग्न हैं। इस अर्थ में प्रेमचंद हिन्दी कथा के प्रथम ब्युटी एक्सपर्ट Beauty expert, सौन्दर्य विशेषज्ञ हैं

दूसरी बात यह है कि प्रेमचन्द ने प्रथम बार हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में मानव की प्रतिष्ठा की, एक सजीव हसने वाला, रोने वाला, हृदय रखने वाला, परिस्थितियो को प्रभावित करने वाला तथा उनसे प्रभावित होने वाला मानव। मानव यंत्र मात्र नहीं, वह एक बड़ी ही उलझन पूर्ण पहेली है। वह और उसकी मनोवृत्तियाँ कब और किस ओर प्रवृत्त हो जायेंगी यह कहना आसान नहीं। इस तरह के मानव का प्रवेश हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचंद के आविर्भाव के साथ होता है इसमे दो मत हो ही नही सकते। एक आलोचक के शब्दो में "हमारे जीवन का शायद ही कोई पहलू छूटा हो जिसकी गुत्थियों को प्रेमचंद ने सुलझाने की चेष्टा न की हो .प्रेमचंद भारतीय जीवन के भिन्न अंगो से परिचित थे"। प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासकारो मे इस सजीव मानव का पूर्ण अभाव था। ऐसा प्रतीत होता है कि इन उपन्यासकारों की दृष्टि वास्तविक जीवन की ओर न होकर जीवन की क्रियाओं, घटनाओं, तथा वाह्य रूपावेष्टनों की ओर थी। वे लम्बी चौड़ी घटनाओं का वर्णन करेंगे। हृदय को दहला देने वाले, बुद्धि को कुण्ठित करने वाले साहसपूर्ण कार्य-कलापो का घनीभूत रूप देवकीनन्दन खत्री के ऐयारो तथा गहमरीजी के जासूसों से बढ़ कर कहाँ देखने को मिल सकेगा, पर इतना होने पर भी इनके उपन्यासों मे मानव और मानव जीवन की अभिव्यक्ति का सर्वथा अभाव है। जीवन एक अलग चीज है और वे साधन जिनके द्वारा वह अभिव्यक्त होता है, वे रूप जिन्हें वह अपने को अभिव्यक्त करने के लिये धारण करता है अलग चीज हैं। हृदय में दर्द होता है तो मनुष्य कलेजा थाम लेता है। दर्द वास्तविक जीवन शक्ति है जो कलेजा थाम लेने के रूप में प्रगट होती है, चाहे तो वह कोई भी रूप धारण कर सकती है। पर कलेजा का थाम लेना ऐसा यान्त्रिक और रूढ़िवादी भी हो सकता है जिसका वास्तविक दर्द से कुछ भी सम्बन्ध न हो। जब ऐसा होने लगेगा, तब कहा जा सकता है कि हम वास्तविक जीवन को न देखकर उसके बाह्य रूप का ही दर्शन मात्र कर रहे हैं। हम उस शक्ति को (energy) नहीं देख रहे हैं जो रूप (Form) धारण करती* है। पर उस रूप (Form) को देख रहे हैं जो शक्ति (energy) धारण करती है। 'परीक्षा गुरु' से लेकर प्रेमचंद के पूर्व तक इसी बाह्य यांत्रिकता, तड़क भड़क, रूढ़ि और निर्जीवता का साम्राज्य था। प्रेमचंद एक सजग और सतर्क कलाकार थे। १९३६ में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष पद मे जो भाषण उन्होने दिया है उसमें उनकी बातें स्पष्ट थी। "हमने जिस युग को पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब नहीं था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने

---

*We dont see the energy, which takes from but the from teken by energy

तिलिस्म बांधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी कहीं दास्तानें ख्याल की और थी हमारे अद्भुत रस प्रेम की तृप्ति। साहित्य से जीवन का लगाव है यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था और सौन्दर्य का आँखों को।"

प्रेमचंद के उपन्यासों में मनोविज्ञान

प्रेमचंद ने हिन्दी साहित्य में पदार्पण करने के साथ ही उपन्यासों में जीवन, उसकी जटिलताओं, वैषम्य, तथा संघर्ष को समाविष्ट किया और चूँकि इन सारी क्रियाओं के साथ मानव मन और हृदय का सम्बन्ध है अतः प्रकारान्तर से इसमें मनोवैज्ञानिकता का आना अनिवार्य हो गया।

अब यह देखने की बात रह जाती है कि इस मनोविज्ञान का समावेश प्रेमचंद के उपन्यासों में किस-किस रूप में हुआ, और कितनी मात्रा में हो सका? इसके लिये उन्होंने किन-किन पद्धतियों का अवलम्ब लिया? विश्व साहित्य के क्रमिक विकास के अध्ययन से पता चलता है कि दो तरह के साहित्यकार होते हैं परम्परा-पालक और प्रयोगवादी। परम्परा-पालक श्रेणी के कलाकार वे हैं जो अपने पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा प्राप्त पद्धतियों, साधनों तथा रचना-कौशलों को ही अपने नूतन दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति के लिये प्रयोग करते हैं। नरमी से, सहूलियत से उनकी अभीष्ट-सिद्धि हो गई तो ठीक, नहीं तो गलेला देकर, उनकी पीठ पर सवार होकर हाथ में कोड़ा लेकर निर्दय होने से भी बाज नहीं आयेंगे। प्रयोगवादी क्रान्तिकारी साहित्यकार परम्परा से नाता तोड़, उसकी सारी पद्धतियों को नूतन अभिव्यक्ति के लिये असमर्थ समझ नये-नये प्रयोगों पर ही अपनी आस्था रखेगा। वह सनमकदों के बुतों को पुराने समझ नये नये बुतों की स्थापना करेगा।

प्रेमचंद, एक परम्परा पालक ही लेखक और उनके उपन्यासों में आसन्न-लेखकत्व

प्रेमचंद परम्परा पालक उपन्यासकारों की श्रेणी में ही आते हैं। अतः उन्होंने अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की व्यवस्था प्रणाली को ही अपनाया। हाँ, अपनी प्रतिभा की आँच से तपा कर उसे अधिक लचकीला अवश्य बना दिया।

प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यास वर्णन-प्रधान हुआ करते थे। वर्णन-प्रधान का अर्थ यह है कि उपन्यासकार अपनी ओर से पात्रों के जीवन में होने वाली कल्पनीय अथवा अकल्पनीय घटनाओं का वर्णन करता चला जाता था। वह हैरतअंगेज और बुद्धि के आश्चर्य चकित करने वाली घटनाओं का बृहदाकार स्तूप खड़ा करता चला जाता था। न तो वह पाठकों को ही अवसर देता था कि ठहर कर जरा वे सोचें, न पात्र ही अपनी

कहानी कह सकते थे, और न कथा बिचारी कुछ बोल सकती थी। अर्थात् लेखक के व्यक्तित्व ने कुछ इस तरह सारे वातावरण को अभिभूत तथा आतंकित कर रखा था कि कोई कुछ कर ही नहीं सकता था। वहाँ एक छत्राधिपत्य था, न तो वाणी की स्वतन्त्रता थी, न विचारो की और न कार्यो की। उपन्यासकार सर्वशक्तिमान सम्राट था और उसकी इच्छा ही नियम और कानून थी। चन्द्रकान्ता में खत्री जी का ही व्यक्तित्व सर्वोपरि छाँता हुआ दृष्टि मे आता है। न तो उनके वीरेन्द्र सिंह की ही हस्ती है और न इनको लेकर चलने वाली कथा को। हम खत्री जी को ही देखते हैं और सारी चीजें उनके आतंक के नीचे मानो साय-साय बातें कर रही हैं। वे किसी को बोलने नहीं देते, सबकी जुबान पर ताला पड़ा है। भारतीय नाटकों मे एक प्रचलित नियम था कि नाटक के प्रत्येक दृश्य को आसन्न-नायक होना चाहिये। एक भी ऐसे दृश्य की योजना न की जाय जिसमे नायक वर्तमान न हो, उसका उपस्थित रहना अनिवार्य था। प्रसाद जी के नाटकों की तरह नही कि पाँच-पाँच सात-सात ऐसे दृश्यो में नायक का पता ही नहीं है। पर यह आसन्न-नायकत्व प्राचीन भारतीय नाटको की मुख्य वस्तु थी। उसी तरह प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासो मे आसन्न-लेखकत्व की प्रधानता थी। लेखक पग-पग पर वातावरण के साथ था, उसकी दृष्टि सब ओर रहती थी, वह सर्वव्यापी और सर्वज्ञ था।

पर प्रेमचंद का आसन्न लेखकत्व पात्रों की मनोवृत्तियों की छान-बीन का कार्य करता है

प्रेमचंद के उपन्यास भी आसन्न-लेखक उपन्यास की श्रेणी में आते हैं। कथा और पाठक के मध्य मे पुनः-पुनः आ जाने के कितने उद्देश्य हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, उपन्यासकार की धारणा हो कि उसका पाठक वर्ग इतना परिपक्व बुद्धि का न हो कि वह साधारण वर्णन से आगे बढ़ कर कुछ गूढ़ बातो को समझने मे समर्थ हो सके। अतः एक सहायक का साथ रहना आवश्यक है। पर उपन्यासकार की उपस्थिति का एक यह भी प्रधान कारण हो सकता है कि वह अपने पात्रों के मनोविज्ञान से अपने पाठकों को अधिक से अधिक परिचित करना चाहता हो। कथा का उद्देश्य जहाँ केवल कथा भर कह कर रह जाना हो, थोड़ी सी कौतूहल वृत्ति को संतोष देकर रह जाना हो, वहाँ तो मनोविज्ञान के अभाव से काम चल जा सकता है पर इससे आगे बढ़ते ही मनोविज्ञान का समावेश अनिवार्य हो जाता है। और ऊपर हम कह ही आये हैं कि प्रेमचंद ने सचेष्ट होकर उपन्यासों के जीवन के सम्पर्क में लाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने यह बतलाने की कोशिश की थी कि हमारे पात्र के वर्तमान रूप धारण करने में किन-किन परिस्थितियों ने उनकी मनोवृत्तियों को किस रूप में प्रभावित किया है। यही कारण है कि उपन्यास मे लेखक का उपस्थित रहना अनिवार्य हो गया है। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकार सदा सन्नद्ध तत्पर और उपस्थित रहते थे। और प्रेम-

चंद जी भी यही करते थे। पर जहाँ अन्य पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की उपस्थिति पाठकों को जीवन-गृह से निकाल कर दुनिया के विस्तृत मैदान में भटकने के लिये छोड़ देती थी वहाँ प्रेमचद बाहर भटकते पाठकों को गृह के अन्दर की भी झाँकी देते चलते हैं। जहाँ अन्य उपन्यासकार जीवन-गृह का कुछ भी परिचय नहीं देते, जहाँ दूसरे उपन्यास-कारों की उपस्थिति पाठको को फुसला कर ही सही और नहीं तो बल प्रयोग द्वारा भी उसकी दृष्टि को बाह्य ससार मे, उसके विशालकाय पर्वतों तथा बीहड़ कन्दराओं में भटकने के लिये प्रेरित करती है, जहाँ अन्य लेखक आन्तरिक जीवन के द्वार पर सजग प्रहरी की तरह खड़े हैं वहाँ प्रेमचद अपने पाठकों को साथ ले जाकर कुछ अन्दर के रहस्यो को भी दिखला देने का कृपा करते हैं।

यही प्रेमचद और उनके पूर्ववर्ती उपन्यासकारो मे अन्तर है। नही तो प्रेमचंद के उपन्यासिकता को मूल प्रेरणा वही है जो पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की थी। हृदय की वह अवस्था जिसने उपन्यासों का रूप धारण किया है, वही है जो बाह्य घटना चक्रो के माध्यम से ही अपने स्वरूप को प्रस्फुटित कर सकती थी। दूसरे किसी रूप में ढालने के प्रयत्न से उसका विकृतरूप ही सामने आता। नहीं तो गोदान, रंगभूमि, सेवासदन, कायाकल्प जैसे बृहद्काय उपन्यास जिनके सामने चन्द्रकान्ता सतति के उपन्यास छोटे (Pigmy) जान पड़े उसका दूसरा अर्थ ही क्या हो सकता है। कहा जा सकता है कि किशोरीलाल गोस्वामी ने ६५ उपन्यासो की सृष्टि की, गहमरी जी ने १५० की पर परिमाण दृष्टि से भी प्रेमचद जी को उपन्यास कला उन्हे अगस्त ऋषि की तरह सोख ले सकती है। हाँ, प्रेमचद जी का महत्व यही है कि बाह्याचार की इस धूम-धाम मे, रेल-पेल मे भी उन्होंने थोड़े बहुत पात्रों की मनोवैज्ञानिकता का समावेश किया। उनके आन्तरिक जीवन और प्रवृत्तियो के प्रदर्शन करने की चेष्टा की और इस रूप से की उस नक्कार खाने में तूती को आवाज भी सुनी जा सकी, बाहर के तुमुल कोलाहल में भी हृदय की वन्शी को माधुरी भी प्राप्त हुई। यह कम प्रतिभा तथा प्राण-वत्ता का काम नही।

कुछ उदाहरण

सेवा सदन से :

अपने कथन की पुष्टि के लिये प्रेमचद के कुछ प्रसिद्ध उपन्यासो से उदाहरण ले लेना समीचीन होगा। यों तो प्रेमचंद ने हिन्दी मे पहिले एक दो अन्य उपन्यासो की रचना भी की थी पर एक सफल उपन्यासकार के रूप मे वे 'सेवा सदन' के साथ ही उपस्थित हुए। सेवा सदन के प्रथम परिच्छेद मे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम ऐसे औपन्यासिक के सम्पर्क मे आ रहे हैं जिसका ध्यान बाह्य स्तूपाकार घटनाओं की सजावट के साथ हृदय के अन्तर्द्वन्द्व की ओर भी गया है। दरोगा श्री कृष्णचन्द्र बड़े

ही उदार, सज्जन, रसिक और सबसे ऊपर इमानदार व्यक्ति थे। रिश्वत को वे काला नाग समझते थे। पर अपनी लाड़ली बेटी सुमन के विवाह में खर्चे की समस्या आई तो उनकी सिद्धान्त-निष्ठा और आदर्शवादिता हिलती सी जान पड़ी। ऐसी ही मानसिक अवस्था में वे एक तहकीकात में जाकर रिश्वत के रूप में दिये जाने वाले रुपये के सामने की कथा प्रेमचंद के शब्दों में सुनिये।[२]

"एक ओर रुपयों का ढेर था और चिन्ता व्याधि से मुक्त होने की आशा दूसरी ओर आत्मा का सर्वनाश और परिणाम का भय। न हाँ करते बनता था न नाहीं।"

जन्म भर निर्लोभ रहने के बाद इस समय अपनी आत्मा का बलिदान करने में दरोगा जी को बड़ा दुख होता था। वह सोचते थे यदि यही करना था तो आज से पचीस साल पहिले ही क्यों न किया। अब तक सोने की दीवार खड़ी कर दी होती, इलाके ले लिये होते। इतने दिनों तक त्याग का आनन्द उठाने के बाद बुढ़ापे में यह कलंक! पर मन कहता था इसमें तुम्हारा क्या अपराध? तुमसे जब तक निभ सका निभाया। भोग विलास के पीछे अधर्म नहीं किया, जब देश काल प्रथा और बन्धुओं का लोभ तुम्हें कुमार्ग की ओर ले जा रहा है तो तुम्हारा क्या दोष? तुम्हारी आत्मा अब भी पवित्र है। तुम ईश्वर के सामने अब भी निरपराध हो। इस प्रकार तर्क से दारोगा जी ने अपनी आत्मा को समझा दिया।

लेकिन परिणाम का भय किसी तरह पीछा नहीं छोड़ता था। उन्होंने कभी रिश्वत नहीं ली थी। हिम्मत न खुली थी। जिसने कभी किसी पर हाथ न उठाया हो वह सहसा तलवार का वार नहीं कर सकता। यदि कहीं बात खुल गई तो जैसे जेल खाने के सिवाय कहीं और ठिकाना ही नहीं है। सारी नेकनामी धूल में मिल जायेगी। आत्मा तर्क से परास्त हो सकती है पर परिणाम का भय तर्क से दूर नहीं होता। वह पर्दा चाहता है।"

इन पंक्तियों पर किसी तरह की टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। स्पष्ट है कि उपन्यासकार मानव मस्तिष्क की आन्तरिक प्रतिक्रियाओं को पकड़ने का प्रयत्न कर रहा है।

सेवासदन के पात्र के मनोविज्ञान की जटिलता का उदाहरण

ऊपर का दिया हुआ उदाहरण एक सीधे सादे और साधारण मनोविज्ञान का है जिसमें कहीं भी जटिलता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में यथा अवसर इस तरह का अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होना स्वाभाविक है। पर मानव मन की जटिलता की कोई सीमा नहीं, उसमें इतनी गुत्थियाँ होती है कि उनके रूप रंग की गणना हो नहीं सकती। कल हम जिस वस्तु या व्यापार से अपना कुछ भी सम्पर्क स्थापित करने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे, जिस बात को जिह्वा पर लाना भी हमारे लिये कठिन होता, वही आज मेरा सर्वस्व

हो जाती है। पद्मसिंह सदन के लिये घोड़ा खरीदना चाहते थे पर प्रश्न ५०० रुपयों का है। उसी उधेड़ बुन में है कि अपनी पत्नी गंगाजली से बातें होने लगती हैं। वार्तालाप पर्याप्त मनोरंजक है पर अन्त में जब गंगाजली बड़ी कठिनाई से पेट काट कर जोड़े हुए रुपये उन्हें दे देती है तो उनके मुख पर खेद और लज्जा का रंग प्रकट होने लगा और वे कहते हैं[3] "मैं जाता हूँ, घोड़े को लौटा देता हूँ। यह कह दूँगा सितारा पेशानी है या और कोई दोष लगा दूँगा। सदन को बुरा लगेगा इसलिये क्या करूँ।"

कहाँ तो वे रुपयों की चिन्ता के मारे घुले जा रहे थे, कहाँ रुपये प्राप्त होने पर उदासीनता। इसके लिये अवश्य मनोवैज्ञानिक कारण होना चाहिये। प्रेमचंद सतर्क हैं।[4]

"यदि रुपये देने के पहिले सुभद्रा ने यह प्रस्ताव किया होता तो शर्माजी बिगड़ जाते, उसे सज्जनता के विरुद्ध समझते और सुभद्रा को आड़े हाथों लेते। पर इस समय सुभद्रा के आत्मोत्सर्ग ने उन्हें वशीभूत कर लिया था। समस्या यह थी कि इधर सज्जनता दिखायें या बाहर। उन्होंने निश्चय किया कि घर में ही इसकी आवश्यकता है किन्तु हम बाहर वालों की दृष्टि में मान मर्यादा बना रखने के लिये घरवालों की कम परवाह करते हैं।" एक पत्थर से दो पक्षियों का शिकार करना ही चातुर्य का लक्षण समझा जाता है। पर यहाँ पर तीन पक्षियों का शिकार किया गया है। मनोविज्ञान के तीन पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है, पद्मसिंह रुपयों के लिये चिंतित क्यों थे, रुपये मिले तो विरक्ति क्यों आ गई और यदि विरक्ति आई तो वे उस पर दृढ़ क्यों न रह सके।

मनुष्य का चित्त बहुत ही डाँवाडोल होता है। कभी हम आवेश में या भावुकता में कोई काम कर बैठते हैं। परिणाम की जरा भी परवाह नहीं करते, फिर बाद में उस अवांछनीय परिणाम के लिए अपने को उत्तरदायी समझ कर अनुताप की अग्नि में जलते रहते हैं। एक समय आता है कि परिणाम का उत्तरदायित्व दूसरों के सिर मढ़कर सतोष की सांस लेते हैं, पुनः एक लहर ऐसी आती है जो इस सुरक्षा के बालू की भीति को ढाह देती है और हम अनुताप की आंच में और भी परितप्त होने लगते हैं। सेवा सदन में पद्मसिंह के चरित्र में मानव मनोवृत्ति की इस चंचलता का दर्शन पाते हैं।

अपने पति गजाधर के द्वारा निरादृत होकर सुमन पद्मसिंह जी के यहाँ शरण लेती है पर २४ घन्टे भी नहीं रहने पाई कि समाज में निन्दा के भय से तथा मित्रों के व्यंगों के कारण वे उसे अपने घर से बाहर निकल जाने की आज्ञा देते हैं। अपने अन्तिम अवलम्ब से हीन होकर सुमन दाल-मंडी के कोठे पर जाकर वेश्या वृत्ति स्वीकार कर लेती है। जब पद्मसिंह को यह बात मालूम पड़ती है तो इस घटना के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझने के भाव का बोझ उनके लिये असह्य हो उठता है

और किसी तरह इसको अपने ऊपर से टाल कर ही शांति मिलती है। इस समय उनके दिल में बारम्बार यही प्रश्न उठ रहा था कि इस दुर्घटना का उत्तरदाता कौन हो? उनकी विवेचना शक्ति पिछली बातों की आलोचना कर चुकी थी। "यदि मैंने उसे घर से न निकाल दिया होता तो इस भाँति उसका पतन न होता। मेरे यहाँ से निकल कर उसे कोई ठिकाना न रहा। क्रोध और नैराश्य की अवस्था में वह भीषण अभिनय करने को बाध्य हुई। इसका सारा अपराध मेरे सर पर ही है।"

"लेकिन गजाधर सुमन से इतना क्यों बिगड़ा। वह कोई पर्दानशीन स्त्री न थी। मेले ठेले में आती जाती थी। केवल एक दिन जरा देर हो जाने से उसे कठोर दण्ड न देता, वह उसे डांटता, सम्भव है दो चार धौल लगाता, सुमन रोने लगती, गजाधर का क्रोध ठंडा पड़ जाता। वह सुमन को मना लेता। बस झगड़ा तय हो जाता। पर ऐसा नहीं हुआ कि विठ्ठलदास ने वहाँ पहिले से ही आग लगा दी थी। निस्सन्देह सारा अपराध उन्हीं का है। मैंने भी सुमन को निकाला-तो उन्हीं के कारण। उन्हीं ने सारे शहर में बदनाम करके मुझे निर्दयी बनने पर विवश किया।[५] इस भाँति विठ्ठलदास पर दोषारोपण करके शर्मा जी को थोड़ा धैर्य हुआ, इस धारणा से पश्चाताप की वह आग ठंडी की जो महीनों से उनके हृदय में धधक रही थी। उन्हें विठ्ठलदास को अपमानित करने का एक मौका मिला था। घर पहुँचते ही विठ्ठलदास को पत्र लिखने बैठ गये कपड़े उतारने की भी सुधि न रही।

कुछ दिनों पश्चात् वह अवसर आता है जब कि शर्मा जी के भतीजे सदन द्वारा प्रणयोपहार के रूप में समर्पित कंगन को लौटाने के लिये सुमन आती है और शर्मा जी से मिलती है। उस समय सुमन की बातों को सुनकर शर्मा जी एक बार पुनः निरस्त्र हो जाते हैं और पश्चाताप की साकार मूर्ति उनके सामने आकर खड़ी हो जाती है। उस समय सुमन और शर्मा जी के वार्तालाप का कुछ अंश देख लेना आवश्यक है।[६]

पद्मसिंह : मुझे बार-बार यह वेदना होती है, अगर उस अवसर पर मैंने तुम्हें अपने घर से जाने के लिये न कहा होता तो यह नौबत न आती।

सुमन : तो इसके लिये लज्जित होने की आवश्यकता क्या है। आपने अपने घर से निकाल कर बड़ी कृपा की, मेरा जीवन सुधार दिया। शर्मा जी इस ताने से तिलमिला उठे, बोले "अगर यह कृपा है तो गजाधर पाण्डे और विठ्ठलदास की है। मैं इसका सारा श्रेय नहीं चाहता।

सुमन : शर्मा जी मेरा मुँह न खुलवाइये। मन की बात मन में ही रहने दीजिये, लेकिन आप जैसे सहृदय आदमी से मुझे ऐसी आशा न थी। आप चाहे समझते हों कि आदर और सम्मान की भूख बड़े आदमियों को ही है किन्तु

दीन दशा वाले प्राणियो को उससे भी अधिक होती है.... .मेरे मन में नित्य यही चिन्ता रहती थी कि आदर कैसे मिले। इसका उत्तर मुझे कितनी ही बार मिला लेकिन आपके होली वाले जलसे के दिन जो उत्तर मिला उसने मेरा भ्रम दूर कर दिया। मुझे आदर और सन्मार्ग का रास्ता दिखा दिया। यदि मैं उस जल्से में न आती, आज मै अपने झोंपड़े मे ही सन्तुष्ट होती। आपको मै बहुत सच्चरित्र पुरुष समझती थी इसके लिये आपकी रसिकता का प्रभाव मुझ पर और भी पड़ा। भोली बाई आपके सामने गर्व से बैठी हुई थी, आप उसके सामने आदर और भक्ति की मूर्ति बने हुए थे।

शर्मा जी ने सर नहीं उठाया, स्तम्भित हो गये। ऐसे चिंतामग्न हो गये कि कोई सामने आकर खडा भी हो जाता तो उन्हें जरा भी खबर नही होती। वह बडे भावुक मनुष्य थे, उन्हें अपने व्यवहार पर, आचार विचार पर, अपने कर्तव्य पालन पर अभिमान था, आज वह अभिमान चूर-चूर हो गया था। जिस अपराध को उन्होने गजाधर और विठ्ठलदास के सर मढ़ कर अपने को संतुष्ट किया वही आज सौगुने बोझ के साथ सिर पर लद गया। मानव मन की अस्थिरता का, उसके रेशन लाइजेशन (rationalisation) करने की प्रवृत्ति का, सजेशन के द्वारा प्रभावित होने वाली मनोवृत्ति का यह अच्छा उदाहरण है। सेवा सदन का प्रकाशन १६१६ मे हुआ था। तब तक हिन्दी के लेखको और पाठको को फ्रायड तथा उनकी मनोवैज्ञानिक मान्यताओं का परिचय नहीं प्राप्त हो सका था, फिर भी उपन्यासकार की प्रतिभा मानव मन की उस गहराई को अपनी पकड़ में ला रही थी इसमे जरा भी सन्देह नहीं।

सेवा सदन से विषकुम्भं पयोमुखं का उदाहरण

सेवा सदन से एक और उदाहरण लीजिये। जिसमे प्रेमचन्द मनुष्य की विष-कुम्भं पयोमुखं वाली मनोवृत्ति का परिचय दे रहे हैं। मनुष्य के वाह्याचरण तथा क्रियायें भले ही सुन्दर, सदय तथा उच्च भाव प्रेरित मालूम पड़ें पर सम्भव है कि उनके मूल मे बीभत्सता, निर्दयता तथा नीचता का प्रवाह बहता हो। उसके गहरे मूल में मानवता को कलंकित करनेवाली इर्ष्या की गांठ हो। पाठक जानते है कि सदन ने अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति प्राप्त कर ली है। वह शान्ता को पत्नी के रूप में ग्रहण करने के लिये कटिबद्ध है और अपना निर्णय वह चाची से बतलता है। चाची उसका समर्थन जी खोल कर करती हे। सुभद्रा ने उसकी प्रशसा की। बोली "बाप माँ के डर से कोई अपनी ब्याहता को थोड़े ही छोड़ देता है। दुनिया हँसेगी तो हँसा करे। क्या उसके डर से अपनी पत्नी की जान ले लें। तुम्हारी अम्मा से डतरती हूँ, नही तो उसको यहाँ ही रखली। सदन ने कहा, "मुझे अम्मा दादा की परवाह नहीं।"

सुभद्रा '—बहुत परवाह तो की। इतने दिनो तक बेचारी को घुलाघुला कर

मार डाला। कोई दूसरा लड़का होता तो पहले ही दिन फटकार देता। तुम हो कि इतना सहते हो।[७]

सुभद्रा की बातों को सुनकर पाठक का हृदय श्रद्धावनत होने को तैयार होता ही है कि झरोखे पर बैठकर सब के करतब का मुजरा लेने वाले राम की तरह औपन्यासिक च्चट से रह उठता है "सुभद्रा, यदि यही बातें तुमने पवित्र भाव से कहीं होती तो हम तुम्हारा कितना आदर करते ? पर तुम इस समय ईर्ष्या और द्वेष के वश में हो। तुम सदन को उभार कर अपनी जेठानी को नीचा दिखाना चाहती हो। तुम एक भ्राता के पवित्र हृदय पर आघात करके उसका आनन्द उठा रही हो।

रङ्गभूमि से हीनता की भावना ग्रन्थि का उदाहरण : प्रेमचंद के मनोवैज्ञानिक टेकनीक में विकास

इसी तरह के उदाहरण अन्य उपन्यासों प्रेमाश्रम, रङ्गभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि तथा गोदान से प्रचुर परिणाम में उपस्थित किये जा सकते हैं जहाँ सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान उपन्यासकार भगवान की तरह सर्व व्यापी है सबकी बातों को जानता है और अपनी सृष्टि के वाह्य और आन्तरिक रहस्य का वर्णन करता जा रहा है। ज्यों-ज्यों प्रेमचंद की उपन्यास कला का विकास होता गया है त्यों-त्यों इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति बढ़ती गई है। यहाँ तक कि एक परिच्छेद में तीन तीन चार-चार मनोवैज्ञानिक जटिलताओं एव पेंच के रहस्योद्घाहाटन के अवसर भी प्रेमचंद जी ने प्राप्त कर लिये हैं। रङ्गभूमि के प्रथम खण्ड के ११ वें परिच्छेद का उदाहरण सामने है।

किसी भी स्वाभिमानी व्यक्ति को अपनी पत्नी की उछ्ङ्खलता पर क्षोभ हो सकता है। जब उसके हृदय मे यह शङ्का घर कर जाती है कि उसकी पत्नी दूसरे को प्यार करती है तो उसकी मनोव्यथा का कारण पत्नी का दुराचरण उतना नहीं जितना कि अपमान की भावना। उसे यह समझकर दुख होता है कि वह दूसरे के रूप, रङ्ग, धन, वैभव इत्यादि में तुच्छ समझा गया। भैरो की सुभागी का सूरदास से बढ़ने मेल जोल को देख कर मानसिक व्यथा का कारण यही है जिसे आप आधुनिक शब्दावली मे हीनता की भावना ग्रंथि Inferiority Complex कह सकते हैं।

भैरो कहाता है : मुझे मलाल तो यह है कि अभागिन गई भी तो चमार के साथ गई अगर किसी ऐसे आदमी के साथ जाती, जो जांत पांत में, देखने सुनने में, धन दौलत में मुझसे बढ़ कर होता तो मुझे इतना रञ्ज न होता। जो सुनेगा वही अपने मन मे कहेगा कि मै इस गधे से भी गया बीता हूँ।[१]

इसमें ध्यान देने की बात है कि यहाँ पर प्रेमचंद स्वयं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

का उत्तरदायित्व न लेकर पात्र के शब्दों के द्वारा ही उसके मनोविज्ञान के समझने का अवसर पाठकों को दे रहे हैं। यह उनकी टेकनीक का विकास है जिसकी चर्चा शीघ्र ही होगी।

भैरो ने सूरदास की झोपड़ी में आग तो लगा ही दी साथ ही इतने परिश्रम से पाई-पाई कर एकत्र किये हुये उसकी ५०० रुपयों की पोटली भी चुरा ली और जाकर अपने मित्र जगधर से भी यह बात कह दी।

रङ्गभूमि मे दास्तावेस्कीनुमा मनोवैज्ञानिक ढङ्ग :

जगधर ने उसे नेक सलाह दी भाई, रुपये लौटा दो। बड़ी मसक्कत की कमाई है। हजम न होगी। कैसी अच्छी सलाह है। जगधर के प्रति हमारे हृदय में कितनी अच्छी धारणा बँधती है पर प्रेमचंद सावधानी की घंटी बजा देते हैं।[१०]

"जगधर दिल का खोटा आदमी नहीं था, पर इस समय उसने यह सलाह नेक-नीयती से नहीं, हसद से दी थी। उसे यह असह्य था कि भैरो के हाथ इतने रुपये लग जाँय। भैरों आधे रुपये उसे देता तो शायद उसे तस्कीन हो जाती, पर भैरो से यह आशा नहीं की जा सकती थी।" उपन्यासकार ने पाठक की गलत धारणाओं को सुधारने और मानव मन की अन्धकारमयी गलियों को अपनी प्रतिभा से चमकाते चलने का बीड़ा ही उठा रखा है क्या?

इसके पश्चात् जो दोनों की बातें होती हैं उनमें रूस के प्रसिद्ध उपन्यासकार दास्तावेस्की का रग दिखलाई पड़ता है। भैरो सूरदास के रुपयों को हड़प जाने के लिये जो तर्क देता है वे उसी नमूने के हैं जो (Roskolnikov) सूद पर रुपये देने का व्यापार करने वाली बुढ़िया की हत्या को उचित ठहराने के लिये उपस्थित करता है। अन्तर है तो यही कि दास्तावेस्की का पात्र सब तर्क अपने मन को देता है पर यहाँ एक पात्र दूसरे पात्र का मुँह बंद करने के लिये देता है। भैरो बेपरवाही से बोला: "मुझे अच्छी तरह से हजम हो जायेगी। हाथ मे आये रुपये मैं नही लौटा सकता। उसने तो भीख माँग ही माँग कर इकट्ठे किये हैं। गेहूँ तो नही तौला था।

जगधर : पुलिस सब खा जायेगी।

भैरो : सूरे पुलिस मे न जायेगा, रो धो कर चुप हो रहेगा।

जगधर : गरीब की हाय बड़ी जानलेवा होती है।

भैरों : वह गरीब है? अधा होने से ही गरीब हो गया। जो आदमी दूसरों की औरतों पर डोरे डाले, जिसके पास सैकड़ों रुपये जमा हों, जो दूसरों को रुपये उधार देता हो, वह गरीब है। गरीब तो कहो तो हम तुम लोग हैं। घर में ढूँढ़ आओ पूरा एक रुपया भी न मिलेगा। ऐसे पापी को गरीब नहीं कहते। अब भी मेरे दिल का कांटा नहीं निकला है। जब तक उसे

रोते नहीं देखूँगा वह काटा न निकलेगा जिसने मेरी आबरू बिगाड़ दी। उसके साथ जो करूँ मुझे पाप नहीं लग सकता।[११]

रंगभूमि से अन्य उदाहरण : एक अन्धे का मनोविज्ञान

जिस व्यक्ति के घर मे चोरी होती है वह अपनी हानि की मात्रा परिणाम से बढ़ा चढ़ा कर ही बतलाता है। सौ की हानि को हजार तथा हजार को दस हजार कह कर बतलाता है। पर यह बात यहाँ विपरीत ही दीखती है। जगधर के कहने पर सूरदास साफ कह देता है "मेरे पास थैली कहाँ होगी किसी की। थैली होती तो भीख माँगता। सूरदास के इस आश्चर्य जनक व्यवहार पर पाठक भले ही आश्चर्य करें पर प्रेमचद स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—लेकिन अंधे भिखारी के लिये दरिद्रता लज्जा की बात नहीं जितना धन। सूरदास जगधर मे अपनी आर्थिक हानि गुप्त रखना चाहता था। वह गया करना चाहता था, मिठुआ का व्याह करना चाहता था लेकिन इस ढङ्ग से कि लोगों को आश्चर्य हो कि इसके पास रुपये कहाँ से आये। लोग यही समझें कि भगवान दीन जनो की सहायता करते हैं। भिखारियों के लिये धन सञ्चय पाप संचय से कम अपमान की बात नहीं"[१२]

भैरो के ५०० रुपये हाथ लग जाने पर जगधर के हृदय मे जो ईर्ष्या की आग लगी तो उसने आकर मुहल्ले के सब लोगों से इसमे नमक मिर्च लगाकर कहा। लोगों के हृदय में भैरों के अत्याचार के कारण शत्रुता के भाव जगे और सूरदास के लिये सहानुभूति के। बस क्या है बात की बात मे सूरदास की झोपड़ी तैयार हो गई। किसी ने बाँस दिये, किसी ने धरण, कई आदमी भी झोपड़ी बनाने मे लग गये। और जगधर ही इस संगठन का मन्त्री था। उसके उत्साह की सीमा न थी। घटना अपने स्वाभाविक रूप में विकसित हो रही है। और उसमें पाठक को किसी तरह की गहराई देखने की फुरसत नही रहती कि इतने में उपन्यासकार आकर इस घटना-प्रवाह का सम्बन्ध एक सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक सत्य से स्थापित ही तो कर देता है।

"ईर्ष्या मे तम ही तम नही होता कुछ सत् भी होता है।"

इस प्रकार हम देखते है कि प्रेमचंद ने एक परिच्छेद मे चार मनोवैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन किया है। भैरों की हीनता की भावना, जगधर की नेक सलाह के पीछे छिपी विषाक्तता, भैरो का दास्तावेस्कीनुमा अपने को समर्थन करने वाला तर्क, सूरदास का अपने धन की चोरी का अस्वीकरण, तथा जगधर के ईर्ष्यावश परोपकार सा दीखने वाले कर्म का स्वरूप। सचमुच इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक छानबीन हिन्दी उपन्यास के लिये नूतन वस्तु है।

मनोवैज्ञानिक अर्थान्तरन्यास

भारतीय अलकार शास्त्र म अलकार की गणना करते समय अर्थान्तरन्यास नाम

आया है। अर्थान्तरन्यास, अलंकार का लक्षण निरूपण करते समय मम्मट ने काव्य प्रकाश के दशम उल्लास में कहा है—

जहाँ सामान्य वस्तु विशेष के द्वारा अथवा विशेष वस्तु सामान्य के द्वारा प्रतिपादित हो, पारस्परिक साधर्म्य के सहारे अथवा वैधर्म्य के सहारे तो उस अवस्था में अर्थान्तरन्यास अलंकार की स्थिति स्वीकार करनी चाहिये।"

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत्
समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन सोऽर्थान्तरन्यासः।

उदाहरण के लिये एक श्लोक लीजिये।

निजदोषावृत्तमनसामतिसुन्दर मेवभाति विपरीतम
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रम शंखमपि पीतम्

अर्थात् जिन मनुष्यों का मानस स्वयं दोषावृत्त है उनको अत्यंत सुन्दर वस्तु भी विपरीत ही दीखती है। कमला रोग से पीड़ित व्यक्ति को चन्द्रमा सदृश श्वेत वर्ण शंख भी पीला ही दिखलाई पड़ता है। यहाँ एक सामान्य का समर्थन एक विशेष के द्वारा साधर्म्य के आधार पर किया गया है। ठीक उसी तरह की प्रवृत्ति अर्थात् मनोवैज्ञानिक सामान्य सत्य को किसी पात्र के विशिष्ट आचरण तथा व्यवहार द्वारा प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति प्रेमचंद में पर्याप्त परिमाण में मिलती है। हम देखते हैं कि जहाँ कहीं भी अवसर मिलता है प्रेमचंद अपने पात्रों को आन्तरिक प्रेरक शक्तियों को, मानस को आन्दोलित करने वाले हलचलों को तथा बाह्याचरण और व्यापारों को किसी साधारण मनोवैज्ञानिक सत्य के मेल में लाकर दिखलाने से नहीं चूकते। ऊपर दिये हुए उदाहरण में जगधर के नेतृत्व में बात की बात में सूरदास की झोपड़ी तैयार हो जाती है यह एक पात्र का विशिष्ट आचरण है जो मनुष्योचित तथा यथातथ्यपूर्ण कह कर संतोष कर लिया जा सकता है। पर प्रेमचंद को तब तक चैन कहाँ जब तक वे इस क्रिया को किसी मनोवैज्ञानिक सत्य से सम्बद्ध कर न देखें। वे झटपट कह उठते हैं "ईर्ष्या में तम ही तम नहीं होता, कुछ सत भी होता है।" इसी को हमने प्रेमचंद के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक अर्थान्तरन्यास कह कर अभिहित किया है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में से इस मनोवैज्ञानिक अर्थान्तर न्यास के उदाहरणः गबन से

इस मनोवैज्ञानिक अर्थान्तरन्यास के उदाहरण प्रेमचंद के उपन्यास के पन्ने-पन्ने में बिखरे पड़े हैं और सहज ही पुस्तक को खोलते ही प्राप्त हो सकते हैं। गबन का पात्र रमानाथ अपनी नवागत पत्नी से अपनी साम्पत्तिक अवस्था का वर्णन बढ़ा-चढ़ाकर असत्य के सहारे करता है। घर का किराया पांच रुपये थे, पन्द्रह बतलाये, लड़कों की शिक्षा का व्यय १० रु० से भी कम था, उसने बतलाये ४० रु०, बैंक में ५० हजार जमा, कितने ही मकान हैं, नौकरी तो केवल मनोरंजन के लिये है। उसको जरा भी शंका न

थी कि एक दिन ऐसा भाडा फूटेगा कि जब जालपा को सच्ची परिस्थिति का परिचय प्राप्त होगा तो उसे कितनी निराशा होगी, उसके हृदय में रमानाथ के लिये कितनी घृणा उत्पन्न होगी। ऐसे अवसर पर प्रेमचंद इस असत्याचरण का मनोवैज्ञानिक सत्य के सहारे अर्थान्तरन्यास के रूप मे कहते हैं "मिथ्या दूरदर्शी नही होता" मानो रमा के विशिष्टाचरण को एक सामान्य मनोवैज्ञानिक सत्य के द्वारा समर्थित किया। इसी तरह गबन में कुछ मनोवैज्ञानिक सामान्य सत्य जो अर्थान्तरन्यास के रूप मे उपस्थित किये गये हैं उनके कुछ उदाहरण देखिये।

"मुंशी दीनदयाल उन आदमियो में से थे, जो सीधो के साथ सीधे पर टेढ़ो के साथ टेढ़े नही बल्कि शैतान हो जाते हैं।"[१३]

"अनुराग स्फूर्ति का भण्डार है।"[१४]

"जलपा को गहनों से जितना प्रेम था, उतना कदाचित् संसार की किसी वस्तु से न था और उसमें आश्चर्य की कौन सी बात थी। जब वह तीन वर्ष की ही अबोध बालिका थी उस वक्त उसके लिये सोने के चूड़े बनवाये जाते थे। दादी जब उसको गोद में खिलाने लगती तो गहनो की ही चर्चा करती। तेरा दूल्हा तेरे लिये सुन्दर गहने लायगा, ठुमुक-ठुमुक कर चलेगी।"[११] यहाँ विशेष का विशेष से प्रतिपादन किया गया है।

"स्त्री का सप्रेम आग्रह पुरुष से क्या नहीं करा सकता।[१६]

"भेप और भीख में सनातन से मित्रता है।" "मित्रों से व्यथा कहते समय हम बहुधा अपना दुख बढ़ाकर ही कहते हैं। जो बातें पर्दे की समझी जाती है उनकी चर्चा करने से एक तरह का अपनापन जाहिर होता है। हमारे मित्र समझते हैं हमसे जरा भी दुराव नहीं समझता और उन्हें हमसे सहानुभूति हो जाती है। अपनापन दिखाने की यह आदत औरतों में कुछ अधिक होती है।" "रमा का आनन्द उस बालक का आनन्द न था जिसने चुराकर मिठाई खाई हो।"[१७]

"उत्कंठा की चरम सीमा ही निराशा है"[१८]

"हम क्षणिक मोह और सकोच में पड़कर अपने सुख और शाति का कैसे होम कर देते हैं।"[१९]

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। ये यादृच्छिक रूप मे यहाँ वहाँ से उठा लिये गये उदाहरण हैं। अधिक सावधानी से देखने पर और भी अधिक उदाहरण यत्र-तत्र बिखरे मिलेंगे।

प्रेमचंद और फिल्डिंग

प्रेमचद के इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा अर्थान्तरन्यास की तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध फिल्डिंग से की जा सकती है बिलफिल (BilFil) के प्रणयोचित भावों

में परिवर्तन हो गया है। वह सोफिया (Sophia) से अब घृणा करता है और उसे इस बात का पता है, कि सोफिया भी उसको घृणा की दृष्टि से देखती है जिस पर भी वह कोर्टशिप, प्रणय लीलाओं से विरत नहीं होता। फिल्डिंग को इस बात की चिन्ता है कि पाठक इस विरोधाभास को ठीक तरह से समझें। वे कहते हैं "बिलफिल के स्वभाव में एक विशिष्टता थी जिसने सुझाया कि सोफिया का ग्रास बड़ा ही सुस्वादु होगा, उसके द्वारा उसे वही तृप्ति होगी जो जिह्वा लोलुप व्यक्ति को ortolan[1] के मांस से होती है। चिन्ता की रेखाओं से सोफिया की सुन्दरता घटेगी क्या वह और भी बढ़ गई। कारण कि आँसुओं से उसकी आँखों में और भी चमक आ गई और आहों के साथ उसके वक्षस्थल में और भी प्रशस्तता आ गई। जिसने सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष विपत्ति में नहीं देखा उसने देखा क्या। अतः बिलफिल ने मानवीय भोज्य सामग्री को और पहले से भी अधिक तृष्णातुर दृष्टि से देखा...उसके सौन्दर्य को वह लूट लेगा, इस भाव ने उसके आनन्द को और भी बढ़ा दिया, काम वासना के भाव को विजय के भाव का सहयोग मिला प्राप्य तृप्ति में प्रतिशोध के भावों का भी कम हाथ नहीं था। अपने प्रतिद्वन्दी उस तुच्छ जोन्स jones को सोफिया के प्रेमासन से उतार वहाँ अपनी सत्ता जमाकर उसे नीचे दिखलाने के भाव ने इस अनुष्ठान के लिये प्रेरित किया और और उसकी आनन्द वृत्ति में और अतिरिक्त कारण बना।"

इस तरह हम देखते हैं कि फिल्डिंग में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति है और साथ ही वह मनोविज्ञान के समान्यीकरण की ओर भी वह झुका है। वह पात्रों के मनोविज्ञान को सामान्यीकृत Generalised करके उपस्थित करता है ताकि इस सामान्यीकृत मनोविज्ञान के सहारे हम देख सकें कि पात्र की परिस्थिति जन्य प्रतिक्रियाओं मे भी कोई असाधारणता नहीं है, उनमे कोई विचित्रता नहीं, वे वैसी ही जैसा कि होना चाहिये। नो वन हैथ सीन ब्युटी इन इट्स हायेष्ट लश्चर हू हैथ नेवर सीन इन डिस्ट्रेस* ऐसे-ऐसे बीच में आने वाले वाक्य अथवा वाक्यांश फिल्डिंग की इस मनोवैज्ञानिक सामान्यीकरण की प्रवृत्ति के परिचायक हैं "मिथ्या दूरदर्शी नहीं होता" "भिखारी में व्यथा कहते समय बहुधा अपना दुख बढ़ा कर कहते हैं," "मु शी दीनदयाल उन आदमियों में से थे जो सीधो के साथ सीधे होते हैं, और जो टेढ़ों के साथ टेढ़े ही नहीं शैतान भी होते हैं" प्रेमचंद के ये सब वाक्य मनोवैज्ञानिक सामान्यीकरण अर्थात पात्रों की प्रतिक्रियाओं को साधारण मनोविज्ञान से अभिन्न, उसके तदनरूप दिखलाने की प्रवृत्ति के ही परिचायक है।

---

[1]एक पक्षी जिसका मास अति सुस्वादु होता है।

*No one hath seen beauty in its highest lusture who hath never seen in distress.

अन्तर्द्वन्द्व की विस्तृत विवृत्ति

ऊपर के कथन का निष्कर्ष यही है कि अपने उपन्यासों में मनोविज्ञान के समावेश के लिये प्रेमचंद सतर्कतापूर्वक स्वयं मनोविज्ञान के विश्लेषण में प्रवृत्त हुए हैं, और मनोवैज्ञानिक अर्थान्तरन्यास की अवतारणा की है। साथ ही एक और साधन से उन्होंने काम लिया है और वह है जटिल और विशेष परिस्थितियों के बीच पड़े हुए पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की विस्तृत विवृति। देवकीनन्दन के पात्रों के सामने कोई मानसिक जटिलता थी नहीं, उनका मार्ग साफ था, वे सदा बाहर की ओर ही देखते हैं, उनको अपने कार्य के औचित्य अनौचित्य पर विचार करने की आवश्यकता थी नहीं, वे यदि किसी को प्रतारित करते थे या उसे धोखा देकर अपने जाल में फसाते थे तो इस पर उन्हें सोचने विचारने की आवश्यकता न थी। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि हम खत्री जी के उपन्यासों के पात्रों को नहीं देखते, उनके अनपत्य, व्यक्तित्व को नहीं देख पाते। पात्र हैं ही नहीं, हैं तो केवल उनकी क्रियायें, वे क्रियायें जिनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं मानो उनमें और उनकी क्रियाओं में कोई अनुल्लंघनीय खाई है। प्रेमचंद में इसी खाई को भरने का प्रयत्न होता है।

प्रेमचंद के द्वारा निर्मित एक दो अन्तर्द्वन्द्व के चित्रों को देख लेना उपयुक्त होगा। रमानाथ अपनी भोली भाली पत्नी जालपा से छल कर आभूषण लेने की तैयारी कर रहा है। रमा को इस समय अपने कपट व्यवहार पर बड़ी ग्लानि हो रही थी। जालपा ने लौट कर प्रेमोल्लासित नेत्रों से उसकी ओर देखा तो उसने मुंह फेर लिया। उस सरल विश्वास से भरी हुई आंखों के सामने वह न देख सका। उसने सोचा "मैं कितना बड़ा कायर हूं। क्या मैं बाबूजी को साफ-साफ जबाब दे नहीं सकता था? मैंने हामी क्यों भरी? क्या जालपा से घर की दशा साफ-साफ कह देना मेरा कर्तव्य नहीं था? उसकी आँखें भर आईं। जा कर मुंडेरे के पास खड़ा हो गया। प्रणय के उस निर्मल प्रकाश में उसका मनोविकार किसी भयंकर जन्तु की भाँति घूरता हुआ जान पड़ता था। अपने उपर इतनी घृणा हुई कि एक बार जी चाहा कि सारा कपट व्यवहार खोल दूं लेकिन सम्भल गया। कितना भयंकर परिणाम होगा। जालपा के नजरों से गिर जाने की कल्पना उसे असह्य थी।"[२०]

रमानाथ ने कुछ सरकारी धन अपने वैयक्तिक कार्य अर्थात् जालपा के लिये आभूषणादि खरीदने में व्यय कर दिया है। समय पर रुपये जमा न कर सकने के कारण वह भाग गया है और समय पर दफ्तर से लौट कर घर भी न आ सका। यहाँ लोगों को बड़ी घबराहट हो रही है

"वह जालपा ऊपर जाकर लेट गई और अपने भाग्य पर रोने लगी। रह-रह कर चित्त ऐसे विकल होने लगा मानो कलेजे में शूल उठ रहा हो, बार बार सोचती

अगर रात भर न आये तो कल क्या करना होगा ? जब तक कुछ [illegible] न [illegible] गये तब तक कोई जाय तो कहाँ जाय ? आज उसके मन ने पहली बार [illegible] कि वह सब उसकी करनी का फल है। यह सच है कि उसने कभी [illegible] नहीं आग्रह नहीं किया लेकिन उसने स्पष्ट रूप से मना भी तो नहीं किया। [illegible] हो जाने के बाद इतनी अधीर न हो गई होती तो आज यह दिन क्यों आता ? [illegible] की इस अधीर अवस्था में अपने भाग से अधिक भाग अपने ऊपर लेने लगी। वह जानती थी कि रमा रिश्वत लेता है, नोच खसोट कर रुपये लाता है, फिर भी उसने मना क्यों नहीं किया ? उसने खुद क्यों अपनी कमली से बाहर पाँव फैलाया ? क्यों उसे रोज सैर सपाटे की सूझती थी ? उपहारों को लेकर वह फूली न समाती थी। [illegible] जिम्मेदारी को भी जालपा अपने ऊपर ले रही थी। रमानाथ प्रेम के नशे में, [illegible] प्रसन्न रखने के लिये ही सब कुछ करते थे। युवकों का यही स्वभाव [illegible]। फिर उसने उनकी रक्षा के लिये क्या नहीं किया ? क्यों उन्हें समझा न पाई। आमदनी से ज्यादा खर्च करने का दण्ड एक दिन भोगना पड़ेगा। अब उसे ऐसी कितनी ही बातें याद आ रही थीं जिनसे उसे रमा के मन की विकलता का परिचय हो जाना चाहिये था। पर उसने कभी उन बातों की ओर ध्यान न दिया।"

मनोविज्ञान के समावेश के कारण प्रेमचंद के विषय निर्वाचन तथा प्रतिपादन के ढंग में परिवर्तन

इस मनोवैज्ञानिकता के समावेश के लिये प्रेमचंद को तत्कालीन हिन्दी कथा साहित्य की प्रचलित परम्परा में कितने ही परिवर्तन करने पड़े हैं। विषय निर्वाचन करने तथा प्रतिपादन करने के ढंग दोनों की दृष्टि से। हिन्दी उपन्यास के विद्वान लेखक श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने लिखा है कि—

"प्रेमचंद के पहिले के साहित्य को हम विलास का साहित्य कह सकते हैं।"

विलास का साहित्य न कह कर यान्त्रिक साहित्य, [illegible] कहें तो और भी अच्छा कारण कि विषय के निर्वाचन में, कथा वस्तु के संगठन में, मनोभावों की अभिव्यक्ति के ढंग में लेखक सर्वथा परतन्त्र था, उसको कुछ नियमों का पालन करना ही पड़ता था जिसका परिणाम यह होता था कि साहित्य केवल मनोरंजन तथा थोड़े विश्राम से बढ़कर किसी गम्भीर वस्तु का रूप न ले सकता था। लेखक की सारी प्रतिभा या प्रतिभा का एक बड़ा अंश नियमों की अनुरूपता की रक्षा करने में ही लग जाता था; न तो पात्रों को स्वतन्त्रता थी, न लेखकों को। अतः मनोविज्ञान के नाम पर जो कुछ वस्तु प्राप्त होती थी वह मनोविज्ञान न होकर मनोविज्ञान का विकृत या आभास था। प्रेमचंद के पूर्व उपन्यासों की कथा वस्तु भी ले देकर यही होती थी। किसी सद्‌ शील सम्पन्न नवयुवक का कुसंगति के कारण पतन तथा अनेकों विपत्तियों के पश्चात्

किसी सही हितैषी द्वारा उसका आत्मोद्धार। चाहे कथावस्तु ऐतिहासिक ही क्यों न हो पर उसकी इस भूमि पर लैला मजनू की तर्ज की स्थूल वासनात्मक प्रेम की कथा, घटना वैचित्र्य पूर्ण पर रस संचार, मनोभाव तथा चरित्र चित्रण से रहित बुद्धि को चक्कर में डालने वाली सनसनीखेज कथा, किसी हत्या या डकैती का रहस्योद्घाटन जो देखने में बड़ा ही जटिल मालूम हो पर वास्तव में है नहीं। किसी दीन दुखी मनुष्य या विपत्ति के चंगुल में पड़ी निरीह बालिका का उद्धार इत्यादि विषय ही कथा के लिये उपयुक्त समझे जाते थे। आज के मनोविज्ञान की दृष्टि से उनमें सबसे खटकने वाली बात थी व्यक्तित्व का अभाव। हम तो न लेखक को ही देख सकते थे और न पात्रों को। हमारा ध्यान भूतनाथ, भैरो, या इन्द्रजीत के प्रति नहीं रहता था बल्कि उनके हैरत-अंगेज कारनामों की ओर था।

कहने का अर्थ यह है कि चारो ओर जड़ता का साम्राज्य था। लेखक जड़, पात्र और उनकी कार्यवाहियाँ भी जड़। पात्रों को लेखक के हाथ की कठपुतली न कह कर उन्हें जड़ता दोष ग्रसित कहें तो ठीक होगा। पर प्रश्न यह होता है कि लेखक जिसकी कल्पना की विभूति पर मुग्ध होकर लोगों ने हिन्दी पढ़नी सीखी थी उसे जड़ता दोष का भागी बनाना क्या भ्रामक नहीं? उन लेखकों को पढ़ कर विज्ञान द्वारा निर्मित यंत्र मानव का चित्र उपस्थित हो जाता है। ये यंत्र आपके प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं। बड़े-बड़े गणित के प्रश्न हल कर सकते हैं। कैसी-कैसी गुत्थियों को सुलझा सकते हैं, जो साधारण मानव के लिये कठिन है पर क्या उनमें वह सजीवता पाई जाती है जो एक अबोध ज्ञानहीन बालक में दर्शित होकर हमारे मन को तृप्त करती है? पहिले के औपन्यासिक पात्र ऐसे ही यंत्रमानव हैं जिनकी कारीगरी, कार्यवाहियों को देख कर दाँतो तले उँगली दबानी पड़े पर फिर भी यही कारण है कि उनमें वैविध्यता नहीं मिलती, अनेक रूपता नहीं मिलती और नहीं मिलती हैं वे सजीव मनोवृत्तियाँ जो अपनी सजीवता के सम्पर्क से पाठकों के जीवन में ज्योति जगा दें। उनके विषय सीमित हैं, उनके रेफ्रेंस सीमित हैं। मानो उपन्यास का पैर एक छोटी सी रस्सी में बाँध कर रख दिया गया हो और अपनी सीमा में वह उछल कूद कर अपनी कला बाजी दिखला कर लोगों को आश्चर्य चकित कर ले पर उनके हृदय को स्पर्श नहीं कर सके। प्रेमचंद जी एक सदय कलाकार के रूप में आये, उन्होंने एक झटके से रस्सी तोड़ तो नहीं दी पर बन्धन अवश्य ढीला कर दिया, रस्सी को अधिक विस्तृत कर दिया और उपन्यास रूपी घोड़ा अधिक विस्तृत मैदान से हरित तृण पल्लवों को चुगने लगा, उसमें विविधता आई, वैचित्र्य आया और मानव तथा उसकी मनोवृत्तियों के मूल्यांकन की महत्वाकांक्षा आई। किसानों, वेश्याओं, मजदूरों, विधवाओं, देश सुधारकों, जमींदारों, त्यागी तपस्वियों, प्रेमी प्रेमिकाओं, छोटे-छोटे बच्चों, स्त्रियों का आभूषण प्रेम-अदालतों

की धाधली, सत्याग्रह सग्राम, ऊपर से सुन्दर वेशभूषा से सुज्जित होकर मानव की कुटिल और घातक मनोवृत्तियाँ, दाम्पत्य जीवन की समस्याओ की वास्तविक छान बीन सामने आई। अर्थात् जीवन का शायद ही कोई पहलू हो जिन्हे प्रेमचंद जी ने न छेड़ा हो। प्रेमचंद ने मनुष्य को मनुष्य समझा तथा उन्हे वाणी दी और मुखरित किया।

कथोपकथन

उन्हें वाणी दी, उन्हे मुखरित किया इन शब्दों का प्रयोग एक विशेष मतलब से किया गया है। प्रेमचंद के पूर्व के जितने उपन्यास हैं वे मूक हैं, उनके पात्र शायद ही कहीं वार्तालाप करते दिखलाये गये हो। कहीं भी दो चार महत्वपूर्ण कथोपकथन कठिनता से देखने को मिलेंगे। उनकी तुलना हम मूक चित्रपट से कर सकते है जिसमें पात्रो के बाह्य क्रिया कलाप तथा अभिनय से ही हम उनके व्यक्तित्व का पता लगा सकते हैं, उनके हृदय की मूल प्रवृत्तियों की झाँकी पा सकते हैं। यदि अभिनय में किसी तरह की विडम्बना हुई या किसी तरह के कौशल का अभाव हुआ तो दर्शक इस तरह उनमें उलझ जा सकता है कि मानव की ओर देखना ही भूल जाय। यही हालत प्रेमचद के पूर्ववर्ती उपन्यासो की थी। प्रेमचद की औपन्यासिकता के चार मुख्य स्तंभ हैं वर्णनात्मकता, घटनात्मकता, कथोपकथन तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। यदि इन्हीं चारों के टर्मस में, इनकी ही ओर से प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासो पर विचार किया जाय तो हम यह पायेंगे कि उनमें ९५ प्रतिशत वर्णनात्मकता और घटनात्मकता है। (इन दोनो को हम फिलहाल एक ही मान लेते हैं।) और ५ प्रतिशत मे ही कथोपकथन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आ जाते हैं। कथोपकथन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तो नहीं के बराबर हैं। पर प्रेमचद के उपन्यासों मे इनका अनुपात होगा ५०, ३०, २० अर्थात् ५० प्रतिशत वर्णनात्मकता और घटनात्मकता, ३० प्रतिशत कथोपकथन, तथा २० प्रतिशत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। प्रेमचंद के प्रातिभ ज्ञान ने देखा कि पात्रों की आन्तरिक जीवन धारा को, उनको मूल मनोवैज्ञानिक प्रेरणा को उपन्यास के उप-जीव्य बनाने के लिये, उसके भार को समुचित रूप से वहन करने के लिये कथोपकथन का आधार मिलना ही चाहिये। ५० वर्षों के प्रयोग के बाद हिन्दी की उपन्यास कला ने कथोपकथन के महत्व को पहिचाना और उसे उपन्यास के क्षेत्र मे स्थान मिलने लगा। पूर्ववर्ती कथाओं के पात्र जड़ थे, मस्तिष्कहीन थे, उनको अपने मनोविज्ञान का पता न था। अतः उनके आधार पर रचित उपन्यास भी मूक थे, उनमें कथोपकथन का अभाव था। पर प्रेमचंद ने उनमे जीवन का मंत्र फूँका, उन्हे अपनी आन्तरिक शक्ति की स्मृति दिलाई, उनको मनोवैज्ञानिक आत्म निरीक्षण Introspection और अतीत पर्यवेक्षण Retrospection से सम्बन्धित किया

अंग्रेजी के विख्यात उपन्यासकार स्काट के उपन्यास अपने सजीव कथोपकथन के लिये प्रसिद्ध है। उनके उपन्यास के दो पात्रों ने एक स्थान पर वार्तालाप कराते हुए कहा है "तुम्हारे पात्र मुख रुपी यन्त्र से अत्यधिक काम लेते हैं, वे बहुत बकवास करते हैं, कहीं कहीं तो पूरे के पूरे पन्ने में महज वार्तालाप के सिवा कुछ नहीं[२२] जिसके उत्तर में दूसरा करता है "इसी से प्राचीन दर्शनिकों का कथन था "मुख से बोलो ताकि तुम्हें जान सकें" सिवाय कथोपकथन के दूसरा साधन ही क्या है जिसके द्वारा रचयिता नाटकीय पात्रों को अपने पाठक के सामने उपस्थित कर सके। कथोपकथन के द्वारा ही तो पात्र अपने वास्तविक रूप को अभिव्यक्त कर सकते हैं।[२३] ये शब्द प्रेमचंद जी की ओर से भी कहे जा सकते हैं। उनके किसी पात्र के मुख से यह बात सुनी नहीं जाती पर उपन्यास क्षेत्र में उनके पात्रों ने Gob Box का जैसा व्यावहारिक उपयोग किया है उससे उनकी अन्तर्ध्वनि स्पष्ट है। एक आलोचक के शब्दों में "सच तो यह है कि कथोपकथन की चुस्ती और सरसता ही प्रेमचंद के उपन्यासों का प्राण है" मैं अपनी ओर से इतना ही मिला देना चाहता हूँ कि यह चुस्ती और सरसता इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी उपन्यास कला बाह्य क्षेत्रों का मोह त्याग कर आन्तरिक प्रदेश की ओर प्रयाण कर रही है।

प्रेमचंद के किसी उपन्यास में अनायास ही दो प्रकार के कथोपकथन पाये जाते हैं। छोटे छोटे, हलके फुलके, तथा बड़े बड़े, धीर गम्भीर परन्तु दोनों अपने तौर पर अभीष्ट-साधक हैं। या तो वे कथा वस्तु को अग्रसर करते हैं या वे वार्तालाप के द्वारा पात्रों के हृदय की आन्तरिक स्वस्थता या अस्वस्थता, कोमलता या दृढ़ता का परिचय देते हैं। रङ्गभूमि के प्रारम्भिक पन्नों में ही गनेश गाड़ीवान ने सूरदास से पूछा "क्यों भगत, ब्याह करोगे ?

सूरदास ने गर्दन हिलाकर कहा "कहीं है डौल ?"

गनेश ने कहा है "क्यों नहीं। एक गांव में सुरिया है तुम्हारी ही जाति बिरादरी की है। कहो तो बातचीत पक्की करूँ। तुम्हारी बारात में दो दिन मजे से बाटियाँ लगें।

सूरदास : कोई ऐसी जगह बताते जहाँ से धन मिले और इस भिखमङ्गी से छुटकारा मिले। अभी अपने ही पेट की चिन्ता है तब एक अन्धी की और हो जायगी। ऐसी बेड़ी पैर में नहीं डालता। बेड़ी ही हो, तो सोने की तो हो।

गणेश : लाख रुपये की मेहरिया न पा जाओगे, रात को तुम्हारे पाँव दबायेगी, सिर में तेल डालेगी, तो फिर एक बार जवान हो जाओगे, ये हड्डियाँ फिर न दिखाई देंगी।

सूरदास : तो रोटियों का सहारा भी जाता रहेगा। ये हड्डियाँ देख कर लोगों को

उसको और उसकी प्रक्रियाओं को ठीक से समझने के लिये उसको दो श्रेणियो में विभक्त कर ले सकते हैं। आत्मिक और दैहिक, मानसिक और भौतिक, आन्तरिक और बाह्य, सूक्ष्म और स्थूल। पात्रों के वाह्य क्रिया कलाप, उनकी दौड़ धूप, मारकाट, संसार के रंगमच पर अभिनय करनेवाले सागर को बाँधने वाले, हिमगिरि को हिला देने वाले, लका को भस्म कर देने वाले, कनक भूधराकार धारण करने वाले रूप की गणना द्वितीय श्रेणी मे होगी पर प्रथम श्रेणी मे इस रूप का सर्वथा अभाव रहगा, उसमें राम सागर तट पर तीन दिन तक ठहरे रहेंगे, वह हृदय मंथन का समय होगा, चिंतन अनुचिंतन का समय होगा, हमारी शारीरिक क्रियाओ के लिये तैयारी का यह समय होगा। उपन्यास में इस तैयारी के, विश्राम के क्षण को अभिव्यक्ति कथोपकथन का लक्ष्य होता है। कथोपकथन का उद्देश्य वह है कि जिसे मनोवैज्ञानिको ने einstellung कहा है। आख और वाट नामक मनोविदो ने दौड़ प्रतियोगिता मे भाग लेने वाले खिलाड़ियों से अनेक प्रश्न करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला था कि पिस्तौल दगने, प्रारम्भ करने का संकेत प्राप्त होने के पूर्व ही सारी तैयारी हो जाती है। सारे निश्चय और रण कौशल (strategy) तय कर लिये जाते हैं। संकेत प्राप्ति के पश्चात् दौड़ना ही शेष रहता है, कोई मानसिक क्रिया नहीं रहती। अत. जब दौड़ प्रतियोगिता के प्रतिद्वन्द्वियो की आन्तरिक प्रक्रिया का आकलन करना है, उनके मनोविज्ञान का अध्ययन करना है तो इस तैयारी (einstellung) की अवधि का अध्ययन करना होगा। यदि ऐसा कोई यंत्र निर्मित हो सके जिसके सहारे हम प्रतिद्वन्द्वियों की तैयारी वाली अवधि के समय उनके आन्तरिक प्रदेश की झाकी ले सकें तो हम उनके वास्तविक रूप का चित्र पा सकें। वैज्ञानिक ऐसे यंत्र के आविष्कार मे अब तक असफल रहे हैं पर उपन्यासकार यहाँ इतना साधनहीन नहीं है उसके पास कथोपकथन ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह उस अवधि का चित्र पाठकों के सामने प्रस्तुत कर सकता है। हमने केवल इतनी सी बात कहने के लिये मनोविज्ञान के क्षेत्र मे चक्कर लगाने का प्रयत्न किया है कि ज्यों ज्यों उपन्यास कला मनोविज्ञान के क्षेत्र को अपने अधिकार मे लाने का प्रयत्न करेगी त्यों त्यों उसे मन की सक्रियता के साथ न्याय करना पड़ेगा कि मनुष्य के निर्माण में और दूसरी वस्तुओं का हाथ भले ही न हो पर वह ९० प्रतिशत मन है, उसको ही हमें अध्ययन का विषय बनाना चाहिये। उसके पास जो कुछ भी साधन है उसका एक मात्र उद्देश्य उसी लक्ष्य की प्राप्ति होगा। यदि वे साधन अपनो अभीष्ट साधना मे सहायक नही होते तो कला की दृष्टि से यह उनका दूषण ही कहा जायेगा। कथोपकथन को भी अभीष्ट साधक होना चाहिये पर प्राक् प्रेमचंद युग के उपन्यास के कथोपकथन अभीष्ट साधक नहीं हैं। वे पात्रों के आन्तरिक विचार प्रवाह, उनको अभ्यन्तर्गत मानसिक चैतन्यानुभूति की अभिव्यक्ति से अधिक उनके वाह्य शारीरिक स्थूल चेष्टा क्रिया कलापो के

अधिक है। उनमें आप नहीं है, अधिक आप क्या करते हैं वही है। मेरे भाव एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा।

हरण के द्वारा ऊपर की बात का स्पष्टीकरण

नोद्धृत कथोपकथन चन्द्रकान्ता संतति से लिया गया है। नागर नामक ऐयार ऐयार को छल से विवश कर दिया है। भूतनाथ को संज्ञा लौट आई। उस वार्तालाप है—

क्यो बे कमबख्त, अपने किये की सजा पा चुका या कुछ कसर है? तूने देखा मेरे पास कैसी अद्भुत वस्तु है? अगर हाथी भी है तो इसके जहर को बर्दाश्त न कर सके और देखते देखते मर जाय। तेरी क्या हकीकत है?

बेशक ऐसा ही है, अस्तु, अब मुझे निश्चय हो गया कि मेरी किस्मत में जरा भी सुख भोगना नहीं है।

साथ मे तुम्हें यह भी मालूम हो गया होगा कि उस जहर को मै सहज मे ही उतार सकता हूँ। इसमे कोई सन्देह नही कि तू मर चुका था। मैंने तुझे इसलिये जिलाया कि अपने लिखे हुए कागजो का हाल दुनिया मे फैला हुआ तू स्वयं देख और सुन ले क्योंकि इससे बढ़ कर दुख तेरे लिये नहीं है, और यह भी देख ले कि उस कमबख्त कमलिनी के साथ मैंने क्या किया जिसने तुझे धोखे मे डाला था। इस समय मेरे वह कब्जे मे है क्योंकि कल वह मेरे घर जकर जारूर टिकेगी, अहा! अब मालूम हुआ कि रात वाले अद्भुत मामले की जड़ वही है और इस मुर्दे शेर को भी तूने रास्ते मे बैठाया होगा।

(आँखों मे आँसू भर कर) अब की दफे मुझे माफ करो जो कुछ हुआ हुक्म दो मै करने को तैयार हूँ।

मै अभी कह चुकी हूँ कि तुझे मारूँगी नहीं, फिर इतना क्यों डरता है।

नहीं, नहीं मै वह जिन्दगी नहीं चाहता जैसी तुम देती हो। हाँ, यदि इस बात का वायदा करो कि वे कागजात किसी दूसरे को न दोगे तो मै वे सब काम करने को तैयार हूँ जिनसे पहिले इन्कार करता था।

मै ऐसा कर सकती हूँ क्योंकि आखिर तुझे जिंदा छोड़ूँगी ही और यदि मेरे काम से जी चुरायेगा तो मैं तेरे कागजात भी बड़ी हिफाजत से रखूँगी! हाँ खूब याद आया। उस चिट्ठी को जरा पढ़ना चाहिये जो उस कम्बख्त कमलिनी ने यह कह कर दिया था कि मुलाकात होने पर मनोरमा को दे देना।

ारी संतति या उस समय के उपन्यासों में इसी तरह के कथोपकथन

भरे पड़े हैं। इन कथोपकथन को पढ़ कर मेरे सामने दो झगड़ालू व्यक्तियों की कल्पना हो आती है जो क्रोधावेश में एक दूसरे का हाथ पकड़ कर आपस में क्रोधोक्तियों प्रत्युक्तियों की बौछार कर रहे हों अथवा एक कुत्ता हो, शेर हो, बिल्ली हो जो अपने शिकार को अपने पंजे से फाड़ता हुआ भी गुर्राता हो। व्यक्तियों की क्रोधोक्तियाँ अथवा पशुओं की गुर्राहट का कोई पृथक अस्तित्व नहीं, वे तो उसकी क्रियाओं उसके कर्मकाण्ड के ही एक अभिन्न अंग हैं। इनमें कनटम्प्लेशन Contemplation अर्थात् अनुचिन्तनशीलता का नितान्त अभाव है जो मानव को उसकी क्रिया से विच्छिन्न कर उसके आन्तरिक पहलू को दिखलाता है! ये उपन्यास अपने महत्व के लिये पाठकों की उस प्रवृत्ति पर निर्भर करते हैं जो बाहरी क्रिया कलापों के साथ झट से तादात्म्य स्थापित कर लेती है, उस प्रवृत्ति पर नहीं जो मानव के कनटम्प्लेटिव नेस Contemplative ness अनुचिन्तन को ज्यादा महत्व देती है। और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मानव की आन्तरिक दशा का पता, उसके मनोविज्ञान का पता उसके बाह्य कर्तव्य से अधिक उसके अनुचिन्तन में मिलता है, इसके लिये हमें कर्मरत मानव Man-in Action से अधिक अनुचिन्तनगत मानव Man-in-Contemplation की आवश्यकता है। मैं कहना चाह रहा हूँ कि प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासों में अनुचिन्तन गत मानव Man in Contemplation का तो सर्वथा अभाव है ही पर कर्म रत मानव Man in Action में भी क्रिया का अंश इतना है कि उसके नीचे दब कर मानव की सांस निकल सी गई है। पर प्रेमचन्द के उपन्यास में क्रिया की चट्टान में दरारें पड़ गई है, उनसे होकर वायु आने लगी है, मानव के सांस की गति में स्वाभाविकता आ गई है और वह अब अनुचिन्तन Contemplation की ओर भी ध्यान देने लगा है हालांकि आज के प्रबुद्ध पाठक के लिये उस अनुचिन्तन Contemplation की मात्रा संतोषजनक नहीं है।

गोदान से उदाहरण

गोदान के प्रथम पृष्ठ पर के कथोपकथन को देखिये। होरीराम ने दोनों बैलों की सानी पानी देकर अपनी स्त्री धनिया से कहा "गोबर को ऊख गोड़ने भेज देना। मैं न जाने कब लौटूँ। जरा मेरी लाठी दे दे। धनिया के दोनों हाथ गोबर से भरे थे। उपले पाथ कर आ रही थी बोली—"अरे कुछ रस पानी तो कर लो। ऐसी जल्दी क्या है।" होरी ने अपने झुर्रियों भरे माथे को सिकोड़ कर कहा "तुझे रस पानी की पड़ी है, मुझे चिन्ता है कि अबेर हो गई तो मालिक से भेंट न होगी।

"इसी से तो कहती हूँ कुछ जलपान कर लो। आज न जाओगे तो कौन हरज होगा"

"तू तो बात समझती नहीं उसमें टांग क्यों अड़ाती है मैं इ मेरी लाठी दे दे

और अपना काम देख। यह मिलते जुलते रहने का प्रसाद है कि अभी तक जान बची हुई है। नहीं तो पता नहीं लगता किधर गये होते। गाँव में इतने आदमी तो है किस पर बेदखली नहीं आई। किस पर कुड़की नहीं आइ। जब दूसरों के पाँवों तले गर्दन दबी हुई है तो उन पाँवो को सहलाने में ही गुजर है।"

इन पंक्तियों को पढ़ने से एक सचिन्त प्राणी का दर्शन होता है, उसकी मानसिक प्रक्रिया की झाकी मिलती है। उसकी अनुभूतियों का आत्म-निष्ठ रूप (Subjective) देखने को मिलता है, बटन के दबाते ही कर्म क्षेत्र मे कूद कर अनेक प्रकार के शारीरिक कौशल (Acrobatics) के प्रदर्शन करने वाले मानव का नहीं, सकेत पाते ही दौड़ में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति का नही, परन्तु दौड़ प्रारम्भ होने के पूर्व मानसिक तैयारी करने वाले मानव का।

मेरे कथन का यह तात्पर्य नहीं कि प्रेमचद के उपन्यास में ऐसे कथोपकथन का सर्वथा अभाव है जिनके द्वारा पात्रो के अनुचिन्तन का ही पता चले तथा सक्रियता Action वाले रूप का, जैसा खत्री जी इत्यादि के उपन्यासो मे होता है, प्रदर्शन होता ही नही है। नही, प्रेमचंद के उपन्यासो मे भी यत्र तत्र ऐसे कथोपकथन वर्तमान हैं जिन्हे वाह्य क्रियाओं का ही अग कहा जा सकता है। कायाकल्प से एक उदाहरण लीजिये। इस उदाहरण का उद्देश्य यही है कि ऊपर से हम जिन दो प्रकार के कथोपकथनों की चर्चा कर रहे हैं उनके सूक्ष्म भेद का और भी स्पष्टीकरण हो जाय।

चक्रधर जेल मे है। वहाँ के अन्य कैदियों ने दरोगा जी के अत्याचार से तग आकर एक दिन उनकी गर्दन पकड़ी और इतने जोर से दबाई कि आखें निकल पड़ी। चक्रधर ने धन्नासिह कैदी का हाथ पकड़ लिया और बोले

"हट जाओ, क्या करते हो......छोड़ो ईश्वर के लिये।

धन्नासिंह : जाओ भी, बड़े ईश्वर की पूँछ बने हो। जब रोज गालियाँ देता है, बात बात पर हटर जमाता है तब ईश्वर कहाँ सोया रहता है जो इस घड़ी जाग उठा। हट जाओ सामने से नहीं तो सारा बाबूपना निकाल दूँगा। पहले इससे पूछो, अब तो किसी को गालियाँ न देगा, न मारने को दौड़ेगा।

दरोगा : कसम कुरान की जो मेरे मुँह से गाली का एक हरफ भी निकले।

धन्नासिह : कान पकड़ो

दरोगा : कान पकड़ता हूँ

धन्नासिह : जाओ बचा, अच्छे का मुंह देख कर उठे थे नही तो आज जान नहीं बचती। यहाँ कौन रोने वाला बैठा हुआ है।

चक्रधर दारोगाजी ऐसा न कीजियेगा कि वहाँ जाकर सिपाहियों को चढ़ा लाइये और गरीबों को भुनवा डालिये

दरोगा : लाहोल बिला कूवत इतना कमीना नहीं हूँ......

धन्नासिंह : मियां, शारद शारद बुलाई तो तुम्हारे हक में बुरा होगा, समझाये देते हैं। हमको क्या जीने की खुशी है ना मरने का गम, लेकिन तुम्हारे नाम को रोने वाला कोई नहीं रहेगा।

स्पष्ट है कि इस कथन में क्रियाशीलता Action अधिक है। अनुचिन्तन Contemplation कम। अतः मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण नहीं। प्रेमचंद के उपन्यासों में इस तरह के कथोपकथन का उत्तरोत्तर अभाव होता गया है। गोदान में आते आते धनिया और गोबर की बातों में उसकी थोड़ी झलक रह गई है अन्यथा लोप ही समझिये।

नूतन टेकनीक

प्रेमचंद के कथोपकथन की मनोवैज्ञानिक टेकनीक की बातें पर्याप्त रूप में हो चुकीं। इस कथोपकथन से मिलती जुलती एक और टेकनीक है जिसकी मनोवैज्ञानिक रुपता पर विचार कर लेना चाहिये। हम ऊपर यह कह चुके हैं कि प्रेमचंद के उपन्यास घटनात्मक और वर्णनात्मक हैं। ये दोनों प्रवृत्तियाँ मनोवैज्ञानिक नहीं कहीं जा सकती। कारण कि इनके कारण उपन्यास में वर्णित पात्रों की आन्तरिक मनोवृत्तियों तथा उनकी अनुभूतियों की आत्मनिष्ठता (Subjective aspect of experience) के साथ पाठकों का सीधा सम्पर्क नहीं होता, वह उनको प्रत्यक्ष दर्शन का सतोष लाभ नहीं करा सकता। उपन्यासकार की उपस्थिति सदा खटकने वाली बात होती है। पर जहाँ भी थोड़ी कहीं देर के लिये उपन्यासकार अपने को हटा सा लेता हो या अनजाने में ही हट जाता हो वहाँ एक विशेष मनोवैज्ञानिक चमत्कार आ जाता है। ऐसा मालूम होता है कि पाठक स्वयं पात्रों के हृदय के रहस्यमय प्रदेशों को अपनी आँखों से देख रहा हो। प्रेमचंद के उपन्यासों में ऐसे ऐसे स्थलों का आनन्द और भी बढ़ जाता है। क्यों कि उनके उपन्यासों में ऐसे अवसर कम आते हैं जहाँ पाठकों के मन को उपन्यासकार की जंजीर से छूट कर स्वयं कल्लोल करने का आनन्दानुभव हो। प्रेमचंद के उपन्यासों में ऐसे अवसर तब आये है जहाँ उन्होंने कथा प्रवाह के मध्य पात्रों के स्वकथन की रचना की हो और कुछ ऐसे ढंग से की है कि पाठकों को यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती वह स्वयं ही समझ लेता है। बात यह है कि जब उपन्यासकार यह कहने लगता है कि अमुक ने ऐसा कहा और उन कथनों को इन्वरटेड कामा Inverted-Commas के अन्दर रखता है तो उसकी उपस्थिति और उपन्यास की स्वाभाविक गति के साथ उसका हस्तक्षेप स्पष्ट हो कर आज के प्रबुद्ध पाठकों के मन में काटे की तरह खटकने लगता है। जहाँ इस तरह की योजना हो कि बिना कहे ही पाठक स्वयमेव समझ ले वह अधिक स्वाभाविक और मनोविज्ञान सम्मत पद्धति के पद का अधिकारी

भी होगा। प्रेमचद जी के गोदान से उदाहरण लूंगा। इस उपन्यास में प्रेमचंद मे इस पद्धति के प्रयोग की प्रवृति बढ़ती सी प्रतीत होती है यद्यपि कायाकल्प, गबन, रंग भूमि में भी इसके प्रयोग का नितान्त अभाव हो ऐसी बात नहीं।

होरी अपने जमीदार से मिलने जा रहा है।

"दोनो ओर खेतो में काम करने वाले किसान उसे देखकर राम राम कहते और सम्मान भाव से चिलम पीने का निमंत्रण देते थे। पर होरी को अवकाश कहाँ था। उसके अन्दर बैठी हुई सम्मान-लालसा ऐसा आधार पाकर उसके रूखे मुख पर गर्व की झलक पैदा कर रही थी। मालिको से मिलते जुलते रहने का ही तो यह प्रसाद है कि सब उसका आदर करते हैं। नही तो कौन पूछता। पॉच बीघे के किसान की बिसात क्या? यह कम आदर नहीं है कि तीन तीन चार हलवाले महतो भी उसके सामने सिर झुकाते है......वह आगे बढ़ता है, और एक चरागाह के पास पहुचता है जहाँ थोड़ी तरावट थी। उसके जी में आया यहाँ कुछ देर बैठा जाय। दिन भर तो लू लपट में मरना है ही। कई किसान इस गढ़े का पट्टा लिखने को तैयार थे। अच्छी रकम देते थे पर ईश्वर भला करे राय साहब का कि उन्होने साफ कह दिया कि यह जमीन जानवरों की चराई के लिये छोड़ दी गई है और किसी दाम पर न उठाई जावेगी। कोई स्वार्थी जमीदार होता तो कहता गायें जॉय भाड़ में, हमें तो रुपये मिलते हैं तो क्यों छोड़े? पर राय साहब अभी पुरानी मान मर्यादा निभाते आते हैं।

आगे चल कर वह देखता है कि भोला अपनी गायें लिये इसी तरफ आ रहा है। होरी का मन उन गायो को देखकर ललचा आया। अगर भोला वह आगे आने वाली गाय दे दे तो क्या कहना। रुपये आगे पीछे देता रहेगा। वह जानता था कि घर में रुपये नहीं है, अभी तक लगान नहीं चुकाया जा सका। बिसेसर साह का देना भी बाकी है, जिस पर आने रुपये का सूद चढ़ रहा है लेकिन दरिद्रता में एक अदूरदर्शिता होती है। वह निर्लज्जता, तकाज़े, गाली मार से भी नहीं भयभीत होती। उसने उसे प्रोत्साहित किया। बरसों से जो साध मन को आन्दोलित कर रही थी उसने उसे विचलित कर दिया। भोला के समीप जाकर बोला "भाई कहो, क्या रंग ढग है। सुना है मेले से नई गाय लाये हो!"

रेखांकित पंक्तियों को ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि ये होरी के वचन हैं। पर यहाँ पर उपन्यासकार की ओर से यह बात नहीं कही गई है और न यह कहने की आवश्यकता है। हम प्रेमचंद जी की पद्धति मे कहाँ तक मनोवैज्ञानिकता का समावेश हो सका है इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं और इस दृष्टि से पद्धति में इस थोड़े से विकास का बड़ा महत्व है क्यों कि इस का अर्थ यह होता है कि प्रेमचद की कला में

लोभ,घृणा, क्रोध इत्यादि भी प्रेम के पहलू हो सकते हैं, प्रेम के आधार विविध प्रकार के हो सकते हैं यह उनके विवेचन के परे की बात थी। पर गोदान में आकर यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई है। हालां कि प्रारम्भ से ही उसके बीज उपस्थित थे। मालती और मेहता के चरित्र को लेकर इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर है। यही कारण है कि बहुत से आलोचको की दृष्टि मे गोदान होरी के जीवन व्यापी आर्थिक संघर्ष की कथा न हो कर मालती और मेहता के मानसिक विवर्तन की कथा है, पारस्परिक विचारो के आदान प्रदान जीवन के खुलते हुए रूपो के कारण एक दूसरे की मानसिक प्रक्रियाओं की कथा है।

मालती और मेहता दोनों में पारस्परिक परिचय उस घनिष्ठता को प्राप्त हो गया है जिसकी सीमा प्रेम के आसपास होती है। वार्तालाप के प्रसग मे चर्चा छिड़ जाती है कि विवाह के पश्चात् दम्पति मे से कोई बेवफाई करे तो क्या करना चाहिये। मालती इस पर उदारता पूर्वक सहिष्णुता से काम लेने के पक्ष मे है, पर मेहता नहीं।

"नहीं मालती, इस विषय में मैं पूरा पशु हूँ...आध्यात्मिक प्रेम और त्यागमय प्रेम और निस्वार्थ प्रेम......मेरे लिये निर्रथक शब्द हैं। मैने पुस्तकों में ऐसी प्रेम कथाये पढी है जहाँ प्रेमी ने प्रेमिका के लिये जान दे दी है। मगर उस भावना को मै श्रद्धा कह सकता हूँ प्रेम कभी नहीं। प्रेम सीधी सादी गऊ नहीं, खूंख्वार शेर है जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी नहीं पड़ने देता।[२४]

एक स्थान पर मालती और मेहता के सम्बन्ध पर विचार करते हुए प्रेमचंद कहते हैं।

" मेहता प्रेम मे जिस सुख की कल्पना करते थे उसे श्रद्धा ने और भी गहरा और स्फूर्तिमय बना दिया। प्रेम में कुछ मान भी होता है, कुछ महत्व भी। श्रद्धा तो अपने को मिटा डालती है और अपने मिट जाने को ही अपना इष्ट बना लेती है। प्रेम अधिकार चाहता है। जो कुछ देता है उसके बदले में कुछ चाहता भी है। श्रद्धा का चरम आनन्द अपना समर्पण है जिसमें अहम्मन्यता का ध्वश हो जाता है।"[२५]

इन पंक्तियों को देखने से ऐसा मालूम होता है कि स्व० रामचन्द्र शुक्ल के चिन्तामणि की कण्ठ-ध्वनि यहाँ बोल रही है जो भावों के सूक्ष्म भेदों और उपभेदों के विश्लेषण में संलग्न है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इस तरह के मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म विश्लेषण उस युग की विशेषता थी। शायद यह शुक्ल जी का प्रभाव हो। हरिऔध जी के प्रियप्रवास की राधा भी अंत मे इसी तरह के विश्लेषण मे ही अपने वक्तव्य को समाप्त करती है हाँ यह बात अवश्य है कि शुक्ल जी की तरह प्रेमचंद के विश्लेषण मे कोई शास्त्रीय या तार्किक पकड़ नहीं है जो कुछ है वह जीवन के

स्वाभाविक क्षेत्र में सम्भावित दिखाया गया है। सहज रूप में, किसी तार्किक के मार्ग से नहीं।

आगे चल कर मालती और मेहता का जीवन जो रुख पकड़ता है उसमें भी प्रेमचद की उपन्यासकला की प्रौढ़ता तथा मनोवैज्ञानिकता की सूक्ष्म पहिचान मिलती है। प्रायः होता यह है कि किसी उपन्यास के पठन क्रम के अवसर पर पाठक को घटना चक्र के विकास का पूर्वाभास थोड़ा सा मिल जाता है, उदाहरणार्थ नर और नारी के पारस्परिक व्यवहार से पाठक अनुमान लगा लेता है कि यथा अवसर ये दोनों प्रणय सूत्र में आबद्ध हो जायेंगे, अथवा उपन्यास के वर्णित दो पुरुष पात्रों का सम्बन्ध मैत्री का रूप धारण करेगा या शत्रुता का। उपन्यासकार भी पाठक के अनुमान का समर्थन ही करता था और यह होता था यथार्थवादिता के नाम पर। यह नहीं होता था कि पाठक के अनुमान को चुनौती देकर घटनायें कोई दूसरा रूप धारण कर ले। पाठक अब तक इसी अनुमान में मग्न रहे कि घटना अमुक रूप से मोड़ लेगी तब तक विपरीतता आकर उसे झकझोर जाय। पर प्रेमचंद जी की कला ने इस टैक्ट (Tact) को अपनाने का प्रयत्न किया है। रंगभूमि मे हम सूरदास की विजय की कल्पना करते ही रह जाते हैं। घटनाओं से भी हमारी कल्पनाओं को समर्थन मिलता आया है पर बात होती है दूसरी, जमीन उसके हाथ से निकल ही जाती है। मालती में घनिष्टता बढ़ती जा रही है और मित्रों के बीच यह खबर गर्म है कि दोनों की शादी शीघ्र ही होने जा रही है। केवल रस्म अदा करने की देर हैं, मेहता भी ऐसी ही सोचते हैं, पर अत में मालती अपने हृदय पर पत्थर रख कर यही फतवा देती है कि स्त्री और पुरुष के रूप मे न रह कर मित्र के रूप में रहना ही श्रेयस्कर है।

इस कला पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलेगा कि इसके द्वारा मनुष्य की दो प्रवृत्तियों को संतोष मिलता है। कथाकार के सैडिज्म (Sadism) का और पाठकों के मैसोकिज्म (Masochism) का। ये दोनों पारिभाषिक शब्द आज के मनोविज्ञान के विद्यार्थी को अच्छी तरह ज्ञात हैं। इनकी व्याख्या भी इस निबंध के द्वितीय अध्याय में हो चुकी है। हिन्दी में एक को परपीड़क कहेंगे अर्थात् वह दूसरों पीड़ा देकर आनन्द की उपलब्धि करता है। दूसरे के स्वपीड़क अर्थात् दूसरों से पीड़ित होने मे आनन्द लेने वाला कहा जा सकता है। उक्त घटनाओं को अप्रत्याशित रूप में मोड़कर कथाकार पाठक को झकझोर देता है। उसे मानसिक आघात पहुँचता है और पाठक इस पीड़ा को आनन्दमयी प्रवृत्ति से ग्रहण करता है इसे Enjoy करता सा मालूम पड़ता है। कल्पना कीजिये कि किसी व्यक्ति के शरीर के किसी भाग में एक घाव हो गया है, वह बार-बार उसे छूता है, दबाता है। इस प्रक्रिया में उसका घाव

दुखता है, पीड़ा उभर आती है पर साथ ही साथ आनन्द की मात्रा भी उपभोग्य रूप में लगी चलती है जो पुनः घाव को छेड़ने के लिये प्रेरित करती रहती है।

गोदान मे स्व-आक्रमण-प्रेरणावेग

गोदान का अध्ययन करते समय पाठक को उपन्यास के पात्रो के व्यवहार में कुछ ऐसे सूत्र मिलते हैं जिन्हे आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने नेमीजिज्म (Nemisism) अटो एग्रेसन (Auto-aggression) डैस्टरयूरिडा (Desteruridoा) इत्यादि भिन्न नामो से अभिहित किया है[२६] और हिन्दी में इम स्वआक्रमण-प्रेरणावेग कहेंगे। अनेक मनुष्यों मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है जिसके कितने मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं। परन्तु इसके अर्थ को स्पष्टतया हृदयंगम करने तथा गोदान के पात्रो मे इनकी झलक पाने के लिये इसकी व्याख्या आवश्यक है।

यह बात सर्वमान्य होगी कि बालक और उसके माता पिता, अभिभावक अथवा इनके स्थानापन्न किसी भी व्यक्ति का सम्बन्ध बड़ा ही जटिल और परस्पर विरोधी होता है। पिता एक ओर तो सहायक, समर्थक, आनन्द दायक तथा जीवन की सारी इच्छाओ की पूर्ति करने वाले के रूप में आदर, श्रद्धा और कृतज्ञता का अधिकारी होता है पर दूसरी ओर बालक के हृदय में उसके लिये घृणा, विरोध, बैर के भाव भी सचित रहते है क्योंकि वह अनेक अवसरो पर बालक की स्वाभाविक आनन्द प्राप्ति के मार्ग का निरोधक होता है, डाँटता है, फटकारता है और इच्छा की पूर्ति मे सहायक होता है या बाधक होता है, उसकी कोपमुद्रा बालक को स्वाभाविक उमगो को शांत कर देती है। अतः बालक के हृदय मे पिता के विरुद्ध आक्रमणात्मक भावो का उदय होना भी स्वाभाविक है। परन्तु बालक अपनी असमर्थता के कारण पिता पर सीधा आक्रमण नहीं कर सकता। इस परिस्थिति का सामना करने के लिये तीन मार्ग हो जाते हैं निरोधन (Repression) स्थानान्तरण (Displacement) स्वआक्रमण (turning it against him self)। छोटे बालको में प्रथम दो क्रियाओ से लाभ उठाने की इतनी सामर्थ्य नहीं होती। अतः स्व आक्रमण वाला मार्ग ही उन्हे अधिक सुविधाजनक मालूम पड़ता है। इसमे होता है क्या कि बालक पिता की विरोधी आज्ञाओ के पालन मे अनावश्यक अतितत्परता का परिचय देता है और परिणाम स्वरूप अपने को अत्यधिक कष्ट तथा पीड़ा में डालता है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट होगी। एक माँ बच्ची को कुछ पेय पदार्थ पिलाने का प्रयत्न करती है पर बालिका को वह रुचिकर नहीं। अतः बार-बार अपनी माँ के हाथ को बड़ी उग्रता, त्वरा और रोष से झटक देती है और हर तरह से अपनी ताकत लगाकर उसका विरोध करती है। पर कुछ देर पश्चात् अपनी माँ की हठधर्मी से तंग आकर बच्ची के व्यवहार में अकस्मात् परिवर्तन होता है। वह समूचे प्याले को उठा लेती है और अपनी कोपमुद्रा में जरा भी परिवर्तन किये बिना त्वरा के

साथ गट-गट पी जाती है। मानों यही कहती हो "लो यही न चाह रही थी, अपना जी जात कर मैं पी गई, चाहे मुझ पर जो बीते। तुम्हें तो सतोष हुआ न।" यद्यपि यहाँ बच्ची का व्यवहार माँ के आज्ञा पालन के रूप में ही होता दिखलाई पड़ता है, पर यहाँ आज्ञा पालन मात्र नहीं है। इसमें एक आक्रमण है, विरोध है जो अपने को दण्डित कर दूसरे से बदला लेना चाहता है।

दास्तावेस्की से उदाहरण

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अध्ययन करते समय हम प्रसिद्ध रूसी औपन्यासिक दास्तावेस्की को विस्मृत नहीं कर सकते। उसके Raw youth के एक पात्र Arkad ने बड़े ही सजीव ढङ्ग से इस मानसिक स्थिति का वर्णन किया है "विचित्र बात है कि बहुत बाल्यावस्था से ही मुझमें एक विशेषता थी। यदि कोई मेरे साथ असद् व्यवहार करता, मेरी अत्यधिक बुराई या अपमान करता तो उस अपमान को चुपचाप निष्क्रिय रूप से सह लेने की प्रवृत्ति जग उठती थी। इतना ही नहीं आक्रमण कर्ता की इच्छा से भी अधिक अपमान सह लेने की इच्छा होती थी मानो मैं यह कहता होऊँ "अच्छी बात है। आप मुझे नीचा दिखाना चाहते हैं! लीजिये मै अपने को उससे भी नीचा झुका लेता हूँ। देखिए और प्रसन्न होईये।"

यहाँ पात्र स्वयं अपने मानसिक रहस्य को समझा रहा है क्योंकि उसे दास्तावेस्की जैसी प्रतिभा की आंखे प्राप्त है। पर प्रायः यह प्रवृति अचेतनवास्था में काम करती है और मनुष्य स्वयं इससे परिचित नही रहता और यह अचेतन मे दुबकी रह कर ऐसे मनुष्यों की एक विशाल सेना खड़ी करती है जिन्हें न्युरोटिक (Neurotic) कहते हैं। यह प्रवृत्ति कभी सगठित रूप में एक सस्था का रूप भी धारण करती है। भूख हड़ताल सत्याग्रह, सिट डाउन स्ट्राइक करने वालों मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है। ये लोग स्वय पीड़ा उठा कर पीड़क को रास्ते पर लाना चाहते हैं। कहीं कहीं तो शिक्षण संस्थाओं में यह प्रयोग किया गया है कि छात्रो के अपराध के लिए शिक्षकों को दण्ड दिया जाता है। किसी शिक्षक के निरीक्षण में रहने वाला छात्र कोई असद्व्यवहार करता है तो शिक्षक को स्कूल मे विलम्ब से घर जाने की छुट्टी मिलती है। यहाँ शिक्षक को उस एग्रेसन (aggression) को अपने ऊपर लेना पड़ता है जिसका आघात पहिले विद्यार्थी को सहन करना पड़ता था।

इस आक्रमण-प्रेरणावेग (turning aggression against himself) वाली मनोवृत्तिका प्रदर्शन हम होरी के चरित्र में एकाधिक अवसर पर पाते हैं। गोदान के २० वे अध्याय को ध्यान से पढ़ने पर मनोवैज्ञानिकों के द्वारा बताई गई इस प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण मिलेगा। होरी की आर्थिक दशा दिन प्रति दिन गिरती जा रही है। वह किसान से मजदूर बन गया है और दातादीन के यहाँ मजदूरी कर अपना जीवि

कोपार्जन कर रहा है। दातादीन कहते हैं कि हाथ फुरती से चलाओ होरी। इस तरह से तुम दिन भर में भी न काट सकोगे।

होरी आहत अभिमान से कहता है "चला ही तो रहा हूँ महाराज। बैठा तो नहीं हूँ।"

इस पर दातादीन और जली कटी बातें सुनाते हैं। तीन दिनों का भूखा होरी विष का घूँट पी कर जोर से हाथ चलाना शुरू करता है। हाथ से गंडासा छूट गया और वह जमीन पर औंधे मुँह गिर गया। इस समय का जो वर्णन प्रेमचंद ने किया है वह द्रष्टव्य है। "होरी उन्मत्त की भाँति सिर से ऊपर गंडासा उठाकर ऊंख के टुकड़ों का ढेर करता जा रहा था। उसके भीतर जैसे आग लगी हुई थी। उसमें अलौकिक शक्ति आ गई थी। उसमें जो पीढ़ियों का संचित पानी था वह इस समय जैसे भाप बन कर उसे मन्त्र की सी शक्ति प्रदान कर रहा था। उसकी आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा, सिर में फिरकी सी चलने लगी फिर भी उसके हाथ यन्त्र की गति से बिना थके, बिना रुके उठ रहे थे। उसकी देह से पसीने की धार निकल रही थी, मुँह से फिचकुर छूट रहा था और सिर मे धम धम सा शब्द हो रहा था। पर उस पर जैसे कोई भूत सवार हो गया था"

होरी के इस व्यवहार में और बच्ची के व्यवहार में जो कटु दवा का प्याला गट गट पी जाती है दोनों में कितना साम्य है? यह स्वाभाविक आज्ञा-पालकता नहीं इसमें स्व आक्रमण प्रेरणा का आवेग है। यह आज्ञा पालकता की विद्रूपमयी अति है, इसमें त्वरा है, यह ओवर आबिडियन्स (Over obedience) है। यहीं पर गोदान के अन्तिम पन्नों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है जहाँ पर होरी अपनी मालिक की लगती बात के उत्तर मे काम करते रहते अपने प्राणों को भी गवा देता है। यह एक दम से आत्म हत्या, आत्म हनन सा दीख पड़ता है। आत्म हत्या स्व-आक्रमण प्रेरणावेग का अन्यतम रूप है। यहाँ पर होरी ने अपने ऊपर किसी आन्तरिक प्रेरणा के वश अधिक से अधिक प्रचण्ड रूप में आक्रमण किया है जो एक तरह से आत्म हत्या का ही रूप ले लेता है। आत्म हत्या के मनोवैज्ञानिक पहलू पर फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषणाविदों ने अनेक मनोरञ्जक बातें कही है[२७]

होरी यहाँ पर एक पीड़ित असहाय मानवता, शिशु कह लीजिये, का प्रतीक है जिसका हृदय जमींदारों तथा उन्हीं के समकक्ष अन्य लोगों के प्रति घृणा और स्नेह दोनों के भाव से भरा है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि होरी आधुनिक उग्र साम्यवादी (Communist) दल का सदस्य नहीं है जो सामंती या पूँजीवाद के प्रति विशुद्ध घृणा और विद्वेष के भावों से ही लहक रहा हो। वह जानता है कि उनके पैर के तले सिर है उससे पीड़ा का भी अनुभव होता है पर दबाने वाले पैरों को तोड़

डालने में विश्वास नहीं करता। समझता है कि उनका सहलाना ही अच्छा है। अतः होरी की स्थिति उस बालक की है जो अपने अभिभावकों के प्रति दो परस्पर विरोधी भावनाओं घृणा और प्रेम दोनों से आन्दोलित होता रहता है। अतः वह आत्म हत्या कर अपने को पीड़ित करने वाले से बदला लेता है और उन्हें दण्डित करता है। यहाँ होरी अथवा तत्स्थानीय किसी भी व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पहलू के अध्ययन से ये बातें मालूम पड़ती है कि[1] वह सोचता है कि मेरे इस कष्ट सहन से जिसका आत्यन्तिक रूप आत्म हत्या है मेरे पीडक के हृदय में लज्जा होगी, उसे तरह तरह की कटु और अवाच्छनीय स्थिति का सामना करना पड़ेगा। वजन बढ़ा तो क्या बोझा तो मरा वाली मनोवृत्ति हो जाती है।[2] अपने पीड़कों पर सीधे अविकार 'करने की अवस्था में उसे अनेकों भय और पाप की भावनाओं का शिकार होना पड़ता। इस आत्मा के वृश्चिक डंक से तो कम से कम, मुक्ति मिलती है।[3] यदि वह जीवित रहता तो उसे पीड़ा में डाल कर कष्ट देकर उसके पीड़क को संतोष होता। अपने को मिटा कर अपने विरोधी को इस आत्म सुख के भावों से वंचित करता है। एक अपराधी को प्राण दण्ड की सजा हुई है पर ठीक फांसी पर झूलने के एक घण्टे पहिले वह आत्म हत्या कर लेता है। बात एक ही होती है, उसे प्राण गँवाने पड़ते हैं ही पर दोनों के मनोवैज्ञानिक पहलू में कितना अन्तर है। एक में पीडक की विजय है तो दूसरे में पीड़ित की। मेरे कहने का अर्थ केवल यही है कि होरी के चरित्र का अध्ययन इन मनोवैज्ञानिक बातों पर अच्छा प्रकाश डालना है।

निष्कर्ष

ऊपर के विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि प्रेमचद ने उपन्यास कला में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित नहीं किया पर उन्होंने उपन्यास की परम्परा से ही इतना काम लिया कि हिन्दी कथा साहित्य एक अभूतपूर्व वस्तु हो उठी। सुन्दर वार्तालापों द्वारा मनुष्य की अनुचिन्तनशीलता का प्रदर्शन, उसके अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण तो इस ढग से किया गया है कि आधुनिक उपन्यास कला की Interior monologue की याद हो आती है।[८]

पाद टिप्पणियाँ

१. हिन्दी उपन्यास लेखक शिव नारायण श्रीवास्तव पृ०
२. सेवा सदन १६ वाँ संस्करण पृ० ७
३. वही पृ० ७२
४. वही पृ० ७८
५. वही पृ० ८४
६. वही पृ० ११२
७. वही पृ० २०७
८. वही पृ० २०७

९. वही
१०. रंगभूमि पृ० १९१, १३वीं बार १९५२
११. रंगभूमि पृ० १९१-१९२
१२. रंगभूमि १९२
१३. ग़बन, द्वितीय संस्करण १९४७ पृ० ११
१४. ग़बन पृ० १५
१५. ग़बन पृ० ४३
१६. ग़बन पृ० ५१
१६ ग़बन पृ० ८६
१७ ग़बन पृ० ९१
१८. ग़बन पृ० ९३
१९. ग़बन पृ० १०८
२०. ग़बन पृ० २२१
२१.
२२, २३ दि ब्राइड ऑफ लेमर मूर (The Bride of Lammr Moor) नामक उपन्यास के प्रारम्भ में ही डिक टिन्टो (Dick Tinto) और लेखक स्काट की बातचीत से उद्धृत।
२४. गोदान का सातवाँ संस्करण नवम्बर १९४४ पृ० ४२२
२५. वही पृ० ४५८
२६ मैन, मोरल्स एन्ड सोसाइटी (Man, morals and society) १९४८ लेखक जे० सी० फ्लुगेल (J C. Flugen) पृ० ७८
२७. Essays in Applied psychoanalysis. Ernest Jones Vol I Chapters I and II on Dying together
२८. देखिये इस निबंध का १३वाँ परिच्छेद।

चतुर्थ अध्याय

प्रेमचन्द की कहानियाँ और मनोविज्ञान

प्रेमचन्द ने कथा के मनोभूम्यन्तर्गत प्रयाण प्रवृति को पहचाना

प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में कला के दृष्टिकोण से अथवा मनोविज्ञान के समावेश के दृष्टि कोण से कोई विशेष अन्तर नहीं है। उपन्यास के क्षेत्र-विस्तार ने सीमा के व्यापकत्व के कारण जिन तथ्यों को अपनी अभिव्यक्ति के लिये अधिकाधिक अवसर दिया है वहाँ कहानियों की लघु आकृति और सीमा संकोच में वे अर्द्धस्फुट होकर ही रह गये हैं। हिन्दी कथा साहित्य के बाह्य कार्याभिमुखत्व और घटनाभिमुखत्व की स्थूलता को अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की तरलता की ओर प्रवृत्त करना प्रेमचन्द जी की प्रतिभा का वरदान था। इनकी ही सहज बुद्धि ने कथा की स्वाभाविक यात्रा को मनोभूम्यन्तर्गत प्रयाण के पथ संकेत को पहचाना, समझा कि कला को अपनी समृद्धि तथा वैविध्य पूर्ण आढ्यता से समन्वित होने के लिये नई दुनिया का आविष्कार करना होगा, नये कथा विधान और शिल्प का आश्रय लेना होगा, मनुष्य को उसकी बाह्य क्रिया कलाप संलग्नता के रूप में न देकर उसकी मूल प्रेरणाओं के रूप में देखना होगा। मनुष्य को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों के प्रभाव के ग्रहणशील रूप में देखना होगा और ध्यान रखना होगा कि मनुष्य का व्यवहार क्या है और कैसा है। पर इस में भी अधिक प्राधान्य इस बात का होना चाहिये वह ऐसा व्यवहार क्यों कर रहा है। वास्तव में इस क्योंकि और किसी गहरी आचरण के मूल प्रेरक कारणों और मानसिक परिस्थितियों के ज्ञान की उत्सुकता के साथ ही कथा साहित्य में मनोविज्ञानिकता का उदय प्रारम्भ होता है।

यह प्रवृत्ति प्रेमचन्द की कहानियों के प्रारम्भ से ही दृष्टिगोचर होती है परन्तु उनके अन्तिम काल की कहानियों में मनोवैज्ञानिकता का आग्रह इतना बढ़ गया है कि घटनाओं का निर्माण, कथा की सजावट, आदर्शवादिता का मोह तथा राजनैतिक या सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण इत्यादि की धूमधाम रहते भी चरित्र चित्रण तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का स्वर मुखरित होने लगा है। प्रेमचन्द का कहानी-काल तीस वर्षों तक फैला हुआ है, १९०७ से लेकर १९३६ तक और इस अवधि में उनकी प्रतिभा के वरदान स्वरूप करीब ४०० कहानियाँ हिन्दी साहित्य को प्राप्त हुई और उनकी कला में उत्तरोत्तर विकास होता गया। आज हिन्दी का कथा-साहित्य बहुत ही समृद्ध कहा जाता है, उसमें लगभग ७ हजार कहानियाँ परिमाण की दृष्टि से वर्तमान हैं पर यदि उनमें से प्रेमचन्द की कहानियों को हटा लिया जाय तो इस क्षेत्र का गौरव अनेक

अंश मे नष्ट हो जायेगा और वह सूना सूना सा लगने लगेगा। यदि दो चार लेखकों को अपवाद स्वरूप मान लिया जाय तो आज भी हम पाते हैं कि हमारे कहानीकार प्रेमचन्द के पद चिन्हों का ही अनुकरण कर रहे हैं। प्रेमचन्द के समकालीन कहानीकारों में भी 'प्रसाद' के सिवा सभी कहानीकारों के भाव, विषय, वक्तव्य वस्तु, प्रतिपादन का ढर्रा, ढङ्ग तथा शैली प्रेमचन्द के आदर्श से ही अनुप्राणित है। विश्वम्भरनाथ शर्मा, "कौशिक", ज्वालादत्त शर्मा, सुदर्शन इत्यादि सब कहानीकार प्रेमचन्द के ही छोटे-मोटे संस्करण हैं। अतः प्रेमचन्द के कथा साहित्य के बारे में जो कुछ कहा जाय वह उनके अन्य समकालीन तथा अनेक परवर्ती कहानीकारो के बारे में भी गतार्थ समझना चाहिये।

प्रेमचंद की कहानियो के तीन रूप तथा उनकी विशेषतायें

कहानी कला के विकास की दृष्टि से, इसी को हम दूसरे शब्दो मे कहेंगे मानव मनोविज्ञान के अनुरूप्य, सामीप्य तथा आधारभूतत्व की दृष्टि से प्रेमचन्द को कहानियो को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।[1]

१. प्रारंभिक कहानियाँ
२ विकसित कहानियाँ
३. मनोवैज्ञानिक अथवा प्रौढ़ कहानियाँ

प्रारंभिक श्रेणी की प्रतिनिधि कहानियाँ निम्नलिखित हैं।

बड़े घर की बेटी, पंच परमेश्वर, नमक का दरोगा, परीक्षा, रानी सारंधा, ममता, अमावस्या की रात्रि इत्यादि। विकसित कहानियो का प्रतिनिधित्व करने वाली कहानियों मे वज्रपात, मैकू, माता का हृदय, मुक्ति का मार्ग, शतरंज के खिलाड़ी, डिगरी के रुपये, दुर्गा का मन्दिर, आत्माराम इत्यादि कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। मिस पद्मा, अलग्योझा, नशा, सुजान, भगत, कफन, मनोवृत्ति, घासवाली इत्यादि कहानियों में प्रेमचन्द की कला के प्रौढ़ और उत्कृष्ट रूप का दर्शन हो सकता है। इतिवृत्तात्मकता, बड़े बड़े डील डौल वाली घटनाओं के सौष्ठव पूर्ण आयोजन की प्रवृत्ति, किसी आकस्मिकता की धुरी पर कथा प्रवाह को मोड़ देने की प्रवृत्ति, किसी सामाजिक पहलू पर प्रकाश डालने का आग्रह, किसी आदर्श की स्थापना, घटनाओं के आघात से मनुष्य के आन्तरिक देवत्व की जागृति इत्यादि बातें प्रेमचन्द को प्रारंभिक श्रेणी की कहानियो में परिलक्षित होती हैं। जहाँ आज के मनोविज्ञान ने बाह्य घटनाओं की बाह्य स्थूलता और कट्टरता को चूर चूर कर रूई के गल्ले की तरह धुन दिया है, कथा के क्षेत्र में घटनाओं की गरिमा को यह अपनी शक्तिशाली फूँक से उड़ा देने की उपक्रम कर रहा है, उनकी शारीरिक स्थूलता को भी मानसिकता का तरल रूप देकर आयोजित करने की चेष्टा करता है वहाँ प्रेमचन्द की प्रारंभिक कहानियों में घटनाओं

का साम्राज्य ज्यों का त्यों है, वह अपने स्थान पर ज्यों का त्यों अचल है। कहानियाँ इतनी बड़ी बड़ी है और उनमें इतनी अनावश्यक बातों की अवतारणा की गई है कि वे उपन्यासों के ही लघु संस्करण जान पड़ती हैं। अपने उपन्यासों की तरह ही प्रेमचन्द ने राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन की साधारण घटनाओं को ही अपनी कहानियों में भी स्थान दिया है पर फिर भी कथा शरीर के स्वरूप निर्माण ने लेखक की सारी शक्ति को अपनी ओर इस तरह केन्द्रित कर लिया है कि उसे मानव मस्तिष्क में प्रवेश करने की शक्ति कम ही अवशिष्ट रह गई है। फलतः पाठक भी कथा सौष्ठव की कारीगरी में उलझ कर पात्रों की मानसिक गहराई के दर्शनों से वंचित ही रह जाता है।

प्रथम श्रेणी की कहानियों में घटना बाहुल्य के कारण मानसिक गहराई का अभाव

इस कथन का स्पष्टीकरण "बड़े घर की बेटी" नामक कहानी में हो सकता है। यहाँ पर कहानी की प्रधान पात्र आनन्दी है। जैसा कि कहानी के शीर्षक से पता चलता है। पर वातावरण तथा परिस्थितियों के वर्णन में प्रेमचन्द जी इतने सलग्न हैं कि उस परिवार के सब व्यक्तियों की कथा कहे या उनके वर्णन किये बिना उन्हें चैन नहीं। श्रीकंठसिंह, लालसिंह, बेनीमाधव सिंह और आनन्दी सब पात्रों के चरित्र का वर्णन इस कहानी के कलेवर अभिवृद्धि में सहायक हुए हैं। परिणाम यह हुआ है कि पात्रों के मानसिक जगत के भावमय दृश्यों का विकास कठिन हो गया है और कहानी उस स्वच्छंदता से अपने सौन्दर्य को प्रगट नहीं कर सकी है जिसके लक्षण उसके गर्भ में उपस्थित थे। अपने पूर्ववर्ती कथाकारों की मानस निरपेक्षित और स्थूल क्रियाकलापात्मक और आचरणात्मक जगत की परमुखापेक्षिता वाली प्रवृत्ति को प्रेमचन्दजी की प्रतिभा ने मोड़ अवश्य दिया है, उसके प्रवाह पर सदा के लिये प्रतिबन्ध लगा दिया है पर फिर भी कथा के रस के आकर्षण से अपने को वे मुक्त नहीं कर सके हैं। पात्रों से अधिक पात्रों के बाह्य आचरणों की ओर उनका ध्यान अधिक गया है। डा० लक्ष्मी नारायण लाल ने पंच परमेश्वर नामक कहानी का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि इस कहानी में दस मोड़ हैं। इसी तरह 'नव निधि' नामक संग्रह में ऐसी ऐसी भी कहानियाँ जिन्हें बीस-बीस मोड़ लेना पड़ा है। इन्हें मोड़ न कह कर गांठ ही कहना अधिक उपयुक्त होगा कारण कि जिस तरह किसी सूत्र की एकतानता तथा उसके स्वरूप की विशुद्धता को गांठों की उपस्थिति विकृत कर देती है, उसकी शक्ति को भी नष्ट कर देती है, उसी तरह से मोड़ भी कहानी की एक संवेदनता को तो नष्ट करती ही हैं साथ ही साथ पात्रों के आन्तरिक स्वरूप के प्रस्फुटित होने में भी बाधा उपस्थित करती है। बड़े घर की बेटी शीर्षक कहानी का विषय मनोवैज्ञानिक चित्रण के लिये बहुत ही उपयुक्त था, वक्तव्य वस्तु ऐसी थी जिसके द्वारा मनुष्य के मनोजगत की विचित्रताओं को बहुत ही अच्छे ढंग से और सफलता पूर्वक दिखलाया जा सकता था। पर लम्बे-लम्बे कथानक ने,

कथा से सम्बन्ध रखने वाले पात्रो तथा वातावरण को विस्तारपूर्वक कहने की प्रवृत्ति ने मनोविज्ञान के रूप को उभरने नहीं दिया है । अंग्रेजी कथा साहित्य के आन्तरिक प्रयाण का अध्ययन करते हमने कहा है कि उपन्यास की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के विकास के साथ ही उसकी वर्णनात्मक प्रवृत्ति में, कथक्कड़ी स्वभाव में, किस्सागोई में परिवर्तन आता गया है और वह कथा की सजावट के प्रति उदासीन होकर चेतना के चित्रण मे ही तल्लीन होने लगा है ।

दूसरे प्रकार की विकसित कहानियों में कथा तक का आकुंचन

प्रेमचन्दजी की विकसित कहानियों मे कथानकों के इतिवृत्ति का संकोच, आकुंचन, आकारलाघव की प्रवृत्ति स्पष्ट हो गई है । प्रेम पच्चीसी की कहानियाँ इस कथन के प्रमाण है, उनमें घटना बाहुल्य का अभाव होने लगा है, मूल संवेदना की विवृत्ति की ओर ही लेखक का ध्यान अधिक है, उसको इस बात की चिन्ता है कि एक बात भी ऐसी न हो जिस पर अप्रासंगिकता का लांछन लाया जा सके । बीस मोड़ यहा सिमट कर चार, पाच तक ही रह गए हैं, डा० लालने बूढ़ी काकी नामक कहानी मे केवल पॉच ही मोड़ बताये हैं ।[2] १ बूढ़ी काकी का परिचय २ सुखराम का तिलक समारोह में प्रीतिभोज, ३ काकी का भडार गृह में घुसना, ४ भूखी काकी का जूठे पत्तल चाटते हुए रूपा का देख लेना ५ रूपा का बूढ़ी काकी को विधिवत् भोजन कराना । आज कल की मनोवैज्ञानिकता को आचरण की इतनी भी बाह्य रूपता, स्थूलता, प्रसरणता, विस्तार असह्य है । वह तो बाह्य संसार क्षेत्र के आचरण में प्रगट होने वाले प्रत्येक हलचल को स्थगित कर हो आन्तरिक जगत की लहरों का चित्रण ही अपना कर्तव्य समझने लगी है । ऐसी अवस्था मे आज के पाठक को वर्णनात्मकता की स्थूलता इतिवृति की ऐसी विपुलाकार योजना, और सो भी छोटी कहानी की सीमा मे, प्रक्षुब्ध कर देती है ।

मनोविज्ञान का रूख बाह्य घटनाओं के प्रतिः घटनाओं को भी मनसिक बना देने की प्रवृत्ति

आज का कथा-कार घटनाओ की स्वयरूपता के महत्व को स्वीकार नहीं करता, वह इस बात में आस्था नहीं रखता कि मनुष्य के हृदयोदधि या मानस सागर मे गगन-विचुम्बित लहरो की सृष्टि की सामर्थ्य उतनी ही विपुलाकृत घटनाओं में ही है । वह इस सिद्धान्त में विश्वास नही करता कि मानसिक रूपाकृति बाह्य जगत की प्रतिकृति है, अर्थात् बड़ी घटनाये ही हमारे मानस को अधिक सशक्त रूप में प्रभावित कर सकेंगी और छोटी घटनाओं की साधारणता केवल सतह की लहरो को जरा सा आन्दोलित कर रह जायेगी । नहीं, उसकी धारणा यह हो गई है कि मनुष्य को आन्तरिक दुनिया बाहर के नियमों से संचालित हो यह आवश्यक नहीं । ऐसा भी हो सकता है कि एक सी तुच्छ घटना , किसी टेबुल पर बैठ कर

मसिपात्र को अपनी ओर खींच लेना, यात्रा के अवसर पर एक हिरण को देख लेना, किसी के हाथ में घड़ी को देख लेना, किसी पक्षी की बोली को सुन लेना हमारे हृदय में भावों और विचारों के अपार समुद्र की लहरें उत्पन्न कर दे सकती हैं। दूसरी ओर जीवन मरण सम्बन्धी घटनाएं, दुनिया के नक्शे को बदल देने वाले भूकम्प आयें और हमें ऊपर से ही छूते हुए निकल जाँय। अतः कथा-कार की कला के लिये घटनाओं का घटना के रूप में (Events qua Events) का कोई भी महत्व नहीं। मनोविज्ञान की दृष्टि से उनकी इतनी ही उपयोगिता है कि वे पात्रों के अन्तप्रदेश की वैविध्य पूर्ण प्रदर्शिनी के मध्य में हमें लाकर स्वयं वहाँ से ओझल हो जाँय, ठीक इसी तरह जैसे ध्वनि काव्य के शब्द और अर्थ दोनों किसी ध्वन्यर्थ के लिए अपनी स्वार्थ को उपसर्जनीकृत कर लेते हैं।[3] घटनाओं पर इस दृष्टि से विचार करते हुए किसी पदाधिकारी के आफिस के बाहर बैठे हुए चपरासी की कल्पना साकार हो जाती है। चपरासी का काम है पदाधिकारी के पास मिलनार्थियों का कार्ड पहुँचाना और उन्हें पदाधिकारी के पास पहुँचा कर स्वयं हट जाना। यदि चपरासी इन दोनों के सम्मेलन तथा परामर्श और विचार विनिमय के अवसर पर भी वहीं डटा रहे और समय समय पर वार्तालाप में भाग लेकर अपने अस्तित्व को प्रमाणित करता रहे तो यह शिष्टाचरण की विरोधिनी बात होगी। चपरासी की अनुपस्थिति ही वहाँ वाँछनीय है इसी तरह मनोवैज्ञानिक कथाकार के लिए घटना-क्रम मानव अन्तर्जगत के मार्ग प्रदर्शन करने वाले तथा वहाँ जाने के लिए थोड़ी सुविधा उत्पन्न कर देने के वाले चपरासी की तरह है जो हमें अन्दर जाने में सहायता देने के लिए सदा तत्पर रहता है। चपरासी का काम है कि वह मिष्टभाषी हो, सेवातत्पर हो, नम्र हो। उसकी रूपाकृति भी ऐसी होनी चाहिए जो लोगों के हृदय में विश्वास उत्पन्न करे और पदाधिकारी से मिलने के लिए प्रोत्साहन दे। कहीं कहीं ऐसे चपरासी भी होते हैं जिनके लम्बे और पहलवानी डील डौल और उनके सिर-विभजक सोटे की विभीषिका मिलने वालों के उत्साह को ठंडा कर देती है। सभ्यता ऐसे चपरासियों की उपस्थिति का विरोध करती है।

प्रेमचन्द जी की कहानियों में घटना रूपी चपरासियों को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है जैसा उनके उपन्यासों के सबन्ध में हम देख चुके है कि प्रेमचन्द का उपन्यास के आन्तरिक प्रयाण की दृष्टि से इतना ही महत्व है कि उनके चपरासी कुछ अनुनय विनय, खुशामद बरामद के पश्चात ही सही, समय पर आफिस के अन्दर प्रवेश करने की अनुमति दे देते है। जहाँ पूर्ववर्ती उपन्यासों में मानसिक कार्यलय था ही नहीं, भीमाकार चपरासियों की हैरत अंगेजी कत्तार को देख कर आगे बढ़ने का प्रोत्साहन ही नहीं होता था, अनेक उत्कोचों को हस्तगत कर के भी वे मानसिक द्वार को अवरुद्ध ही रखते थे वहाँ इतनी सदयता नरमी झाकी लेने देने की अनुमति

भी एक क्रान्तिकारी ही घटना थी। आज के मनोवैज्ञानिक मानव व्यक्तित्व का मानचित्र समझाते हुए नदी में तैरते हुए एक हिम प्रस्तर खण्ड की उपमा देते हैं जिसका तीन चौथाई अंश जल की सतह के नीचे अदृष्टि गोचर हो और केवल थोड़ा सा अंश ही अपनी सतह पर तैरता दिखाई पड़े। प्रेमचन्द की कहानियों का मानचित्र ठीक इसके विपरीत दिशा में है। इनका अधिकांश संसार के स्थूल कर्म क्षेत्र में फैला हुआ है इनके पात्र बहिर्जगत के ऐन्द्रिय गोचर मैदान में उछल कूद मचाते अधिक दिखलाई पड़ते हैं और इनके अनुचिन्तन का, विचार का तथा भाव प्रवाह का दर्शन कम दिखाई पड़ता है।

"मर्यादा की वेदी"[४] नामक कहानी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। झालावाड़ के राव साहब अपनी पुत्री प्रभा के साथ चित्तौर में मीरा के रणछोड़ जी के मन्दिर में आए उसी समय मन्दार के राज कुमार भी आये थे। दोनों एक दूसरे पर मुग्ध होते हैं और राजकुमार प्रभा के वर के रूप में स्वीकृत हो जाता है। पर चित्तौड़ के राजा ने प्रभा को देखा तो उनकी छाती पर सांप लोट गया। झालावाड़ में बरात के स्वागत की तैयारियाँ हो रही हैं कि चित्तौड़ की सेना ने राजभवन को घेर लिया, पर व्यर्थ रक्तपात को रोकने के लिए प्रभा अपने पिता के मना करने पर भी राजा के साथ ही जाना पसंद करती है। प्रभा झालावाड़ा को मारकाट से बचाने के लिए ही आई थी। उसके हृदय में राजा के प्रति क्रोध था। वह अपने पास कटार रखती थी कि जब उसके उदासीन व्यवहार से उत्तेजित होकर राजा उसे बलात् काबू में लेना चाहेंगे तो एक बार उस पर और दूसरा अपने कलेजे पर लेकर वह यह पाप काण्ड समाप्त कर देती। वह कहीं भी जाना नहीं चाहती। राणा के कहने पर भी झालावाड़ या मन्दार के राज कुमार के यहाँ कहीं भी जाना पसन्द नहीं करती। वह सब कुछ सहेगी, जलेगी, मरेगी पर इसी घर में। उधर मन्दार के राजकुमार एक तपस्वी का रूप धारण कर रणछोड़ जी के मन्दिर में आते हैं और राणा की पत्नी मीरा से मिल कर आधी रात को चोर दरवाजा खुलवा कर प्रभा से एकान्त के मिलने की व्यवस्था करते हैं। मीरा राणा की भी अनुमति इसके लिए लेती है। इधर अनेक मानसिक अन्तर्द्वन्दों से तंग आकर प्रभा आत्महत्या करने के लिए तैयार ही है कि मन्दार कुमार धीरे धीरे पैर दबाता हुआ कमरे में दाखिल हुआ। कुमार के अनेक अनुनय विनय करने पर प्रभा उसके साथ जाने पर तैयार नहीं होती तो राजकुमार ने तलवार खींच ली और वह प्रभा की तरफ लपके। तब तक राणा आ जाते हैं और दोनों में अस्त्र युद्ध छिड़ जाता है। शस्त्र विद्या विशारद राणा राजकुमार पर वार करते ही हैं कि बीच में प्रभा आ जाती है और तलवार का पूरा हाथ उसके ऊपर पड़ता है। कहानी का अन्त यों है। प्रेम के रहस्य निराले हैं। अभी एक क्षण हुआ राजकुमार प्रभा पर तलवार लेकर झपटा था। प्रभा किसी प्रकार उसके साथ चलने को उद्यत न होती थी लज्जा का भय धर्म की वेदी,

कर्त्तव्य की दीवार रास्ता रोके खड़ी थी परन्तु उसे तलवार के सामने देखकर उसने उस पर अपना प्राण अर्पण कर दिया, प्रीति की प्रथा निबाह दी, लेकिन अपने वचन के अनुसार उसी घर में।

हाँ, प्रेम के रहस्य निराले हैं अभी इस एक क्षण राजकुमार प्रभा पर तलवार लेकर झपटा था. उसके खून का प्यासा था, ईर्ष्या की अग्नि उसके हृदय में दहक रही थी वह रूधिर की धारा से शान्त हो गई। कुछ देर तक वह अचेत बैठ रोता रहा। फिर उठा और उसने तलवार उठा कर जल्दी से अपनी छाती में चुभा ली। फिर रक्त की फुहार निकली दोनों धाराएँ मिल गई और उनसे कोई भेद न रहा।

प्रभा उसके साथ चलने पर राजी न थी किन्तु वह प्रेम के बन्धन को तोड़ न सकी दोनों उस घर से ही नहीं संसार से एक साथ सिधारे।[५]

मनोवैज्ञानिक कहानी की दृष्टि से मर्यादा की वेदी में त्रुटियाँ

इस कहानी को स्वयं लेखक ने आठ भागों के विभक्त किया है। आज का कथाकार बड़ी सुविधा से इस कथानक के एक एक भाग के आधार पर एक-एक उपन्यास की सृष्टि कर सकता है। कथानक का विस्तार मनोविज्ञान के स्वरूपाविष्करण में बाधक अवश्य हुआ है पर सब से ध्यान देने वाली बात यह है कि ये घटनायें लेखक के द्वारा भी अन्दर से न देखी जाकर बाहर से देखी गई हैं। इनकी समस्या को अन्दर से छेड़ा न जाकर बाहर से छेड़ा गया है। उसका दृष्टिकोण आब्जेक्टिव है सब्जेक्टिव नहीं। अतः मनोवैज्ञानिक नहीं। प्रेमचन्द जी की कहानियों में कुछ अपवादों को छोड़ कर घटनायें इतनी मनमानी हैं, असंयत, अविनम्र और वे उस औद्धत्य के साथ घटती हैं कि मानो उन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं। उनकी सार्थकता हो या न हो पर वे होकर ही रहेंगी। मर्यादा की वेदी नामक कहानी में राणा का चित्तौड़ पर आक्रमण करने तक तो ठीक है पर आगे की जितनी घटनायें हैं, प्रभा का राणा के साथ चलने के लिए तैयार हो जाना, राणा के प्रति उदासीनता, मन्दार राज का छल से मीरा के पास पहुँचना, मीरा का गुप्त द्वार को खोल कर राजकुमार को प्रभा के पास पहुँचाना और उस शयन कक्ष को रक्त रंजित करा देना ये सब घटना खत्री जी, किसोरीलाल गोस्वामी तथा गहमरी जी के तिलस्मी या हैरत अँगेजी सीमा के उपकण्ठ में ही विराजमान सी दीखती हैं। अन्ततोगत्वा ये दोनों सजातीय है, समानधर्मा है और दोनों का उद्देश्य घटनाओं के उग्र, क्रूर और अनगढ़ रूप का विवरण उपस्थित करना है, उनकी मूल प्रेरणाओं की ओर देखना नहीं है। आज का मनोवैज्ञानिक कथाकार मर्यादा की वेदी कहानी के एक-एक मोड़ पर, अंश पर, घटना पर, एक-एक कहानी की रचना कर देगा। घटनाओं की भी योजना हो सकती है पर उनका अवतरण बाह्य जगत नहीं पर पात्रों का मानसिक जगत होगा, उसमें मनोविज्ञान

न हो पर कड़ाह में उबलते हुए जल का वात्याचक्र तथा चाय की प्याली में उठी हुई आधी उसके अभाव को पूरा कर देगी। क्या हुआ कहानी का अन्त एक साफ ढंग से नहीं हुआ तो। वह एक झटके से भले ही टूट जाय पर उसकी झंकार हमारी आत्मा से मिल-कर जीवन पर्यन्त गूंजती रहेगी।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहानी की एक विशेषता : चेखव का उदाहरण

आधुनिक युग की मनोवैज्ञानिक कहानियों की विशेषताओं में से एक यह भी है कि उनका अन्त तडिद्वेग के साथ होता है। वे बिजली की तरह चमक कर बुझ जाती हैं अथवा उनका अन्त होता ही नहीं क्योंकि उनका प्रारंभ नहीं होता। उनका निर्माण उस मनोवृत्ति के द्वारा होता है जो जीवन को आसीत् या अस्ति अथवा भविष्यति के रूप में नहीं देखती परन्तु भवन् (becoming) के रूप में देखती है। उसके लिए सारी सत्ता हो रही रूप में ही अपने स्वरूप को चरितार्थ कर रही है, वह 'अतीतोद्भूतभविष्योन्मुख' है। फलतः ऐसे मनोवैज्ञानिकों की कहानियों में आदि अन्त का प्रश्न ही नहीं उठता। चेखव आधुनिक कहानीकारों में यथार्थवाद के लिए प्रसिद्ध है कहानियों की मनोवैज्ञानिक परम्परा की स्थापना का भी श्रेय उनको दिया जाता है। चेखव की कहानियों को पढ़ने के पश्चात् पाठक की धारणा तात्कालिक सरलता सुव्यवस्थिता, प्रांजलता की नहीं परन्तु विक्षिप्तता उद्वेग तथा व्याकुलता की होती है। विर्जिनिया वुल्फ ने चेखव की कहानियों के सम्बन्ध मे कहा है कि एक पुरुष किसी विवाहिता नारी से प्रेम करने लगता है। वे बिछुड़ते हैं और अन्त, में हम पाते हैं कि, वे अपनी परिस्थति की आलोचना कर रहे हैं कि उन्हें इस असह्य बन्धन से किस प्रकार मुक्ति मिले।

'उसने अपना सर पीटते हुए कहा, किस तरह किस तरह' ऐसा मालूम होता है कि समस्या का कोई हल शीघ्र निकल आयेगा और तब एक नवीन और दिव्य जीवन का प्रारंभ होगा। यही अन्त है। एक डाकिया एक विद्यार्थी को अपनी गाड़ी पर बिठा कर स्टेशन ले जाता है। विद्यार्थी अनेक प्रयत्न करता है कि वह डाकिया को बातें करने के लिए प्रेरित करें पर डाकिये का मौनव्रत भंग नहीं होता। अचानक वह डाकिया अप्रत्याशित रूप मे उबल पड़ता है। 'किसी को डाक के साथ ले चलना नियम विरुद्ध है और क्रोध व पूर्ण मुद्रा में प्लेटफार्म के ऊपर और नीचे चहलकदमी करने लगता है। उसका क्रोध किसके प्रति था? लोगों के प्रति? गरीबी के प्रति? या उस शारदीय रजनी के प्रति? 'यहाँ भी कहानी का अन्त इसी ढङ्ग से होता है। जोड़ महोदय ने भी कैथरीन मेंस्फील्ड या माघम की कहानियों की मनोवैज्ञानिकता का उल्लेख करते समय इस विशेषता की ओर संकेत किया है[७]

उन कहानियों की बात ही पृथक है जो किसी आन्तरिक प्रेरणा के अभाव में केवल किसी टेकनीक के अन्धानुकरण के लिए ही लिखी गई हैं। प्रतिभावान लेखक को अपनी सीमाओं का पूरा ज्ञान रहता है और उसी परिधि का ध्यान रख कर उसकी कला अपने रूप का विस्तार करती है। बल्कि इस सीमा के बन्धन को स्वीकार कर लेने के कारण उनकी कलाकृतियो में अधिक स्फूर्ति और दीप्ति का संचार हो जाता है मानो स्वच्छन्द विहारिणी नदी की धारा किसी बान्ध में नियन्त्रित हो जाने के कारण मंगल वरदान की धारा की गरिमा से सम्बन्धित हो गई हो। जहाँ वह अपनी अदम्यता में मनमाने अनियंत्रित रूप से प्रवाहित हो दारिद्रय, मृत्यु और महामारी का अभिशाप फैलाती थी वहाँ वह अपनी सीमा मे बँध कर सम्पन्नता, जीवन और प्राणों का आचल फैला सब की रक्षा कर रही है। परन्तु बहुत से लेखक ऐसे होते हैं जो इसी सीमा को ही मुख्य वस्तु मान कर उसी का अनुकरण करने वाले हैं जिसका परिणाम यह होता है कि वे जो कुछ कर सकते थे वह भी नही कर पाते। चेखव कहानी नहीं कह सकते थे। अतः कहानी नहीं कहना ही कला का गुण है, चेखव मे स्वर का संगठन और सौष्ठव नहीं अतः मनमाने रूपो मे अथवा जिस अनगढ़ और उच्छृङ्खल रूप मे जीवन में घटनायें घटती हैं उसी रूप में उन्हें उठा कर कहानी में क्यो न रख दिया जाय। किसी भी साहित्यिक विवेचन मे ऐसी निर्जीव और थोथी कृतियों पर विचार नही किया जा सकता। हम उन्हीं रचनाओ पर विचार करते हैं जिनमें सारे अभाव वर्तमान रहें, रहे कोई परवाह नहीं पर उनकी जड़ों को प्रतिभा का शीतल अभिसिंचन अवश्य प्राप्त हो। ऐसी ही रचनाएं हमारे आदर की पात्र है और ऐसा ही प्रतिभा प्रेरित पर परम्परानुमोदित वाह्य उपादानों से हीन (जैसे यहाँ साफ सुथरे अन्त से हीन) कहानियों की समाप्ति पर जब हम पहुँचते हैं तो मन में सहज एक प्रश्न होता है कि क्या सचमुच ही यह अन्त है। नहीं यह हमारा भ्रम है। सर कट जाने पर भी यह कबंध अपनी शक्तियों के साथ जीवित है और इसमे प्राणों का स्पन्दन है। ऐसा मालूम पड़ता है कि वीणा की अनुरणन ध्वनि रुक जाने पर भी तार अभी स्पन्दित हो ही रहे हो।

प्रेमचन्द मे आत्मनिष्ठता (Subjectivcly) *के साथ न्याय नही हो सका है। वे अपने प्रौढ़ युग में मनोविज्ञान का महत्व समझते अवश्य थे पर मनोविज्ञान की कथा गत प्रतिष्ठा की कला से वे पूरे विज्ञ नही हो सके।*

ऊपर के विवेचन का निष्कर्ष यह कि कहानियों में प्रश्न होता है उचित महत्व स्थापन का, बल प्रदान का, राइट इंफेसिस (right emphasis) का। देखने की बात यह है कि लेखक किस वस्तु को महत्व दे रहा है, किसके लिये उसके हृदय में पक्षपात है, कौन सा वह सार तत्व है जिसके निकल जाने पर कहानी इस तरह निर्जीव हो जायेगी जिस तरह प्राणों के बिना शरीर मृण्य हो जाता है प्रेमचन्द जी की कहानियों

की मूर्ति में प्राणों की प्रतिष्ठा अवश्य हुई है। मानव मनोजगत के आन्तरिक भावों की चाभी उनमें भर अवश्य दी गई है और उनमें हृदय का स्फुरण, प्राणों के स्पन्दन का आभास भी अवश्य मिल जाता है पर अधिक से अधिक मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से इनकी तुलना चालक हीन वायुयानों से हो सकती है जो अपनी सीमा में किसी सजीव व्यक्ति से भी अधिक कार्य कुशलता का परिचय देते हैं, पर इतना होने पर भी उनकी क्रियाओं से मानव हृदय को वह तृप्ति और संतोष नहीं प्राप्त होता जो अपने कानों में उँगलियाँ डालकर बिरहा की तान छेड़ते हुए गाड़ीवान को बैलगाड़ी हाँकते हुए देख कर होता है। वे ऊपर से भरी गई शक्ति के बल कितनी उछल-कूद मचा लें परन्तु आन्तरिक जीवन की तरंगों पर सुख-नृत्य करते नहीं दिखाई पड़ते दूसरे शब्दों में प्रेमचन्दजी के साहित्य में सामाजिक व्यक्ति, समाज तथा राजनीति के रंगमंच पर अभिनय करने वाले व्यक्ति, बाह्य परिस्थितियों की छाप ग्रहण करने वाले व्यक्ति का चित्रण अवश्य है, उनमें आदर्शों और जीवन के मूल्यों के प्रति आग्रह अवश्य है पर व्यक्ति का वह रूप जिसमें उसकी वैयक्तिक अनुभूतियों की ही प्रधानता रहती है जिसमें उसकी सब्जेक्टिविटी और अधिक परिस्फुटित रहती है उसके साथ उचित न्याय नहीं हो सका है।

पर प्रेमचन्द सच्चे अर्थों में कलाकार थे जिसकी प्रतिभा और सहजानुभूति कला की प्रगतिशीलता की पगध्वनि को पहचानती है और समझती है कि उसमें अपने स्वाभाविक विकास के लिये किस वस्तु की नैसर्गिक माँग है, वह किस मार्ग से होकर अपने स्वरूप का विकास करना चाह रही है। प्रेमचन्दजी जानते थे कि कहानियों की प्रेरणा उन्हें मनोविज्ञान के क्षेत्र की ओर प्रेरित कर रही है और जब प्रारंभिक युग को पार कर अपने विकास युग में पदार्पण किया तो उन्होंने स्वयं इस बात को स्वीकार भी किया है। एक स्थान पर कहानी कला का विचार करते उन्होंने कहा है "यों कहना चाहिये कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य के स्थिर करने के लिये ही लाये जाते हैं, उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणतः मेरी सुजान भगत, मुक्ति मार्ग, पञ्च परमेश्वरी, शतरंज के खिलाड़ी महातीर्थ सभी कहानियों में एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।"[८] इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द कहानियों के लिये मनोवैज्ञानिकता के महत्व को अच्छी तरह अनुभव कर रहे थे पर मनोवैज्ञानिक प्राण प्रतिष्ठा कहानियों में किस तरह और क्यों कर हो सकती है इस बात का यथार्थ ज्ञान उन्हें नहीं था। आज का आलोचक आज की प्रौढ़ मनोवैज्ञानिकता के आलोक में पंच परमेश्वर, सुजान भगत, मुक्ति मार्ग जैसी कहानियों को यदि वह मनोवैज्ञानिक कहानियों की श्रेणी में रखेगा तो उसे अपने माप दण्ड को थोड़ा शिथिल करना पड़ेगा

प्रेमचन्द जी की मनोवृत्ति कहानी एक सच्ची मनोवैज्ञानिक कहानी है: इसकी विशेषताएं

हम प्रेमचन्द जी की 'मनोवृत्ति' नामक कहानी को उन कहानियों की श्रेणी मे रख सकते हैं जो प्रत्येक दृष्टि से आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहानियों से प्रति स्पर्धा कर सकती है। इसमें किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर कहानी की रचना करने का आग्रह नहीं है जैसा कि इलाचन्द्र जी की कहानियो में होता है और न मस्तिष्क के भौगोलिक प्रदेशो के पृथक निवासियों के संघर्ष की ही कथा कही गई है। परन्तु एक साधारण सी घटना अनेक मनुष्यो के मस्तिष्क में किस तरह चित्र विचित्र प्रतिक्रिया की लहरो की तरंगित कर सकती है इसकी कथा कही गई, प्रातः काल गाधी पार्क में बिलौर के बेंच पर गहरी नीद मे सोई एक नारी पायी जाती है। तरह तरह के लोग आते हैं और इस दृश्य को देख कर तरह-तरह के अनुमान करते हैं। जिसकी जैसी भावना हुई उसने मूर्ति को उसी रूप में देखा। बसन्त और हाशिम खेल प्रतियोगिता मे सम्मिलित होने वाले नवयुवक हैं। एक वकील साहब और डाक्टर है। दो देवियाँ हैं। एक वृद्ध है। दूसरी नवयौवना। ये लोग पार्क मे प्रातः काल के वायु सेवन के लिये आये हैं और बेंच पर सोई नवयुवती के दृश्य ने इनकी कल्पना के पर लगा दिये हैं जो उन्मुक्त हो उड़ने लगी है। इस कहानी की विशेषतायें निम्नलिखित हैं। (१) कहानी एक-एक पात्र के मनो-जगत से निकल कर धीरे-धीरे अपने स्वरूप का प्रदर्शन कर रही है। यहाँ पर अन्य कहानियों की तरह घटनाओं के के सिद्ध रूप के अवतरण की चेष्टा नहीं की गई है। परन्तु उनकी सिद्धि के क्रियमाण रूप का ही यहाँ दर्शन होता है हमारे सामने एक बना बनाया चित्र नहीं उपस्थित होता परन्तु हमारी आँखे तूलिका के एक एक निक्षेप को देखती जाती हैं और चित्र अपनी आकृति का निर्माण करता जाता है (२) कथाकार की सारी सहानुभूति बाह्य जगत से हट कर मानसिक जगत की प्रतिक्रियाओ के चित्रण की ओर केन्द्रित हो गई है। वह आचरण के क्षेत्र को छोड़ कर भाव जगत में आ गया है। उसके लिये क्रियायें नही प्रतिक्रियायें ही महत्वपूर्ण हो गई है। यों तो प्रेमचन्द जी बौद्धिक रूप में स्वीकार करते थे कि उनकी घटनाओ और क्रियाओं का स्थान कहानी में गौण होता है पर व्यावहारिक रूप से अब भी उनके साहित्य में घटनाओ और क्रियाओं का ही बोल बाला था परन्तु यह कहानी दूसरी जाति की है (३) पूरी कहानी कथोपकथन के रूप में ही कही गई है। जो कुछ अंश वार्तालाप से भिन्न है वह स्टेज डाइरेक्शन से अधिक और कुछ नहीं है। यह कथोपकथन दो मनुष्यो के बीच में होने वाले वार्तालाप की श्रेणी में न हो कर स्वकथन के रूप में ही आता है। इस तरह के कथोपकथन का विकास आगे चलकर अज्ञेय की कहानियों में अधिक हो सका

है। वसन्त ने कहा, इसे और कहीं सोने की जगह ही न मिली।

हाशिम ने जवाब दिया "कोई वेश्या है" "लेकिन वेश्याएँ भी तो इस तरह बेशर्मी नही करती" "वेश्या अगर बेशर्म न हो तो वेश्या नहीं" "बहुत सी ऐसी बाते हैं। जिनमें कुल वधू और वेश्या दोनों एक तरह करती है। कोई वेश्या मामूली तौर पर सड़क पर सोना नही चाहती।" "रूप छवि दिखाने का नया आर्ट है।" आर्ट कासबसे सुन्दर रूप छिपाव है। दिखाव नहीं वेश्या इस रहस्य को खूब समझती है।" "उसका छिपाव केवल आकर्षण बढ़ाने के लिये है हो सकता है केवल यहाँ सो जाना यह प्रमाणित नहीं करता कि वह वेश्या है। उसकी मागमें सेंदुर है"[१] यह वार्तालाप दो मनुष्यो के बीच में है पर वास्तव में स्ववार्तालाप के समीप मे पड़ता है जो एक ही मनुष्य के अन्दर तर्क वितर्क के रूप चलता रहता है और जिसकी ही परिणति उस पद्धति मे हुई जिसे आधुनिक शब्दावली में (interior Monologue) कहा जाता है (४) कहा है कि शीर्षक कहानी का बहुत ही महत्वपूर्ण अश है और इसके द्वारा पाठक को कहानी के वास्तविक रहस्य की झाकी मिलती है। यह कथा का पूर्व रूप है और यह पाठक में किसी विशिष्ठ वस्तु को पाने की आशा उत्पन्न करता है और बतलाता है कि आगे चल कर उसे कौन सी वस्तु प्राप्त होने वाली है जिसके स्वागतार्थ हृदय तत्पर हो जाय। "मनोवृत्ति" शीर्षक ही ऐसा है कि पाठक को यह किसी महत्व पूर्ण घटना के सामना करने के लिये या किसी आदर्श को उपलब्धि के लिये प्रस्तुत नहीं करता परन्तु मानव मनोवृत्ति के चमत्कार का दृश्य दिखलाने का ही उपक्रम करता है। शीर्षक को ध्वनि स्पष्ट है और यह कह रही है कि वह सुजान भगत, मर्यादा की वेदी तथा अन्य कहानियों से भिन्न वस्तु है। घटनाओ के उत्थान और पतन तथा आरोहावरोह पर लुब्ध पाठक यदि अपने पूर्वग्रहो और मनोभावो को साथ लेकर इस कहानी को पढेगा तो इसमें स्वारस्य का आनन्द नहीं उठा सकेगा। उसे अपनी आदत बदलनी पड़ेगी। कहानियाँ स्थूल जगत के ऊँचे ऊँचे टीलो का परित्याग कर सूक्ष्म जगत के अन्तर्तम प्रदेश की झाकी लेने लगी है जो हमारे सारे बाह्य क्रियाकलापों का प्रेरणा स्रोत है। जनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियों ने हिन्दी के पाठको के मानसिक धरातल को ऊँचा किया अर्थात् एक ऐसा पाठक वर्ग उत्पन्न किया जो समय काटने के लिये मनोरंजन की चीज न समझ कर कहानियो को अधिक गम्भीर वस्तु समझे। उसे घटनाओं की कुशल और कलापूर्ण सजावट मात्र न समझकर उसे जीवन की मूल समस्याओं, व्यक्ति जीवन व्यापार सूत्र को संचालित करने वाली मनोवृत्तियो को समझा सकने में सहायक समझे जिनका ध्यान घटनाओं की ओर न हो कर मनुष्य की ओर हो। मनुष्य के भी कितने रूप होते हैं और वे समान रूप से महत्व पूर्ण नहीं होते। वह रूप जो हमारी दृष्टि के बहिर्भूत होकर भी जीवन की निकटतम वस्तु

है, व्यक्ति की गहराई में अधिक महत्वपूर्ण है उसको ही अपने कथा की लपेट में लाकर प्रगटित करना आज हमारा उद्देश्य हो गया है। यह काम प्रेमचन्दजी स्वयं अपने जीवन काल में ही करने लगे थे।

मनोवृत्ति आधुनिक अमेरिकन तथा अंग्रेजी मनोवैज्ञानिक कहानियों से टक्कर लेने वाली है

(५) मनोवृत्ति कहानी का मनोवैज्ञानिक महत्व हमारे सामने और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि इंगलैन्ड और अमेरिका के आधुनिक दो मनोवैज्ञानिक कथाकारों ने भी अपने उपन्यास के लिये भी इसी से मिलते जुलते कथानक को उपजीव्य बनाया है। अमेरिकन कलाकार फाकनर ने एक उपन्यास लिखा है As I lay dying[१०]। एक दरिद्र अशिक्षित और दुर्भाग्य पीड़ित महिला की मृत्यु हुई। उस परिवार के पन्द्रह व्यक्ति उसके शव को कब्र में दफनाने के लिये ले चलने के लिये तैयार बैठे हैं। उनको किसी कारण से इस अन्तिम संस्कार के सम्पादन में अत्यधिक विलम्ब हो जाता है। उन पन्द्रह व्यक्तियों के हृदय में उस मृत महिला के सम्बन्ध में तरह तरह के विचार उपस्थित होते हैं और उसके ही वर्णन में उपन्यास की सृष्टि होती गई है। ये वर्णन एक तरह की स्वगतोक्तियाँ' हैं, स्वकथोपकथन जिसमें पात्र दूसरों से न कह कर अपने से ही कह रहा है। वक्ता भी वही है श्रोता भी वही। इन पन्द्रह व्यक्तियों में एक छोटा बालक है जिसके हृदय में जन्म और मृत्यु के उपरान्त माता की क्या दशा होगी इसके सम्बन्ध में बड़ी विचित्र धारणा है। एक दूसरा व्यक्ति है जिसके मस्तिष्क में थोड़ी विकृति है और उसमें किसी अपरोक्ष बात को भी देख लेने की शक्ति है। इसी तरह इन लोगों के विचार और कल्पना प्रवाह की रेखा से पूरी कथा निर्मित होती चली गई है। प्रेमचन्दजी की मनोवृत्ति और इस उपन्यास में विषय तथा विषय प्रतिपादन की पद्धति दोनों में अद्भुत साम्य है। एक कहानी के रूप में है और दूसरा उपन्यास के रूप में। अतः इन दोनों में आधार तथा प्रकार का जो अन्तर आ गया हो वह दूसरी बात है। दूसरा उपन्यास है loving[११] जिसके रचयिता है अंग्रेजी के उपन्यासकार हेनरी ग्रीन यद्यपि हेनरी ग्रीन के उपन्यासों को इंगलैंड में बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है पर इनकी कीर्ति अभी समुद्र को पार कर दिगदिगन्तर नहीं व्याप्त हुई है। एक सम्पन्न महिला के पास अनेक सेवक और सेविकायें हैं। एडिथ नामक सेविका से तीन सेवक प्रेम करते हैं। वह स्वयं रास नामक सुरा-भंडारी को प्यार करती है। एक दिन ब्रह्म मुहूर्त में ही जब वह मकान का पर्दा ठीक करने के लिये जाती है तब वह प्रोषितपतिका अपनी स्वामिनी को एक प्रेमी की गोद में प्रसुप्त देखती है और वह उस दृश्य को देख कर भयमूक होकर लौटती है। इस घटना को लेकर सेवकों में खूब

टीका टिप्पणी होती है। वही घटना उनके वार्तालाप का केन्द्र हो जाती है और इसी रूप मे कथा का निर्माण होता चला जाता है।

आज की इन कथाओं को प्रेमचन्दजी की मनोवृत्ति जैसी कहानियो को सामने सामने रख कर पढ़ा जाय तो प्रेमचन्दजी की कथात्मक मनोवैज्ञानिकता का महत्व स्पष्ट होगा। यद्यपि उनकी कहानियाँ वर्णानात्मक हैं, उनमें घटनाओ का साम्राज्य दृढ़ है, आदर्शवादिता का प्राबल्य है, संयोग (surprise) की धुरी पर कहानियो का लुढ़कना आज खटकता है, बाहरी सजावट भीतरी प्राणों को चरती सी दीख पड़ती है, क्रियायें और बाह्य आचरण भाव जगत को दबाये से खड़े हैं पर इन पत्थरो के नीचे भी एक नया अकुर पनपता सा अवश्य है और वह अंकुर है मनोविज्ञान का, आन्तरिक जीवन का है।

पाद टिप्पणियाँ

१. हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास प्र० स० १६५३ पृ० १०५
२ वही १२६
३. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः
४. मर्यादा की वेदी, मानसरोवर भाग ६
५. मानसरोवर भाग ६ पृ० ७१४ छि० स स्करण १६४६
६. Common Reader by V. Woolf. P. 175
७ Decadence by C E M Joad chapter 12, The literary Culture of our time
८. कुछ विचार प्रेमचन्द चतुर्थ संस्करण १६४६ पृ० ३५
६. मनोवृत्ति-मानसरोवर भाग १ पंचम संस्करण १६४६ पृ० २११
१०. J. W. Beach 20th Century Novel P. 521
११. Novel Since 1939. London Pheonix House P. 87, Essay on Novel by Herbert Read.

पंचम अध्याय

जैनेन्द्र के उपन्यास और मनोविज्ञान

जैनेन्द्र और फ्रायड

दूसरे अध्याय में विभिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय मे हम जैनेन्द्र जी की .उपन्यास-कला का अध्ययन करेंगे। जैनेन्द्र की कथाओ मे हम फ्रायड का भी प्रभाव कम नहीं पाते। उनके सब पात्रों में कुण्ठा है, दमन (Repression) है, असाधारणता है, कुछ मनोविकृति है, काम-भाव (Sex) दमनोत्पन्न अनेक विवशताएँ हैं।

'परख' उनका प्रथम उपन्यास था जिसमे वे प्रेमचंद की कला के प्रभाव से अपने को सर्वथा मुक्त नही कर पाये थे। उसमें भी विहारी और कट्टो की दमित काम वासना के उदात्तीकृत रूप (Sublimation) की बात कही गई। उनका कोई उपन्यास नहीं जिसमें यह दमन-जनित मृदु या भयंकर विस्फोट न दिखलाया गया हो। उनकी कहानियो में 'एक रात' 'ग्रामोफोन का रेकार्ड', 'मास्टर साहब', 'पत्नी', पानवाला', विट्रीस इसके प्रमाण हैं। 'ध्रुवयात्रा' नामक कहानी मे तो फ्रायड के मुक्त आसंग (Free Association) वाली पद्धति का आधार ही लिया गया है। पर जैनेन्द्र पर फ्रायड का वैसा प्रभाव नहीं है जैसा अज्ञेय और इलाचन्द जोशी पर है। जैनेन्द्र के उपन्यासो को फ्रायडियन नहीं कह सकते हैं। यदि कहना ही है तो उन्हें गेस्टाल्ट वादी उपन्यासकार कहेंगे हालाँ कि यह अभिधान केवल अर्थवाद के रूप में है। उनके प्रत्येक उपन्यास में अचेतन अह (Ego) और अचेतन (Id) का घात प्रतिघात चलता ही रहता है। प्रत्येक के घर (Ego) मे और बाहर (Id) की आकाक्षा है, पुकार है और 'घर' 'बाहर' के प्रति आत्म समर्पण करने के लिये विवश है। सुसभ्य और संस्कृति मे पली पत्नी सुनीता का हरिप्रसन्न के प्रति समर्पण, 'त्यागपत्र' की मृणाल का कोयलेवाले का साथ देना, कल्याणी का अपने पति से उन्मन उन्मन रहना, किसी के प्रति समर्पित होने की वेदना लिये भी कुलीन गाँधीवादी, देश के लिये अपनी निजता को भी खो देने वाले प्रिमियर के लिये अदम्य आकर्षण की अनुभूति के होते भी कल्याणी का समर्पण तक न पहुँचना, सुखदा की दृढ़ मर्यादा बुद्धि का लाल के सामने हार मान जाना, 'विवर्त' में मोहनी का जितेन के सामने परास्त हो जाना, 'व्यतीत' में व्याहता अनिता का एक ही दिन पहिले' क्रूर पापी खबरदार जो मुझे छुआ है, कह कर दो तमाचे लगाने पर भी दूसरे दिन जयन्त से कहना, जयन्त रात की बात भूल जाओ मै सुध में न थी

अब सुध में हूँ, कहती हूँ मैं वह सामने हूँ। मुझको तुम ले सकते हो। समूची को चाहे जिस विध चाहे ले सकते हो।[1] ये सब प्रकारान्तर से प्रतीक के रूप में (Ego) और (Id) के संघर्ष तथा (Id) की विजय की ही कहानी है।

उदाहरण जहाँ गेस्टाल्ट की स्पष्ट झलक

जैनेन्द्र की कथाओं में ऐसे स्थलों को ही पहिले ढूँढे जहाँ सम्पूर्णवादी मनोविज्ञान का प्रभाव असंदिग्ध सा है और जहाँ पर वे सिद्धान्त को ही कथा के रूप में ढाल लेने का प्रयत्न करते दीख पड़ते हैं। एक कहानी है 'तत्सत्'। दो शिकारी किसी दिन एक जंगल में विश्राम करते आपस में वार्तालाप कर रहे हैं। एक ने कहा "ओह कैसा भयानक जगल है।" प्रश्न उपस्थित हो गया कि यह जंगल नामक कौन सा पदार्थ है; बड़ है, पीपल है, सेमर है, सीसम है, बाघ है, चीता है और अन्य-अन्य जीव जन्तु हैं पर यह जो वन है सो क्या है? सबसे पूछा गाय, बाघ से, चीता से, सिंह से, सांप से, बबूल से, सेमर से, सबने यही कहा कि वे वन को नहीं जानते। कुछ दिनों बाद फिर वे शिकारी आये। जंगल में कोलाहल छा गया। बताओ तुमने कहा सो जंगल में कहाँ है? उत्तर में उन्होंने कहा कि सब कुछ ही जगल है। पर कौन मानने लगा? सब इस धोखेबाज और मिथ्यावादी शिकारी की जान लेने पर उतारू हो गये। अन्त में एक शिकारी वट वृक्ष से सलाह लेकर उसकी सबसे ऊपर वाली फुनगी पर चढ़ गया और उसे बड़े प्रेम से पुचकारा। देखते-देखते पत्तों की वह जोड़ी उद्ग्रीव हुई मानो उसमें चैतन्य भर आया हो। मानो वे चमक से चमक आये हो जैसे उन्होंने खंड को कुल में देख लिया हो कि कुल कहाँ और खंड कहाँ। अब बड़ दादा जगे मानो अभ्यन्तर से कोई अनुभूति प्राप्त हुई हो। वातावरण के मौन को भंग करते बोले "वह है" सब साथी चकरा गये

"दादा दादा"

दादा ने इतना ही कहा "वह है, वह है"

"कहाँ, कहाँ है, कहाँ है"

"सब कहीं है सब कहीं है"

"और हम?"

"हम नहीं है वह है"[2]

इस कहानी की अवतारणा ही इसलिये की गई है कि छोटी सी कथा के द्वारा खण्ड के पूर्व सम्पूर्ण के अस्तित्व का समर्थन किया जाय। यह जरूर है कि जैनेन्द्र में भारतीय अद्वैतवादी दृष्टिकोण ने इसमें वेदान्त का पुट दे दिया हैं पर इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक गेस्टाल्टवाद मनोविज्ञान के शब्दों मे इस कहानी को समझा समझाया जा सकता है। यह कहानी कहती है कि बड़ पीछे है बन पहिले है बड़, बबूल, सीसम,

बाघ, चीते इत्यादि पीछे हैं, वन ही है, अन्य चीजें नहीं हैं। तो भी वन को लेकर ही है। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का भी तो यही कहना है कि सम्पूर्ण आकृति पहिले है अन्य रेखायें बाद मे। आप इस तरह के तीन .·. बिंदुओं को देखिये। क्या आप एक रहस्यमय ढंग से एक पूरे त्रिकोण को नही देख रहे हैं ? क्या आपकी कल्पना तड़क कर रिक्त स्थान को भर नहीं देती ? क्या एक त्रिकोण की सम्पूर्ण आकृति अपनी सम्पूर्णता के साथ आपके सामने पहिले ही उपस्थित नहीं हो जाती ?

जैनेन्द्र जी का दूसरा कहानी संग्रह है "जयसधि। इस सग्रह मे एक कहानी है, जयसंधि जिसके आधार पर इस संग्रह का नामकरण हुआ है। कहा है प्राधान्येन व्यपदेशः अर्थात् जिसकी प्रधानता है अथवा वक्ता समझता है कि वह प्रधान है उसी के आधार पर वह पूरी वस्तु का नामकरण करता है। ऐसे ऐसे स्थलों में लक्षणा के चमत्कार दिखलाई पडते हैं। मेरे गॉव के पास ही एक दूसरा गाँव है जिसका नाम पीपरा है। यह पीपरा शब्द पीपल का विकृत रूप है। कहा जाता है कि इस गॉव में एक बड़ा घना और विशालकाय पीपल का वृक्ष था जिसकी छाया की सीमा मे उस गाँव का पर्याप्त अश घिर जाता था मानो वह पीपल का वृक्ष ही गाँव का श्रेष्ठ अश हो। अतः इसी प्रधानता के कारण सबके ऊपर छा जाने वाले गुण के कारण उस गॉव का नाम पीपरा पड़ गया। ठीक इसी के आधार पर इस संग्रह के अभिधानत्व के कारण हम निष्कर्ष निकालते हैं कि लेखक के हृदय में जयसधि कहानी के लिए इतनी उत्तमता के भाव हैं कि उसी के आधार पर सारे सग्रह को पुकारने से ही उसको हार्दिक संतोष होता है। यों तो यह एक राजनैतिक कहानी सी लगती है। इसमे यशोविजय के राष्ट्रीय सङ्घ बनाने की महत्वाकाक्षा, राष्ट्र के छोटे-छोटे भिन्न-भिन्न टुकड़ों को एक महाराष्ट्र के रूप में परिणत करने के लिए किये गए उद्योगो का वर्णन है पर फिर भी लेखक का दृष्टिकोण यहाँ स्पष्ट है। यहाँ पर वह सम्पूर्ण और खण्ड की ही बातें कहता है और यह बतलाने में प्रयत्नशील है कि पूर्णता के सामने खण्ड का कोई महत्व नही। पूर्णता ही सत्य है और खण्ड मिथ्या। पूर्णता की ओर ही हमारी प्रवृत्ति अनिवार्य रूप से उन्मुख होती है यहाँ तक कि पूर्णता की राह मे बाधा सी लगने वाली शक्तियो की अवस्थिति भी इसलिए है कि वह हमें अन्दर से उभारती रहें और लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक हो जो हो कर ही रहती है।

इस जयसंधि नामक कहानी के सहारे एक दूसरी कहानी की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है जिसका सम्बन्ध गैस्टाल्टवादी मनोविज्ञान से है। आपने देखा होगा कि किसी चित्र का निर्माण अनेक टेढ़ी मेढ़ी आड़ी तिरछी रेखाओं के योग से होता है। यदि ये रेखायें अलग पड़ी हो और चित्र से कटी रहें, चित्र से उनका कोई सम्बन्ध न रहे तो वे विद्रूपता की मूर्ति सी खड़ी अपनी कदाकारिता के कारण दर्शक

के हृदय में क्षोभ उत्पन्न करनेवाली प्रमाणित होगी पर चित्र में आकर सुन्दरता का आगार बन जाती है। मालूम होने लगता है कि चित्र में जो कुछ सुन्दरता है या चातुर्य निबन्धन है वह इन्हीं के चलते हैं। भले ही ये रेखायें अपने में जो कुछ हों, उनमें सौंदर्य का अत्यान्ताभाव ही क्यों न हो पर चित्र की सम्पूर्णता की इकाई में वे पूर्ण रूप से सार्थक हैं। परिस्थिति के अनुरोध से या संयोजन के अनुरोध से उनमें अपार सौंदर्य का समावेश हो गया है। सामन्त यशोविजय अपने प्रतिद्वन्द्वी की पत्नी यशस्तिलका के शयन कक्ष में प्रवेश करता है। यह कार्य साधारण दृष्टि से कभी अनुमोदनीय नहीं कहा जा सकता। जिसकी पत्नी के गृह में इस तरह प्रवेश किया जाता है उसमें क्रोध का तूफान उठा देने के लिए वह पर्याप्त है। पर वही घटना इस कहानी में इस ढङ्ग से रखी गई है कि जयवीर के महाराष्ट्र के निर्माण की स्वीकृति देने में सबसे महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। सन्धि की शर्तों पर राय लेने के जयवीर अपनी पत्नी यशस्तिलका के पास जाना चाहता है। यह सुनते ही यशोविजय कहता है 'क्षमा करना, मैं वहीं से आ रहा हूँ वह सधि के लिए तैयार हैं।"

यशस्तिलका ने स्थिर वाणी में कहा 'तुमने उसका अविश्वास नहीं किया? आधीरात मेरे कक्ष से आ रहा था। क्या यह सज्जनता के लक्षण हैं?"

जय वीर ने कहा "तुम्हारा अविश्वास करूँगा उस दिन क्या मैं जीवित रह सकूँगा?"

यह सुन कर यश अपने पति की ओर निहारती रह गई बोली "मेरे कारण तुम्हें यशोविजय का विश्वास करना पड़ा, क्यों?

जयवीर ने कहा "हाँ आधीरात तुम्हारे पास से आकर खुद कोई मुझ से झूठ नहीं कह सकता। यश ने कहा 'अच्छा तो मुझे मेरे कक्ष तक पहुँचा दो'"[१]

कहानी की इन पंक्तियों के उद्धरण से मेरा उद्देश्य है कि किसी स्त्री के कक्ष में आधीरात को प्रवेश करना कोई शोभनीय बात नहीं। चित्र में पड़ी यों ही असङ्गत रेखा सी है। पर यह अपने स्थान में इतनी फिट है और कौशल से सयोजित की गई है कि कहानी के सौंदर्य का मूल उत्स वहीं होकर रह गई है। कहानी के प्रधान पात्र यशोविजय के स्वप्नों की पूर्ति में इससे सहायता तो मिलती है पर कहानी को कलात्मक बनाने तथा पाठक के हृदय में उसके चरित्र की दृढ़ता, विश्वास तथा श्रद्धा की महानता के गौरव की स्थापना करने में भी इससे कम सहायता नहीं मिलती।

लेखक के दृष्टिकोण को समझने में सतर्कता की आवश्यकता

किसी लेखक का वास्तविक दृष्टिकोण क्या है जिसकी अभिव्यक्ति उसकी रचनाओं द्वारा हो रही है यह बात जानने के लिए सतर्कता की आवश्यकता है। इस बात

को सदा ध्यान में रखना चाहिये कि कलाकृति में भोक्ता की सीधी अनुभूति अवतरित नहीं होती परन्तु उसमें स्रष्टा की भावित अनुभूति का ही सन्निवेश रहता है। अतः रचना मे किसी भाव या दृष्टिकोण की झलक पाकर बिना अन्य आनुषंगिक बातों पर विचार किए लेखक के दृष्टिकोण का निर्णय कर लेना समीचीन नहीं होगा। हो सकता है कि रचना मे लेखक की इच्छा पूर्ति (Wish fulfilment) हो। यह भी असम्भव नही कि उसके वास्तविक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हो पर साथ ही यह भी सम्भव है कि उसकी रचना मे ठीक उन्हीं बातों का उल्लेख हो जिनके प्रति उसके हृदय में कुछ दिलचस्पी नही। उदाहरण के लिए, बहुत से लेखकों का नाम लिया जा सकता है जिनके हृदय मे वैभव के लिए, धन के लिए मोह है, वे अपने हृदय की तह में पूँजीपति बनने की महत्वकाक्षा पोसे हुये हैं पर उनकी रचना देखिये तो उसमे पॅजीवाद को भस्म कर देने वाली भट्टी जल रही है। ऐसी सूरत मे प्रश्न होता है कि लेखक के वास्तविक दृष्टिकोण का पता कैसे चले। मीमासा शास्त्र मे तात्पर्य निर्णय के कुछ सिद्धात बतलाये गये हैं—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्
अर्थवादोपपत्ती च लिंगम् तात्पर्यनिर्णये

अर्थात उपक्रम, उपसंहार, पुनरुक्ति, नवीनता, फल अर्थवाद तथा खंडन मंडन देखकर ग्रंथ का तात्पर्य निर्णय करना चाहिये। ये बाते ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णय मे भले ही कुछ सहायता दे ले पर ग्रन्थकार के सच्चे व्यक्तित्व को दिखलाने मे समर्थ नहीं हो सकती। सम्भव हैं जिन बातों की अभिव्यक्ति की गई हो वे लेखक की बाहरी आस्था की उत्पत्ति हो, बाहरी परिस्थिति की उपज हो। मसलन किसी बाहरी आर्थिक या सामाजिक दबाव में पड़कर लिखी गई हो, हृदय की वृत्ति से उनका कोई सम्बन्ध न हो। लेखक किसी विचार धारा से सहमत न हो पर चूँकि वह किसी सरकारी पद पर नियुक्त है और सरकार चाहती है कि उस विचारधारा का जनता में प्रचार हो ऐसी अवस्था मे लेखक को अपनी रुचि के विरुद्ध भी उनके समर्थन में अपने प्रतिभा को प्रेरित करनी पड़ेगी। तब लेखक की हृदयान्तर वर्तिनी धार का पता कैसे चले?

रस्किन ने अपनी पुस्तक Modern Painters मे चित्रकला पर विचार करते समय इस प्रश्न को छेड़ा है। उसने कहा है कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कलाकार को अपने विषय निर्वाचन की स्वतन्त्रता नहीं होती, उसको दूसरों के संकेत पर कला के उपजीव्य को चुनना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में कलाकार की दिलचस्पी को ध्यान से देखा जाना चाहिये। कल्पना कीजिये कि किसी मठाधीश ने किसी कलाकार को आज्ञा दी कि तुम उस दृश्य का चित्रण करो जिसमें माग्डलिन ईसामसीह का चरणोदक ले रही है। देखते हैं कि माग्डलिन का चित्र सुन्दरता से अंकित किया गया है पर उनकी

मुखमुद्रा से कृतज्ञता की छवि अंकित नहीं होती। यह चित्र किसी भी सेविका का हो सकता है जो अपने स्वामी के चरणों को पखारने के लिये जलपात्र लाकर रख देती हो। हम शीघ्र ही निर्णय कर लेंगे की कलाकार के व्यक्तित्व में धर्मप्रवणता तथा आध्यात्मिकता का अभाव है। दूसरी ओर ऐसे भी चित्र मिल सकते हैं जो किसी की बाध्यता के कारण विलास और वैभव का चित्रण कर रहे हो पर उनके अनजान में ही चित्र में दो एक कूचियाँ चल गई हो जिनसे अध्यात्म के प्रकाश फूटते हों। हम तुरन्त ताड़ लेंगे कि कलाकार किसी बाध्यता के कारण सांसारिक वातावरण मे ही घूमने के लिये भले ही चला आया हो पर वास्तव में उसका मन वहाँ उड़ा उड़ा ही रहता है। वह है असल मे अध्यात्मलोक का निवासी। उसी तरह जैनेन्द्र की कहानियो ने यही धारणा मन म बैठती है कि लेखक चाहे आर्थिक समस्या को बाते करता हो, चाहे समाजिक नैतिक अथवा मनोवैज्ञानिक। पर सबके बीच कुछ पंक्तियाँ निकल आई है जिनसे गेस्टाल्टवादी व्यंग-ध्वनि स्पष्ट हो जाती है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक को किन्हीं कारणों से वहाँ जाने की बाध्यता आ पड़ी हो पर उसका मन आज भी शीतल मन्द समीर व जमुना के तीर के लिए लालायित हो। एक कहानी है उपलब्धि जैनियो में एक सम्प्रदाय के साधु होते हैं जो शरीर को कृच्छ् साधना मे रत रखना हो और साधना द्वारा ऐन्द्रिय अनुभूति को नष्ट करना ही श्रेयस्कर समझते हैं। मे एक ऐसे ही उपलब्धि नामक कहानी राजदास की चर्चा है...एक कुत्ता इनके शरीर को अपने पैने दातों से क्षत विक्षत कर देता है पर इनके चित्त मे तो भी इसके लिये प्यार ही भरा रहता है उनकी मृत्यु हो जाती है। उन्हें अपनी मृत्यु से चरम तृप्ति मालूम पड़ती है। अपने दूर किसी भी वस्तु पाने की आवश्यकता उनमें शेष नहीं रह गई मानो जो कुछ है वह इनके भीतर ही भरपूर है...एक प्रकार कृत-कामना उनके समस्त अगों में परिव्याप्त थी। उस दिन अन्त मुहूर्त में उन्होंने पा लिया कि वह साध्य क्या है जिसे पाना है और उसके साधन क्या है जिसके द्वारा पाना है। वे दो नही एक है! इस कहानी की अंतिम पक्तियो को लेखक के दृष्टिकोण के सम्बन्ध म किसी को भ्रम नहीं हो सकता।

जैनेन्द्र जी के दूसरे दो कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। जिन कहानियो में गेस्टाल्ट वादी मनोविज्ञान के प्रभाव को ढूँढने का प्रयत्न किया गया है वे सब जयसंधि नामक सग्रह से ली गई है। दूसरा संग्रह है पाजेब। इस सग्रह की कहानियों में फ्रायड मनोविज्ञान का भी प्रभाव है पर चूँकि जैनेन्द्र का आस्तिक और विश्वासी तथा चिन्मय तत्व को ढूँढने वाला हृदय फ्रायडियन अतिवादिताओं में आस्थावन नहीं है अतः वह जहाज के पछी की तरह घूम घूमकर पुनः अपने स्थान पर आ जाता है। यह निश्चित है कि आधुनिक मनोविज्ञान के विस्तृत क्षेत्र मे गेस्टाल्ट की भूमि ही ऐसी है जहाँ भारतीय संस्कृति और विचार धारा यूरोपियन विचार धारा से मेल खा सकती

है। जैनेन्द्र की प्रतिभा सहज भाव से अपनी कथाओं मे इस गेस्टालटवादी सिद्धान्त को अपना सकी है। इस सग्रह की एक कहानी लीजिये 'सोद्देश्य'। यह कहानी वीणा और निसार की प्रणयाकर्षण की कहानी है, पुरुष और स्त्री का यौन आकर्षण कला और काव्य चर्चा के आवरण में किस प्रकार आता है इसका वर्णन है पर कहानी का अत जिस ढङ्ग से होता है वह पुकार पुकार कर कह देता है कि लेखक की भावभूमि क्या है? उसने कविता के कागज को अपने होठो से ही लगाकर अपने ही आंसू से पी लिया है। उसे लग रहा था कि कविता में शब्द नहीं है छद नहीं है, अर्थ नहीं है, उन सब के पार कुछ है जिससे छुटकारा नही मिल सकता है। इन पंक्तियो द्वारा लेखक का या यों कहिये लेखक निबद्ध-पात्र का दृष्टिकोण स्पष्ट है कि वह सच्चाई का घटकावयवो के निर्जीव योगफल के रूप मे नहीं देखता है पर विश्वास करता है कि अशो के योगफल से भी परे कोई चीज होती है जिसे लेकर ही वह पूरी है। तो वही और जो कुछ है वह उसी को लेकर है।

यदि हम मीमासको के परिचायक चिह्नो को जैनेन्द्र के कथा साहित्य पर लागू करें तो पता चलेगा कि वे सारे चिह्न लेखक के गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण की ओर सकेत कर रहे हैं। उपक्रम में वे भले ही स्पष्ट न हो, उसमे अर्थवाद की मात्रा कम हो पर उपसंहार में आकर उनका मतव्य एक दम स्पष्ट हो जाता है। पाठक के सामने कहानी के पीछे छिपी अतर्वाहिनी धारा प्रकट होकर ही रहती है। यहाँ पर जैनेन्द्र जैसे मनोविज्ञान से प्रभावित लेखकों की तुलना हम छायावादी कवियो तथा प्रगतिशील कवियों से कर सकते हैं। छायावादी कवियों मे अनेक विशेषताएँ पाई जाती थी पर सब मे अनिवार्य रूप से एक बात अवश्य थी। चाहे वे किसी भी विषय पर कविता करते हों उनमें दो चार ऐसी पंक्तियों का समावेश हो हो है जाता था जिनसे पाठकों का ध्यान अज्ञात, अगोचर या अनन्त की ओर आकर्षित हो जाय। पंत जी लिख रहे हैं कविता 'छाया' पर अन्त मे आते-आते कह ही देंगे—

हाँ सखि आओ बाँह खोल कर लग कर गले जुड़ालें प्राण

फिर तुम तम मे मैं प्रियतम मे हो जावें द्रुत अन्तर्ध्यान उसी तरह चाहे वर्ण्य विषय चाँदनी हो, स्याही की बूँद हो, नौकाविहार हो या और कुछ हो यह आध्यात्म का पुट वहाँ किसी न किसी तरह आ ही जायेगा। प्रगतिवादी तो इस ओर और भी अधिक सचेष्ट मालूम पड़ते हैं। कुकुरमुता हो, भैंसागाड़ी हो चाहे कुछ भी क्यो न हो वहाँ पर पूँजीपति या सर्वहारा वर्ग के सघर्ष की बात आ ही धमकेगी। आप देखें जैनेन्द्र को कथा साहित्य को-कथा। साहित्य ही क्यों किसी भी रचना का और देखे-आप पायगे कि उनका यह गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण सब पर छाया हुआ है।

"जयसधि" मे २० कहानियाँ संगृहीत है और 'पाजेब' में १७। जयसधि की

कहानियो को लेकर ऊपर की पंक्तियों मे बतलाया गया है कि उनकी कहानियों मे गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान का प्रमुख प्रभाव पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। यह पाजेब की कहानियो मे भी यत्र तत्र पाया जाता है। इस संग्रह की कहानियो का दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। (१) फ्रायडियन मनोविज्ञान से प्रभावित (२) बालमनोविज्ञान से प्रभावित। रत्नप्रभा, वीट्रिस, उर्वशी, प्रतिभा, ध्रुवयात्रा, निस्तार, परिवर्तन मे फ्रायडियन अवरुद्ध काम वासना की झलक स्पष्ट है। 'पाजेब' के चोर में बालकों के मनोविज्ञान को स्पर्श करने का प्रयत्न किया गया है। जयसन्धि की कहानी आरम्भ शिक्षण मे बाल मनोविज्ञान का पुट है। शेष कहानियाँ ऐसी है जिनमें किसी विषय पर तात्विक दृष्टि से विचार किया गया है। उनके अभिव्यक्तिकरण के लिये ऐसे बन्धन बाँधे गये हैं, ऐसे मजमून लाये गये है, ऐसी घटनाओं का समावेश किया गया है जो आज की इन्द्रियग्राह्य वास्तविकता को ही सब कुछ समझने वाली बुद्धि को थोड़ा आश्चर्य मे डाल दे। परन्तु इन कहानियो मे पौराणिक परम्परा का पालन करने भी, अतीन्द्रिय दैवी घटनाओं की योजना रहते भी लेखक की विचार धारा अन्तः सलिला नदी की तरह स्पष्ट रूप से प्रवाहित है। लाल सरोवर नामक कहानी मे एक बैरागी मे प्रत्येक पद निक्षेप पर एक लाभ उत्पन्न हो जाता है, 'तत्सत्' मे अनेक पशु पक्षी वृक्ष इत्यादि परामर्श करते दिखाये गये हैं। ऊर्द्ध-बाहु और भद्रबाहु मे नारद इन्द्र कामदेव और अप्सराओं के समावेश से पौराणिक वातावरण छा गया है। अनवन और साँप में भी पौराणिकता कम नहीं है।

जैनेन्द्र के उपन्यास मे गेस्टाल्ट; उनका दृष्टिकोण

अब तक जैनेन्द्र के दो नवीनतम कहानी संग्रह 'जयसन्धि' और 'पाजेब' की कहानियों में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के प्रभाव के अन्वेषण का प्रयत्न किया गया है। अब उनके उपन्यासों पर इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय। जैनेन्द्र जी ने अब तक ७ उपन्यासो की रचना की है, परख, सुनीता, त्याग पत्र, और कल्याणी इत्यादि हाँ, अनाम स्वामी नामक उपन्यास उन्होंने प्रारम्भ किया था और उसके कुछ अंश प्रकाशित भी हुए थे पर अभी तक अपूर्ण ही है। यों तो जैनेन्द्र के प्रथम उपन्यास में ही उनकी प्रवृत्ति स्पष्ट है। परख को पढ़ते ही पाठक के मन में संस्कार जम जाता है कि प्रथम बार वह एक असाधारण और अभूतपूर्व लेखक के सम्पर्क में आया है जो अपने पूर्ववर्ती कहाकारों से वह सर्वथा भिन्न है। वह जीवन तट के चारों ओर अधिक फैलकर उसकी शोभा को आयत्त नहीं करना चाहता। वह नहीं चाहता कि सरिता के तीर पर भूमिखण्ड का वर्णन के अति विस्तार से किया जाय। उस पर अहर्निश होने वाले दृश्यो का चित्रण उपस्थित किया जाय। गगन मंडल में भेद कर देने वाली राजनैतिक और सामाजिक हलचलो का चित्रण किया जाय। उसकी अभिलाषा है

कि इन सारे प्रपंचो का परित्याग कर सरिता के शीतल जल में ही डुबकी लगाना, उसकी गहराई नापना, उसी के अन्दर रत्न को ढूँढ लेना। यही कलाकार की सार्थकता है। आप एक नदी की कल्पना करें जो चारो तरफ से भूमि द्वारा परिवेष्टित है और उसी भूमि पर नाम रूपात्मक जगत अपने पूर्ण विस्तार के साथ फैलाव पर प्रकृति की सारी लीलाएं घटित हो रही हैं। कुछ लोगो की रुचि हो सकती है कि नदी के तट पर भ्रमणार्थ जाकर कुसुमित पुलिनो की क्रीड़ाओ का वृक्ष लता।गुल्म इत्यादि की शोभा का निरीक्षण करते हुए लोचनो को तृप्त करें। अन्य लोगों की रुचि सीधे नदी की कलकल करती जलधारा मे प्रविष्ट होकर नदी को लहरो.पर प्रवाहित होते हुए अपनी सार्थकता का अनुभव कर सकती है। जैनेन्द्र की रुचि को हम दूसरी श्रेणी में रक्खेगे जो जलधारा के शीतल स्पर्श की आनन्दानुभूति प्राप्त करना चाहती है। वह कहेगी कि हमे विश्व की बिखराहट से क्या मतलब। इस जाले के प्रसार से मतलब रखे भी तो दूसरी ओर छोर का पता पाने से रहे। हम उसे ही क्यो न जाने जिसे लेकर सब कुछ है। हम नदी मे सीधे ही डुबकी क्यो न लगायें जिसके जीवन रस से अभिसचित होकर तट हर खड़ी विश्व वाटिका फूल फल रही है। उसी को पा लेने पर हम मानव और जीवन को पा सकेंगे। यों तो यह सारा ससार जजाल है उसे पकड़ने के लिये मुट्ठी मारो तो अन्दर से वह खाली ही निकलेगी। मनुष्य अपने इर्द गिर्द जाला फैला कर अपने मन को पकड़ना चाहता है न। बस उसी मन को पकड़ो। मनुष्य इतना ही कर सकता है, उसे उतना ही करना चाहिये। कथाकार भी तो मनुष्य ही है। वह और कुछ करने क्यों जाय?

ऊपर की कतिपय पंक्तियो मे अपने मंतव्य को प्रकट करने के लिये एक ऐसी नदी का रूपक बाँधा गया है जो चारो ओर भूमि से परिवेष्टित है नदी ही मानव मन है जिसके तट पर यह अनन्त पसारा फैला है। मानो अरुप मन ही ने अपनी इस निपरुता से असंतुष्ट होकर अपनी सत्ता की निश्चयात्मक प्रतीति का अनुभूति-सुख प्राप्त करने के लिये अपने को इस जाले मे बाँध लिया हो। अब तक कथाकारो की दृष्टि इसी पसारे पर जम रही थी। हाँ, उस दृढ़ भूमि रर पैर रखकर ही वे नदी को देखते, नदी की लहरों के नर्तन को देखते तथा उसको छू कर आने वाली शीतल वायु की सुखानुभूति भी प्राप्त करते। पर न जानते तो केवल नदी को। नदी की वास्तविकता का ज्ञान उन्हे नहीं होता। इनका नदी सम्बन्धी ज्ञान (सैकण्ड हैण्ड,) दूरागत ही रहता। यह तट पर बैठकर लहरें गिनने वाले का ज्ञान होता, नीचे उतर कर स्नान करने वाले अथवा गहराई मे बैठकर देखने वाले का ज्ञान नहीं होता।

अब्धि लँघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गंभीरताम्
आपाताल निमग्नपीवरतनु जानाति मन्दराचल

अर्थात् राम की सेवा में जितने बन्दर इत्यादि योद्धागण थे वे समुद्र को लाँघ सके परन्तु समुद्र के अनन्त गाम्भीर्य का ज्ञान भी उन्हें हो सका ? नहीं, इसका ज्ञान तो 'आपाताल-निमग्न-पीवरतनु मंदराचल' को ही हो सका।

कल्याणी

सबसे प्रथम हम कल्याणी को लेंगे। जैनेन्द्र के उपन्यासों की पद्धति, शैली, उनकी टेकनीक इत्यादि का विचार पीछे होगा। प्रथमतः, उन कुछेक स्थलों को देखें जहाँ कथाकार ने कल्याणी को अपने हृदयोद्‌गार के द्वारा अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया है अथवा जहाँ स्वयं लेखक इस जगत तथा उसमें घटित होने वाले घटना-प्रवाह की आलोचना करता है, उसके सच्चे रूप को पहिचानना चाहता है तथा उसके मूल में बैठी प्रेरक शक्ति (इन्सपायरिंग फोर्स) को पकड़ने का प्रयत्न करता है। मैंने अपने अध्ययन के लिये ऐसे दो स्थलों का निर्वाचन किया है। कारण, एक तो कल्याणी में अनेक स्थल हैं भी नहीं। कहानी नहीं सी ही है। पात्र भी एक दो ही हैं। दूसरे, यदि हम लेखक के दृष्टिकोण को, उसकी मनोवृत्ति को, उसके अपने मनोविज्ञान को जानना चाहें या देखना चाहें कि वह किस ढंग से क्रिया व्यापार पर विचार करता है तो उसके उद्‌गारों तथा उसके द्वारा निर्मित मुख्य पात्रों के उद्‌गारों को देखने से बढ़कर दूसरा साधन हो ही क्या सकता है ? जिनके उपन्यास में बहुत से पात्रों की अवतारणा की गई हो ऐसे उपन्यासकर पर इस ढंग से विचार करने मे कुछ आपत्ति भी हो सकती है। कहा जा सकता है कि किसी एक पात्र-प्रौढ़ोक्ति को लेखक के विचार के साथ तदात्म कर देना कहाँ तक संगत है ? यह कैसे निर्णीत हो कि पात्र के विचार लेखक के ही विचार हैं, लेखक के ही कण्ठस्वर को उधार लेकर पात्र की वाणी प्रस्फुरित हो रही है ? पात्रों का भी तो जीवन होता है ! वे लेखक के हाथ की कठपुली मात्र तो नहीं हैं न ? तब उनकी वाणी को लेखक की प्रतिध्वनि मात्र कैसे समझ लिया जाय ? इस तरह की आलोचना प्रणाली के कारण तुलसी के पात्रों के उद्‌गारों को तुलसी की विचार धारा समझ कर क्या उनके साथ अन्याय नहीं हुआ है ? ये सब बातें ठीक हो सकती हैं। पर जैनेन्द्र के कथा साहित्य में विशेषतः कल्याणी के सम्बन्ध में तो यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो आत्म-कथात्मक उपन्यास है जिसमें से देकर दो ही पात्र हैं, एक तो लेखक और दूसरी कल्याणी। कल्याणी के पति भी हैं। पर उनका कोई पृथक दृष्टिकोण नहीं है। वे कल्याणी को ही लेकर हैं और कल्याणी को समझने का प्रयत्न करते हैं कि यदि वह कल्याणी जीवन के प्रति अपने आत्मपीड़क दृष्टिकोण को छोड़ दे तो अच्छा है। पर साथ ही साथ वह अपने हृदय की तह में महसूस भी करते हैं कि जो कुछ कल्याणी सोच रही है अथवा कर रही है वह स्वाभाविक भी है, उसमें कोई भी कृत्रिमता नहीं है। कोई भी नारी इस विशेष परिस्थिति

में यही करती तथा उसी प्रकार विचार करती। वह कल्याणी को अवश्य समुचित मार्ग पर लाना चाहते हैं पर व्यावहारिक और सांसारिक सुख सौविध्य की दृष्टि से। मन-ही-मन कल्याणी की वेदनाशीलता और व्यथाशीलता के प्रति वे अवनत ही हैं।

कल्याणी के १६वें परिच्छेद में लेखक अपने जीवन सम्बन्धी विचार प्रकट कर रहा है।

"भीतर बाहर ये दो शब्द हैं। पर वे दो शब्द नहीं हैं प्रकृत मे एक ही है। दो होकर भी एक, जैसे ओर और छोर। और जहाँ ऐसा नही है वहाँ उनमें सचमुच विरोध हो पड़ा है वहीं क्लेश है। इस तरह का क्लेश मानवीय सृष्टि है। वस्तुतः वह है नहीं। तभी तो जगत नाम द्वन्द्व का है। द्वन्द्व के माने है दो बीच का अनिर्वाह। यह दो के, अनेक के बीच एकता का अभाव ही हमारी समस्या है।"

"अर्थात् सत्य में इस जगत का कोई कुछ परस्पर सर्वथा असम्बद्ध नहीं है। अवकाश बीच में दीखता है वह रिक्त नकार नही है, योग वियोग के तरह-तरह के अलक्ष तंतु उसमें भरे पड़े हैं।"

"परिणामतः, व्यक्ति और परिस्थिति ये दो भिन्न सत्तायें नहीं है। एक को दूसरे की पारभाषा मे समझा जा सकता है, व्यक्ति परिस्थिति का फल है और परिस्थितियों का निर्माण भी व्यक्ति ही करता है।

"भीतर का बाहर के साथ नाता अवश्य है। जन्म से ही कुछ नहीं होता। कर्म से भी होता है। कर्म सम्भावना अन्तः प्रेरणा के साथ बाह्य साधन के सयोग से बनती है। अन्तर्भावना ही सब नहीं है। बाह्य उपयोगिता भी बहुत कुछ है। अनुपयोगी भावना कर्महीन और फलहीन होगी और वही इच्छा यहाँ कृतकार्य होगी जो उपयोग युक्त हो सकती है। परिस्थिति के साथ जिसका निर्वाह नहीं उसमें सम्भावना ही नहीं। भविष्य को वह उतारेगा जिसका वर्तमान पुष्ट हो गया हो। जो स्थिति से तत्सम नहीं उसमें नई परिस्थिति के निर्माण की भी शक्ति नहीं।

"इस भाँति कोई भी एकाकी नही और किसी का कोई अलग स्वत्व नहीं है। सब अनुभव से बनते हैं और सब काल गति में अपनी जगह रखते हैं। सबकी सम्भावना उनकी विशिष्ट परिस्थितियों के मध्य ही है। कार्य अकारण नहीं होता और व्यक्ति के सामाजिक चरित्र के कारण तात्कालिक सामाजिक स्थिति में खोजे जा सकते हैं।"[७]

यह उद्धरण लम्बा अवश्य है। लेखक ने यत्रतत्र अपने दृष्टिकोण को ही इसी तरह स्पष्ट किया है जिससे पता चलता है कि जीवन पर वह किस रूप में विचार करता है। अधिक उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं। अब मैं कल्याणी के कंठ में से कुछ शब्दों को उधार लेकर दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि किस तरह कल्याणी भी कथा

कार की तरह गेस्टाल्ट की सम्पूर्णता और व्यापकता के प्रति ही आस्थावान है। यह मानो अपने व्यवहारों अथवा विचारों के द्वारा यह कहती मालूम हो रही है कि दुनिया पर तर्क की दृष्टि डालना और उसी के सहारे जीना विश्व को टुकड़े-टुकड़े करके देखना गलत है। खींच-खाँच है। सत्योपलब्धि की राह मूंदना है।

भारतीय तपोवन की स्थापना करना कल्याणी का एक सपना है जिसे वह साकार देखना चाहती है। इसकी आर्थिक सहायता के लिये वह अपने इष्ट मित्रों के पास हाथ फैलाती है। प्रिमियर जिनकी एक समय वह घनिष्टता की अधिकारिणी रह चुकी है उनके यहाँ से निराशाजनक उत्तर पाकर खिन्न हो जाती है। वे लिखते हैं कि उनसे कुछ भी आशा नहीं की जा सकती। वे गाँधी सेवासंघ के सदस्य हैं। अपना कहने को उनके पास एक पैसा भी नहीं है। यह देखकर कल्याणी का मन, उसका हृदय मानव के उस ओछेपन पर खिन्न होता है जो गौरव और त्याग के आवरण में प्रकट होता है।

वह कहती है कि "गाँधी जी का रास्ता यह कभी नहीं है। जो सूखा है, हृदय के रस से हरा भरा नहीं है वह गाँधी का नहीं है। गाँधी की तपस्या मुस्कराती है। निज की ओर ही वह दुर्द्धर्ष है, शेष सब ओर स्निग्ध है। प्रीति की मुस्कराहट जहाँ नहीं वैसी कर्म तपस्या गाँधी की नहीं। गाँधी सेवा संघ में क्या स्नेह को सुखा दिया जायेगा। यह तो गाँधी को गाँधीवाद में भून देना होगा। इससे बड़ी अकृतज्ञता, गाँधी की हत्या और क्या हो सकती है...कहेंगे कि मैं निरीह रहूँगा क्योंकि मैं संघ का सदस्य हूँ। ओ! यह विडंबना है मैं जानती हूँ। अपने इन्कार पर गाँधी भारत का स्वराज्य भी नहीं लेंगे। गाँधी की तपस्या लीला है। लीला तपस्या है। सबके रास्ते पर वह सबके साथ है। वह पति है। पिता है, सब है लेकिन उन मेरे गाँधी के भक्त की मर्जी यही है न कि मैं अपनी राह पर अकेली रह जाऊँ अकेली-अकेली-अकेली"[*]

इन सब बातों को सुनकर लेखक अवश या असहाय सा कल्याणी के सामने बैठा रह जाता है। उसके मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता। उसे ऐसा बोध होता है कि जीवन के ऐसे पवित्र क्षणों का साक्षी तो एक अन्तर्यामी ही हो सकता है। बाहरी दृष्टि अशुचि है, अनधिकृत है। जो दशा लेखक की होती है वही दशा इन पंक्तियों के पाठक की भी होती है। बातें कुछ इस ढङ्ग से, इस लहजे में कही गई है जो हृदय को छू लेती है और अपनी सत्यता में विश्वास करने के लिए मनुष्य को बाध्य कर देती है। मनुष्य की तर्क बुद्धि इस पर ठिठकी सी रहती है तब तक उसकी अनन्त चेतना उसको ग्रहण कर जीवन व्यापार की ओर अग्रसर हो जाती है।

ऊपर जो एक दो स्थलों के उद्धरण दिये गये हैं वे केवल विचार प्रतिपादनार्थ ही है। जिस दृष्टिकोण की चर्चा की गई है उसकी अभिव्यक्ति उन्हीं स्थलों तक सीमित

नहीं। जहाँ भी लेखक की ओर से अथवा कल्याणी की ओर से कहने कहलाने का उपक्रम हुआ है वहाँ यहीं दृष्टिकोण सर्वोपरि सिर उठाये हुए दीख पड़ता है।

दिल्ली राजधानी के सम्बन्ध में चर्चा करते समय कल्याणी कहती है

"आज की राजधानी में नई दिल्ली क्या ऊपर और क्या भीतर पत्थर नहीं है? खूबसूरती उसकी पत्थर की और गरूर की है। पानी और घास की ठंडक कहीं बिछती है भी तो उसके ऊपर तनकर मगरूर पत्थर गुर्राता है।"[१]

ठीक उसी तरह कहा जा सकता है कि कथाकार चाहे जो कुछ कहता दीख पड़े, कहानी कहता हो, प्रिमियर के स्वागतार्थ दिल्ली की कोठी को सुसज्जित करता हो, डा० असरानी की बातें करता हो, खिलौने की चर्चा करते हो, भारतीय तपोवन की स्थापना करता हो, नये औषधालय का उद्घाटन करता हो सबके मूल में जीवन को समग्र रूप में, व्यापक रूप में ग्रहण करने वाली मनोवृत्ति झलकती रहती है।

त्यागपत्र

जैनेन्द्र का दूसरा उपन्यास है त्यागपत्र। इसमें प्रधान पात्री के रूप में मृणाल की कथा कही गई है। कथा कही गई है कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि जैनेन्द्र के उपन्यास कथा के मार्ग से विकसित नहीं होते। उनमें कथा का मोह नहीं होता। जीवन को वास्तविक और व्यापक रूप में समझने के लिए कथा का सहारा लिया जाता है क्योंकि इस रूप से जीवन को समझने में सुविधा हो जाती है। मृणाल एक एक स्वाभिमानिनी नारी है। उसमें जीवन के प्रति गहरी आस्था है। वह जीवन को जीने भर के लिये नहीं मानती। वह पूर्ण सच्चाई के साथ समाज और उसके आदर्शों के प्रति आत्म-समर्पण-पूर्वक ही जीना चाह रही है। वह एक आदर्श पतिव्रता नारी की तरह पति से कुछ भी दुराव नहीं रखती। विवाह के पूर्व की छोटी-छोटी त्रुटियों को भी पति से नहीं छिपायेगी। पर यही सत्यता और ईमानदारी उसका काल हो जाती है। उसे अपने पति के घर को छोड़ कर बाहर आ जाना पड़ता है। एक बार जो घर छोड़ देती है तो कौन कौन सी नारकीय गलियों में भटकना और तिल-तिल करने मरना नहीं पड़ता। पर वह इस जीवन के प्रति भी आस्थावान ही है। अपने भतीजे के लाख समझने पर भी वह इस जीवन को छोड़कर तथा-कथित उच्च जीवन को अपनाने के लिये नहीं आती।

जैनेन्द्र के उपन्यास सच्चे अर्थ में मनोवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। यों वे सब उपन्यास जिनमें मानव के आन्तरिक जीवन के चित्रण का प्रयत्न किया गया है मनोवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। कौन ऐसा उपन्यास है जिसमें पात्रों के आन्तरिक जीवन पर थोड़ा प्रकाश न पड़ता हो? रानी केतकी की कहानी तथा खत्री जी के उपन्यासों में भी तो पात्रों के राग, विराग, ईर्ष्या क्रोध, द्वेष, प्रेम इत्यादि का वर्णन रहता ही था।

प्रेमचंद ने भी तो पात्रों के आन्तरिक चेतना प्रवाह का चित्रण किया ही है पर फिर भी वे वैज्ञानिक उपन्यासों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते कारण कि उनके पात्र दुनिया के बाहरी रङ्गमञ्च पर अधिक क्रियाशील है। मानो वे जीवन में सार तत्व (essence) को पाने के लिए सारे विश्व का चक्कर काट आते हैं, आकाश पाताल एक कर देते हैं। जब उनका पाँव उखड़ने लगता है तो एक क्षण रुक कर भीतर भी झाँकते हैं। पर दम जरा बँधा नहीं कि फिर उसी घुड़दौड़ मे लग जाते हैं। पर जैनेन्द्र के पात्रों के ही चारों ओर जगत परिभ्रमणशील है, वे बाहर जाते भी हैं पर बाहर न होकर अन्दर ही अधिक रहते हैं। थोड़ी क्रियाशीलता भी है। पर पात्र ज्यादा अपनी विचार में ही (Contemplation) जी रहे हैं। उपन्यास को आकर्षक और दिव्य तथा प्रभावपूर्ण बनाने का श्रेय घटनाओं को नहीं है परतु उन विचारों को है, उन उद्‌गारों को है जिन्हें पात्रों ने जब तब प्रकट किये हैं। ऐसा मालूम होता है ये घटनाएँ निमित्त मात्र ही हैं और पाठकों को भावपूर्ण जीवनोच्छ्‌वास से उर्मिल सागर तक पहुँचा देने में साधन हों और कुछ नहीं।

अंग्रेजी उपन्यास का विकास सूत्र

Stoddard ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Evolution of the English Novel (अंग्रेजी उपन्यास के विकास) में उपन्यास साहित्य की प्रगति के नियम सूत्र को पकड़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यह बतलाने की कोशिश की है, इस सिद्धान्त की स्थापना की है कि अंग्रेजी उपन्यासों का विकास एक निश्चित क्रम से हुआ और वह क्रम है स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रगति, अर्थात् अपने प्रारम्भिककाल में उपन्यास कला स्थूल बातों के वर्णन में, मनुष्य के बाहरी क्रियाकलापों की योजना में, पाठक को आश्चर्य चकित कर देने वाली घटनाओ के स्वरूप खड़ा करने मे ही अपनी सार्थकता समझती थी पर कालक्रम के विकास के साथ उसकी प्रवृति अन्तर्मुखी होती जाती है। उसका कार्य क्षेत्र दुनिया का बाहरी रंगमंच नहीं परन्तु हृदय का आभ्यन्तरिक क्षेत्र हो जाता है। उपन्यासों का ध्येय क्रियाशील मानव (Man-in-action) से अधिक विचारशील (Man-in-Contemplation) हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पात्रों के शरीर से अधिक उनके मानस (Psyche) की अधिक प्रतिष्ठा होने लगती है, उनके बाह्य रूप से अधिक आंतरिक रूप की छानबीन होने लगती है।[१०] मतलब यही कि वे अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक (Psychological) होने लगते हैं। यही नियम हिन्दी के उपन्यासों में काम करता सा दिखलाई पड़ता है। स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा में निश्चित प्रगति की सूचना देने वाले जो उपन्यास हैं उनके पात्रों से जो पाठक का सम्बन्ध स्थापित होता है वह भी भिन्न प्रकार का होता है। हम खत्री जी के पात्रों से भी परिचित होते हैं, प्रेमचंद जी के पात्रों के भी सम्पर्क में आते हैं और जैनेन्द्र के पात्रों को भी

समझते बूझते हैं। पर एक बात सत्य है कि यह जानने की क्रिया एक तरह की नहीं होती, उसमें भेद होते हैं। हम खत्री जी के पात्रों को जानते तो हैं पर उसी तरह से जिस तरह से एक दूसरे देश के व्यक्ति को जानते हैं। प्रेमचंद के पात्रों को देखकर यह भावना हम में जगती है कि वे मित्र हैं; जैनेन्द्र के पात्रों को हम उसी तरह जानते हैं जैसे हम स्वयं को जानते हैं। हम अपने को इतनी घनिष्टता से जानते हैं, अपनी अच्छाइयों बुराइयों और अपनी असगतियों से इतने प्रगाढ़ रूप से परिचित रहते हैं, अपने चरित्र की परस्पर विरोधी वैविध्य पूर्ण पहलुओं को इतनी समीपता से जानते हैं हैं कि अपने बारे में कोई निश्चयात्मक सम्मति नहीं दे पाते। हम नहीं कह सकते कि हम अपने को किस विशेषण से बाँध कर रखें अच्छा या बुरा, गौरवमय या पतनोन्मुख। अपने मित्र के बारे में या किसी दूरस्थ व्यक्ति के बारे में कुछ निश्चित सम्मति दे देना उतना कठिन नहीं है क्योंकि उसके जीवन का कुछ अंश मेरी नजरों से सदा ही ओझल रहता है। ये ही कुछ अन्धकार मय अंश पात्र को एक खास आकार प्रदान कर देते हैं। पर अपने सम्बन्ध की जानकारी की सीमा होती ही नहीं। उसमें ठोस आकार कहां से आये। हम मृणाल को जानते हैं। वह कुछ उस रूप में हमारे सामने आती है जहां सब साफ है, निर्द्वन्द है, उसमें कहीं भी दुराव नहीं। वह करती भी तो कुछ नहीं। प्रेमचंद जी के सूरदास हैं तो अन्धे, पर उनमें देव शक्ति है। वे जब किसो को पजों में दबा लेते हैं तो उसकी सारी देह कड़कड़ा जाती है मानो धृतराष्ट्र लोहे के भीम को अपने बाहुओं में दबाकर चूर चूर कर देना चाह रहा हो। मृणाल बिचारी है। वह तो कुछ भी नहीं करती दीख पड़ती। वह बिना शोर किये चुपके से कोयले वाले के पास बैठ जाती है अथवा बालकों को पढ़ाने का काम करती है पर वह मज्जा तक सच्ची है। जो बाहर है वह भीतर है, कलईवाला सदाचार नहीं है। खरा कचन ही उसके यहां टिक सकता है।

कल्याणी उपन्यास तथा इधर की जैनेन्द्र लिखित कुछ कहानियों के आधार पर लेखक के गेस्टाल्टवादी सम्पूर्णतावादी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। त्याग पत्र से इस सम्बन्ध में एक ही उदाहरण देना काफी होगा।

त्यागपत्र से एक उदाहरण—

प्रमोद की हार्दिक अभिलाषा है कि मृणाल जिस नारकीय वातावरण में आ पड़ी है उसे त्याग दे और एक सभ्य संभ्रम कुलीन महिला की तरह प्रतिष्ठित समाज में चल कर रहे। पर वह क्यों मानने लगी। उसने तो सब जगह सब कुछ पा लिया है। कहती है।

"मुझे ऐसा लगता है कि इन लोगों में जिन्हें दुर्जन कहा जाता है उनमें कई तह पार करके वह भी तह रहती है कि उसको छू सको तो दूध सी श्वेत सद्भावना का सोता ही फूट निकलता है। इसी से अब यह प्रतीति मेरे लिये इतनी कठिन नहीं रह गई है

कि सबके अन्तर में परमात्मा है वह सर्वान्तर्यामी है, सर्वव्यापी है। इसी से अभी यहाँ से टूट कर उखड़ना नहीं चाहती। क्यों चाहूँ? कहाँ सब कुछ नहीं?"[११]

ये पंक्तियाँ स्पष्ट रूप से मृणाल के दृष्टिकोण पर प्रकाश डालती हैं। स्पष्ट है कि जिस तरह से गेस्टाल्टवादी स्थिर रेखाओं के बीच में एक विशिष्ट परिस्थितियों के अन्दर गतिमान चित्रों को देख लेता है उसी तरह मृणाल हर जगह सब कुछ देख लेती है कारण कि वह विशिष्ट मनःस्थिति में है।

सुनीता के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कुछ निश्चयात्मक रूप से कहना उतना कठिन नहीं। कारण कि लेखक ने स्वयं इस उपन्यास के मतव्य को 'आलोचक के प्रति' वाले लेख में स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इस उपन्यास में जितने पात्र हैं, सुनीता, हरिप्रसन्न इत्यादि वे इतने विचित्र हैं, इतने असाधारण हैं, उनमे इतनी जटिलतायें और उलझनें हैं कि साधारण उपन्यास के पाठकों की समझ में भारी पड़ने लगीं। अतः जैनेन्द्र के लिये यह आवश्यक हो गया है कि वे अपनी स्थिति स्पष्ट करें और साथ ही रवि बाबू के 'घरे बाहिरे' नामक उपन्यास के अवांछनीय रूप से ऋणी होने का जो दोषारोपण किया गया इसका भी उत्तर उन्हें देना पड़ा। उन्होंने बतलाया कि 'सुनीता' और 'घरे बाहिरे' में थोड़ी सी अनुकूलता होते हुए भी प्रतिकूलता कितनी है। इन दोनों में क्या और कहाँ किस मात्रा में अन्तर है इससे हमारा मतलब नहीं है। हो सकता है कि घरे बाहिरे का कुछ प्रभाव सुनीता पर हो। हम तो यहाँ देखेंगे कि लेखक इस पुस्तक में अपने अभिव्यक्त दृष्टि बिन्दु के बारे में क्या कहता है। जैनेन्द्र कहते हैं।

सुनीता से उदाहरण

"क्या सुनीता का घर टूटा है? नहीं वह नहीं टूटा है। क्या उस घर को बाहर के प्रति बंद किया है? नहीं, ऐसा नहीं। दोनों में से कौन किसके प्रति सहानुभूति से हीन है? शायद कोई भी नहीं।

दोनों शाश्वत रूप से क्या परस्परपेक्षाशील नहीं हैं?"

"मैंने चुनाचे समस्या के रूप में भी कुछ भिन्नता देखी है और रखी है। बाहर को निरे आक्रमण के रूप में मैंने घर के भीतर प्रविष्ट नहीं किया। हरिप्रसन्न पुस्तक में वहीं बाहर का प्रतीक है, किंचित प्रार्थी भी है। वह निरा अनिमंत्रित वहाँ नहीं पहुँचा। प्रत्युत् वहाँ उसकी अपेक्षा है। उसके अभाव में घर एक प्रकार से प्रतीक्षा-मग्न है, वहाँ अपूर्णता है वहाँ अवसाद है मानो उस घर में बाहर के प्रति पुकार है। इधर हरिप्रसन्न अपने आप में अधूरे पन के बोझ से मुक्त नहीं है और जैसे वह एक प्रकार के उत्तर में और एक नियति के निर्देश से ही एक रोज अनायास घर के बीच में आ पहुँचा है। पहुँच कर वह वहाँ स्वत्वारोपी लगभग है ही नहीं। अपने से विवश होकर ही जो है सो है।[१२]

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनेन्द्र की कथाओं में, कथा वस्तु में, तथा कथा के प्रवाह में आये उनकी विचारोक्तियों तथा पात्रों के हृदयोद्गारों में उनका सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। उनकी विचार धारा सब कहीं से घूम कर फिर अपनी प्रकृत भूमि पर लौट आती है मानो दिन भर का भूला भटका भी शाम को घर पर आ जाता हो, अपनी भोजन सामग्री की खोज में दूर जा कर पक्षी अपने सांध्य नीड़ पर आ गया हो।

क्या जैनेन्द्र ने जानबूझकर गेस्टाल्टवाद को अपनाया है

यहाँ एक प्रश्न पर भी विचार कर लेना उत्तम होगा। प्रश्न यह हो सकता है कि क्या जैनेन्द्र ने चेष्टापूर्वक सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से अपने उपन्यासों का उपजीव्य बनाया है? जिस तरह प्रेमचन्द जी के उपन्यासों को पढ़ने से मन में यह संस्कार जगे बिना नहीं रह सकता कि उन्होंने देश की राजनैतिक प्रगति और सामाजिक आन्दोलन का ही अपनी कल्पना के सहारे पुनः निर्माण कर उपन्यासों में कलात्मक रूप देने का उपक्रम किया है ठीक उसी तरह इसी दृढ़ता से जैनेन्द्र के संबंध में कहा जा सकता है कि सम्पूर्णतावादी मनोविज्ञान का कलात्मक प्रदर्शन जैनेन्द्र के उपन्यासों में निहित है? अथवा इस प्रश्न को दूसरे रूप में रखें। रीतिकाल में तीन श्रेणियों के कवि पाये जाते हैं, (१) रीति कवि, जिन्होंने लक्षण लिखे हैं और साथ ही उनके उदाहरणों के लिये कविताओं की भी रचना की है। (२) दूसरी श्रेणी में वे कवि आते हैं जो रीति प्रभावित हैं अर्थात् जिन्होंने रस अलंकार या नायक नायिकाओं के लक्षण के रूप में तो कविताएँ नहीं की हैं पर उनकी कविताओं को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि कविता करते समय उनके मस्तिष्क में ये लक्षण नाच अवश्य रहे थे। (३) तीसरी श्रेणी में रीतिमुक्त कवि आते हैं जिन पर रीति परम्परा का कुछ भी प्रभाव नहीं है। खैर, तीसरी श्रेणी में आने वाले रीतिमुक्त कवियों से मेरा कुछ मतलब नहीं। मेरा कुछ सम्बन्ध द्वितीय श्रेणी में आने वाले बिहारी और सेनापति जैसे कवियों से है। पूछा जा सकता है कि जिस दृढ़ता के साथ हम यह कह सकते हैं कि ये रीतिवादी थे, उन्हें काव्य शास्त्र का ज्ञान था जिसकी स्पष्ट झलक इनकी रचनाओं में पायी जाती है क्या हम उसी अर्थ में जैनेन्द्र को गेस्टाल्टवादी औपन्यासिक कह सकते हैं?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि भले ही जैनेन्द्र के उपन्यासों में शास्त्रीय पद्धति से व्यवस्थित गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान के प्रदर्शन करने की मनोवृत्ति पाई नहीं जाती हो, गेस्टाल्टवादियों ने प्रयोगशालाओं में एतद् संबंधी जितने प्रयोग किये हों वे स्थूल रूप में जैनेन्द्र के उपन्यास में नहीं पाये जाते हों पर उनका आभास तो मिलता ही है। किसी पारिभाषिक शास्त्रीय या सैद्धान्तिक मान्यताओं का कविता अथवा कथा

जैसे साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश विलम्ब से होता है, एकाएक नहीं हो जाता है। जब उनकी परम्परा पर्याप्त अवधि तक ऊपर प्रवाहित होती हुई मानव के व्यक्तित्व के उस रहस्यमय स्तर को छूती है जहाँ से सृजन का आरम्भ होता है तब उनके रंग से रंगी कला का जन्म होता है। रीतिकाल में बिहारी और सेनापति कवियों की कला में रीति का गहरा पुट है तो इसलिये कि कालिदास या यों कहिये आदि काव्य बाल्मिकी रामायण से ही प्रारम्भ होकर प्राकृत और अपभ्रंश काव्य से होती हुई वीरगाथा काल तथा भक्तिकाल की रस धारा से परिवृद्धमान रीतिधारा पुष्ट होकर लोगों के सृजनात्मक स्तर को छू सकी थी। यही कारण था कि उनकी कविताओं में रीति का इतना गहरा पुट वर्तमान था। यह साधारण सी बात है कि नदी के आदि-श्रोत मे जहाँ से नदी प्रारम्भ होती है वहाँ कोई गधक की खान हो तो उस नदी के जल में भी गंधक के गुण इत्यादि वर्तमान रहेंगे ही। अभी तक भारतवर्ष में क्या यूरोप में भी मनोविज्ञान की कोई विशिष्ट परम्परा नहीं बन पाई है इस रूप में कि वह हमारे मानस की रहस्यमयी सृजनात्मक प्रतिभा को छू सके। अतः जैनेन्द्र मे भी किसी विशेष आधुनिक मनोविज्ञान के प्रति दृढ़ आग्रह को ढूढ़ना असामयिक (Premature) होगा। अभी उपन्यास साहित्य को धैर्य से प्रतीक्षा करनी होगी तब उसकी धारा में मनोविज्ञान का शास्त्रीय रंग आने लगेगा।

पर फिर भी जैनेन्द्र को यहाँ गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक कथाकार के रूप में देखने सुनने की चेष्टा की गई है इसलिये कि उनकी कथाओं के द्वारा उपन्यास के क्षेत्र में एक नींव अवश्य पड़ रही है जिसे मनोवैज्ञानिक परम्परा ही कहा जा सकता है। ऐसा ही प्रश्न एकबार भारतीय आलोचना शास्त्र के इतिहास में ९ वीं शताब्दी के लगभग ध्वनि शास्त्र के संस्थापकों के सामने आया था जिसका उत्तर उन्हें देना पड़ा था। ध्वनिकार ने जब यह कहा कि—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्[१४]
तत्तत प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्य मिवांगनासु

जैसे अंगना के मुख पर एक लावण्य होता है, चमक दमक होती है जो शरीर के अवयवों द्वारा प्रकट होती तो है पर हमें वह इनसे अलग ही रूप में प्रतिभासित होती है उसी तरह महाकवियों की वाणी के आश्रय से ही प्रगटित होकर भी उनसे अलग ही एक चीज में होती है जिसे ध्वनि कहा जाता है। वही ध्वनि काव्य की आत्मा है। इस पर आलंकारिक लोग बड़े बिगड़े, अरे, ध्वनि नामक विचित्र जन्तु दाल भात में मूसरचंद की तरह कहाँ से आ टपका? अरे, यदि काव्य की आत्मा या स्वरूप को ध्वनि की सत्ता स्वीकृत होती तो कहीं न कहीं उसकी चर्चा भी तो होती।। पर ध्वनिकार के पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने तो इस विषय का कुछ भी उल्लेख नहीं किया। इसके

उत्तर में ध्वनिकार ने कहा कि माना कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने वस्तु, रीति अलंकार इत्यादि को ही प्रधानता दी है पर यह बात नहीं कि उनके काव्य में ध्वनि थी ही नहीं। उनके काव्य में भी ध्वन्यार्थ या व्यंग्यार्थ पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है।[१५] इसी तरह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र में सम्पूर्णतावादी मनोविज्ञान की शब्दावलियों के सहारे की गई व्याख्या भले ही नहीं पाई जाती हो पर उसका सारतत्व उनके साहित्य में मौजूद अवश्य है। न्यूटन के पहिलें पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की शास्त्रीय व्याख्या नहीं हुई थी, उसके नियम तथा उपनियमों की स्थापना नहीं हुई थी पर क्या इतने से ही यह कहना कभी संगत होगा कि न्यूटन के पूर्व गुरुत्वाकर्षण की शक्ति काम ही नहीं करती थी ?

जैनेन्द्र की टेकनीक पर मनोविज्ञान का प्रभाव

अब हम इस बात पर विचार करने का उपक्रम करेंगे कि इस सम्पूर्णतावादी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के समावेश के कारण जैनेन्द्र की टेकनीक, उनकी कथा स्थापना, उनके कथा संगठन, तथा उनकी भाषा के प्रयोग में कौन कौन सी विशेषताएँ आई हैं। यह साहित्य का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि भाव परिवर्तन के साथ साथ भाव प्रकाशन के रंग ढंग में भी परिवर्तन आ ही जाता है। भाव जब आते हैं तो अपनी भावानुकूल रचना प्रणाली, तदर्थ रूपव्यंजक शैली स्वतः साथ लिये आते हैं। देवकीनन्दन के उपन्यास एक ढंग के होते हैं, प्रेमचन्द जी के दूसरे, जैनेन्द्र के तीसरे तो यह अन्तर बाह्य साज सज्जा मात्र का ही, आकार प्रकार का मात्र अन्तर नहीं। इन उपन्यासों का मूल अन्तस्थ प्रेरणा में ही कहीं अन्तर है जिसने उपन्यासों के माध्यम को अपनी आत्म-व्यक्ति के लिये अपनाया है।

प्रेमचन्द जी के चुस्त दुरुस्त पूर्णरूपेण संगठित कथा विकास पर अभ्यस्त पाठकों के वर्ग को जैनेन्द्र में संगठित कथा प्रवाह का अभाव खटकने वाली बात लगेगी। इसी कथा के प्रति, कथा सौष्ठव के प्रति जैनेन्द्र एकदम उदासीन हैं। कथा को भी कथा के रूप में सुन्दर होना चाहिये, उसमें पाठकों के चित्त को अपनाये रहने की शक्ति होनी चाहिए इस बात का ख्याल लेखक को एकदम नहीं है। सुनीता की भूमिका में उन्होंने कहा भी है कि "पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है। अतः तीन चार व्यक्तियों से ही मेरा कामचल गया है"[१६] प्रेमचंदजी के उपन्यासों तथा कहानियों को पढ़िये तो ऐसा मालूम होगा कि कथा की कड़ियाँ इस कुशलता से बैठाई गई हैं कि कहीं टूट मालूम ही नहीं पड़ती। कथा की प्रगति को समझने के लिये पाठक को जरा भी सतर्क रहना नहीं पड़ता। भोजनोपरान्त अपनी शय्या पर नींद की झपकी लेते या अपने मित्रों से बातें करते भी प्रेमचन्द जी के उपन्यास पढ़े जावें तो भी कथा रस की प्राप्ति में कमी न

आयेगी, पाठक घाटे में न रहेगा। प्रेमचन्द जी के कथाचित्र ऐसे हैं जिनमें रंग गाढ़ा है, रेखायें पूर्ण हैं, अंग प्रत्यंग के चित्रण में पर्याप्त उदारता से काम लिया गया है। बाह्य रूप चित्र के आलेखन और उट्टंकन में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं, चित्र चारों ओर से भरा पूरा है। पर जैनेन्द्र के कथाचित्र ऐसे हैं जिनमें भारी भरकमता नहीं, रेखायें पूरी नहीं, रेखाओं पर रंग भी हल्के हाथों से दिया गया है। चित्र के अंग प्रत्यंग का सानुपातिक सौष्ठव भी यहाँ नहीं है, चित्र में जितने स्थानों पर रिक्तता है, वह रिक्तता, वह टूट, वह खण्डता, वह अपूर्णता, वह त्रुटि ही जैनेन्द्र की विशेषता है। गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान के सिद्धान्त की व्याख्या ऊपर की गई है और बतलाया गया है कि इन गेस्टाल्टवादियों के अनुसार मानव मस्तिष्क की जो प्रतिक्रिया होती है वह उनके द्वारा उत्पन्न स्नायविक लहरों के प्रति नहीं होती बल्कि उनके संगठित और व्यवस्थित रूप के प्रति ही होती है। टुकड़े नहीं दीख पड़ते हैं परन्तु उनके बीच में जो व्यवस्था है, पारस्परिकता है वही सबसे पहिले दीख पड़ती है। उसी व्यवस्था और परस्पर-बद्धता के मध्य में पड़े दीखने के कारण वे खण्ड, अपूर्ण अंश खंडित नहीं पर व्यवस्थित और संगठित रूप में दीखते हैं उसी तरह जिस तरह से अपने से अलग अलग रहने वाले बिन्दु बिन्दुओं के रूप में नहीं एक सीधी रेखा के रूप में दीखते हैं या तीन इस रूप में रखे बिन्दु .˙. एक त्रिभुज के रूप में दिखाई देखते हैं। जैनेन्द्र भी अपने उपन्यासों तथा कहानियों में प्रकारान्तर से गेस्टाल्टवादियों के स्वर में स्वर मिला कर यह कहते जान पड़ते हैं कि मेरी कथा की कड़ियाँ भले ही टूटी हो, खण्डित हों पर इससे क्या ? पाठक के मस्तिष्क की प्रक्रिया तो न उनकी पूर्णता के प्रति ही होगी—वह पूर्णता जो उन खंडाशों में छिपी है। पाठक की मानसिक क्रिया तो इन रिक्तताओं को तड़प कर भर ही लेगी। जैनेन्द्र इस तरह एक गेस्टाल्टवादी (जिसको हमने सम्पूर्णतावादी कहा है) औपन्यासिक के रूप मे हमारे सामने आते हैं। वे इसके लिये सचेष्ट भी हैं। परख उनका सर्वप्रथम उपन्यास है। उसकी भूमिका में अपनी पद्धति पर उन्होंने स्वयं प्रकाश डाला है जिससे बातें और भी स्पष्ट हो जाती हैं। वे कहते हैं "मैंने जगह जगह कहानी मे तार की कड़ियाँ तोड़ दी है। वहाँ पाठकों को थोड़ा कूदना पड़ता है और मै समझता हूँ पाठक के लिये थोड़ा अभ्यास वाँछनीय होता है, अच्छा ही लगता है। कहीं एक साधारण भाव को वर्णन से फुला दिया है, कहीं लम्बा सा रिक्त स्थान छोड़ दिया है, कहीं बारीकी से काम लिया गया है, कहीं कहीं लापरवाही से हल्की धीमी कलम से काम लिया गया है कहीं तीक्ष्ण और भागती से।"[१७]

इन सब पंक्तियों का यही अर्थ है कि खण्ड में भी पूर्णता किसी न किसी रूप में प्राप्त रहती है, वही वास्तविकता है, खण्ड की स्थिति उसी को लेकर हैं।

अतः जैनेन्द्र के उपन्यासों में कथा शृंखला टूटी सी, कथा भाग में बड़े-

बड़े रिक्त स्थान (gaps) हैं तो इसका एक मनोवैज्ञानिक आधार है कि पाठक का क्रियाशील मानस व्यापार इन खण्डों में भी पूर्णता देख ही लेगा। सुनीता को ही लीजिये। इसकी कहानी सीधी सादी है। सुनीता के पति श्रीकान्त को यह अच्छा नहीं लगता कि उनका मित्र हरिप्रसन्न जीवन प्रवाह में निरुद्देश तिनके की तरह लहरों के संकेत पर उठता गिरता चले। नहीं, वह जरा संयमित हो किसी सिलसिले से तो रहे। हरिप्रसन्न को ठीक राह पर लाने का भार सुनीता को सौंपा जाता है। सुनीता के प्रति उसके हृदय में आकर्षण का सूत्रपात होता है और वह आसक्ति की अवस्था तक पहुँच जाता है। एक दिन आधी रात को जंगल में हरिप्रसन्न सुनीता को ले जाता है अपने क्रान्तिकारी दल का संगठन दिखलाने तथा उसे नेत्री के पद पर अधिष्ठित करने के लिये। पर वह कामुकतावश मोहग्रस्त हो सुनीता को समूची पाने के लिये व्याकुल हो उठता है। सुनीता इसके जवाब में हरिप्रसन्न के सामने नग्नावस्था में खड़ी हो जाती है। नारी की तेजस्विता के सामने मोह चूर चूर हो जाता है। सुनीता घर लौट कर पूर्ववत अपनी गृहस्थी में रम जाती है। यह कहानी आदि से अंत तक इस ढंग से कही गई है कि पाठक को पद पद पर वस्तु के स्वरूप निर्माण के लिये अपने गाँठ से कुछ न कुछ लगाना पड़ता है। यदि वह लेखक पर ही निर्भर करे तो न तो वह कथा रस की ही उपलब्धि कर सकता है, न पात्रों को पहिचान सकता है। खैर, अजीब है ही हरि। पर एक भरा पूरा गृहस्थ श्रीकान्त यह कैसा है जो हरि को राह पर लाने के लिये अपनी पत्नी को ही साधन बनाना चाहता है और सुनीता कम अलौकिक और रहस्यमयी है क्या? यह चौका बासन करने वाली नारी हरि के हृदय के औद्धत्य को किस तरह तोड़ देती है! सारे उपन्यास में इसी तरह का वातावरण का परिन्यास है और यही बात प्रेमचन्द जी के कथा रस पर लुब्ध पाठकों को उलझन में डालने वाली सी लगती है। जैनेन्द्र के उपन्यासों के प्रति कुछ आलोचनाओं की कटुता के मूल में यही मनोवृत्ति काम करती है। पर यदि कथाकार की सम्पूर्णतावादी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो यह कटुता बहुत कुछ दूर हो सकती है। हरबर्ट जार्ज वेल्स ने समकालीन उपन्यास (Contemporary Novels) नामक एक निबन्ध लिखा था जिसमें उसने अपने उपन्यासों के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये थे। उसमें उसने लिखा था कि समय आ गया है हम लोग उपन्यासों के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण बदलें और इस धारणा से मुक्त हो पायें कि उपन्यास बैठे ठाले लोगों के समय काटने की वस्तु है, मनोरंजन मन बहलाव के लिये तफरीहन पढ़ने की चीज है। उसने इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है कि उपन्यासों के रूप में इतना लचीलापन होना चाहिये कि वह जीवन में आने वाली प्रत्येक समस्या की अभिव्यक्ति का भार उठाने के अनुरूप अपने को मोड़ सके। समस्या चाहे राजनैतिक हो, सामा-

जिक हो, धार्मिक हो अथवा आर्थिक। यहाँ हमारा उद्देश्य वेल्स की उपन्यास सम्बन्धी धारणाओं पर विचार करना नहीं है। हमारा उद्देश्य अंग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक A c. ward की उन पंक्तियों को उद्धृत करना है जो उन्होंने इस निबन्ध के सम्बन्ध में लिखी हैं "इस निबन्ध में प्रतिपादित विचार वेल्स के उत्तर-कालीन उपन्यासो को समझने के लिये इतने उपयोगी हैं कि वे उसके प्रत्येक उपन्यास के प्रारम्भ में भूमिका के रूप में दे दिये जाते तो अच्छा होता। तब उन आलोचकों की आलोचना का मुँह बंद हो जाता जिन्होंने वेल्स को इसलिये कोसा है कि वे परम्परागत उपन्यासों की लीक पर नहीं चलते। परम्परा का तो उन्होंने जानबूझ कर परित्याग कर दिया है।[१८] जैनेन्द्र ने भी हिन्दी कथा प्रवाह की वर्णनात्मक कथ्थकड़ी प्रवृति को, बहिर्मुखी प्रवृत्ति को स्थूल प्रवृति को मोड़कर दूसरी ओर अग्रसर करने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र वर्णनात्मक से अधिक गवेषणात्मक है, उनकी वृति बाहर के प्रसार से अधिक अन्तर की गहराई की ओर है, स्थूल से अधिक सूक्ष्म है। दूसरे शब्दों में वे मनोवैज्ञानिक कथाकार हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनेक सम्प्रदायों में गेस्टाल्ट के अधिक समीप जैनेन्द्र आये हैं और यही कारण है कि उनके उपन्यासों तथा कहानियों के बाह्य रूप आकार प्रकार में भी परिवर्तन हो गया है। चूँकि जैनेन्द्र की मूल प्रेरणा ही अपने पूर्ववर्ती कथाकारों से भिन्न है अतः उनके उपन्यास भी भिन्न है। यदि प्रेमचंद और देवकी-नंदन खत्री के उपन्यास स्थूलकाय हैं, भारी भरकम हैं अनेक भागों में प्रकाशित होकर हजारों पृष्ठों की परिधि घेर लेते हैं तो इसका कारण यह है कि कथा के देव ने साक्षात् उनके सामने उपस्थित होकर आदेश दिया था "प्रेमचन्द ! मैं तुम्हारी प्रतिभा के माध्यम से साहित्यिक क्षेत्र में अवतरित होना चाहता हूँ। जाओ, मेरे लिये उचित क्षेत्र तैयार करो।" जैनेन्द्र के समीप मनोविज्ञान बेचारा वामन रूप धारण करके सकुचाता सा आया और कथा के विशाल और अनन्त प्रांगण में से केवल तीन डेग भर भूमि को नाप लिया। जैनेन्द्र की कथा भी वामन रूप धारण करके आती है, भूधराकार शरीर को धारण कर गरजती नहीं आती कारण कि मानव को लेकर उसे विश्व की परिक्रमा नहीं करनी थी परन्तु विश्व को लेकर मानव के हृदय और मस्तिष्क के अतल और संकीर्ण अपरिचित गलियो का चक्कर लगाना था, उसके टेढ़े-मेढ़े अन्धकार मय कोनों को देखना था। जिस कार्य की सिद्धि करनी होती है उसके अभीष्ट सहायक तदनुरूप रूपविधान तथा साधन की आवश्यकता होती है। पवनसुत हनुमान को लंका की अपरिचित गलियों में अशोक वाटिका में बैठी सीता का पता लगाना था तो उन्हें भी मशक का सा छोटा रूप धारण कर लेने में ही सफलता दीखी।

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी देखने पर बात स्पष्ट मालूम होती है कि जब

मानव अन्दर के भावों से भरा होता है, उसके मानस के भीतर गुरू गम्भीर वात्याचक्र का घूर्णन होता रहता है तो वह उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर कुछ इस तरह से छा जाता है कि उसके बाहरी कार्य-कलाप शिथिल से हो जाते हैं। उसकी कृतित्व शक्ति का ह्रास हो जाता है। एक माँ का चिर प्रवासी पुत्र जब परदेश से लौट कर उसके चरणों में सिर नवाता है तो वह कुछ इस तरह भावावेश में आ जाती है, उसका हृदय इस तरह से भावों से गद्‌गद् हो जाता है कि उसकी वाणी मूक हो जाती है, उसके मुख से आशीर्वाद के एक दो शब्द भी कठिनता से निकलते हैं पर जो भी शब्दों के टुकड़े निस्सृत होते हैं वे अपनी छोटी सीमा में निस्सीम और अनन्त भाव सागर को बांधते हुए आते हैं। वे बोलते हैं कम, पर ध्वनित अधिक करते हैं। उनके एक-एक संकेत में अपार विश्व छिपा रहता है, बूँद में वाडव का दाह छिपा रहता है। फ्रायड ने स्पष्टतापूर्वक बतला दिया है कि मनुष्य की छोटी-मोटी निरर्थक और बेकार सी लगने वाली क्रिया के गर्भ में भी व्यक्ति भूतपूर्व जीवन का विशाल इतिहास छिपा रहता है। इस तरह उस क्रिया के मूल कारण का पता लगाने का प्रयत्न समुचित उपायों द्वारा किया जाय तो एक आश्चर्यजनक और कार्य व्यापार संकुल जटिल रहस्य का उद्‌घाटन होगा, पता चलेगा कि देखने में छोटी सी क्रिया लगने वाली सृष्टि में कितने शत-शत कारणों का हाथ है।

फ्रायड ने अपनी पुस्तक Introductory Lectures on Pscho Analysis में एक हिस्ट्रियाग्रस्त नारी का उल्लेख किया है। वह नारी यों तो ठीक थी पर उसकी एक आदत थी जिसका कारण कुछ समझ में नहीं आता था। वह अनेक बार एक कमरे से दूसरे कमरे में जाती। वहां के विस्तरों को ध्यानपूर्वक देखती और तत्पश्चात् उस विस्तर पर स्याही गिराने का अभिनय करती थी। लोग इससे परेशान थे। इसका कोई कारण उनकी समझ में नहीं आता थी। फ्रायड ने बड़ी ही छान बीन के बाद अपनी मनोविश्लेषण पद्धति के द्वारा वास्तविक कारण का पता लगाया। इस नारी का पति नपुंसक था। प्रथम मिलन की सुहागरात को ये दोनों अलग अलग दो कमरो में सोये थे। पति बार बार अपने कमरे से आता थ पर अपनी पत्नी को स्पर्श करते ही इसका आवेग ठंडा पड़ जाता था और वह अपना सा मुँह लेकर चला जाता। इधर पत्नी कामातुरता से व्याकुल थी। पति के इस नपुंसक व्यवहार से उसके हृदय में भयानक क्षोभ उत्पन्न हो गया था। उसने इस भाव को दमित करने का प्रयत्न किया था। अतः वह दमन इस हिस्ट्रिक व्यवहार के रूप में परिणत हो गया था। पति ने सुबह के समय पत्नी के विस्तर पर लाल स्याही गिरा दी थी और यह इसने अपनी नौकरानी से अपने नंपुसकत्व की बात को छिपाने के लिये किया था। इसी का अभिनय नारी अपने कार्य द्वारा किया करती थी।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये इसका उल्लेख E. L. Lucas ने अपनी पुस्तक Literature and Psychology मे किया है।[१९] एक नारी को एक प्रकार से वहम सवार हो गया था है कि दुनिया की सारी वस्तुओं में रोग के संक्रामक कीटाणु मौजूद हैं। अतः वह किसी वस्तु के तब तक सम्पर्क में नहीं आती थी जब तक कि वह पूर्ण रूप मे कुछ (disinfect) न कर लिया जाय। उसका पति बड़े ही संकट में था। वह नारी पाँच महीने तक एक आराम कुर्सी पर सोई, तीन सप्ताह तक नग्नरूप में अपने कमरे में पड़ी रही ताकि कोई वस्त्र छू तक नहीं जाय क्योंकि उसे भय था कि उनमें संक्रामक कीटाणुओं की भरमार है। आगे चल कर पता चला कि इसके सौतेले पिता ने उसे प्रलोभन देकर उसके साथ कामुकता का सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। अतः उस नारी के अन्तःकरण में उस सौतेले पिता और माता के प्रति घोर घृणा पूर्ण भाव उत्पन्न हो गये थे। वह माता और पिता दोनों की मृत्यु की ही कामना किया करती थी। पर माता पिता की मृत्यु की कामना जैसी अभद्र कल्पना के कारण उसके मन में भयानक आत्म भर्त्सना के भाव उत्पन्न हो गये थे और उन्हीं भावों ने निरर्थक आचरण का रूप धारण कर लिया। कहने का अर्थ यह है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि मनुष्य के बाहरी कार्य कलाप अधिकतर सांकेतिक होते है उनके पीछे अनेक कार्य कारण की शृंखलाओं का इतिहास छिपा रहता है।

अतः जो मनोवैज्ञानिक कथाकार होगा उसमें घटनाओं के क्रमिक विकास तथा सानुपातिक संगठन के प्रति स्वाभाविक उदासीनता होगी। उपन्यास जब तक उपन्यास रहता है तब तक उसमें कुछ घटनाओं का समावेश रहना तो अनिवार्य ही है पर वे घटनायें सांकेतिक होगी और उनकी शृंखला की कड़ियाँ टूटी फूटी रहने पर भी किसी रहस्यमय शक्ति के सहारे जुड़ती रहेगी। उनका प्रारम्भ आकस्मिक होगा, मध्य के मार्ग में भी कोई सुव्यवस्था न होगी विशेषतः जब लेखक का दृष्टिकोण गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान का हो। कथोपकथन की अधिकता होगी पर ये कथोपकथन वार्तालाप शैली (Conversational Style) में होगे मानों कोई भरे दिल से बातें कर रहा हो, उसकी बातों की जड़ दिल की गहराई में हो, वे दिल की गहराई से उखाड़ कर रखे गये हों और उखाड़ते समय उनकी कोमल मिट्टी और जड़ की शिरायें भी लगी चली आई हों। जो वर्णनात्मक उपन्यास होते हैं मानों उसमें एक वृक्ष की ऊपरी शिरायें शाखायें काट काट कर हमारे सामने रख दी गई होती हैं उनमें मोटे मोटे तने और शाखायें होती है जो ऊँचाई का आभास भले ही देती हो पर गहराई की अतल व्यापी गम्भीरता की झलक उपस्थित नहीं करती।

अंग्रेजी की एक ख्याति ही लब्ध प्रतिष्ठ कथाकार हैं श्रीमती वर्जिनिया उर्फ

इनके उपन्यासों में मनोविज्ञान का बड़ा सुन्दर समावेश हुआ है। ऊपर की पंक्तियों में जिन बातों की चर्चा की गई है उन सबका प्रतिबिम्ब उनके उपन्यासों में पाया जाता है। उनके अंतिम उपन्यास का नाम है 'अंकों के बीच में' (Between the Acts) इस नामकरण से ही लेखिका की मनोवृत्ति का पता चलता है। लेखिका की धारणा मालूम पड़ती है कि (Active Drama) अर्थात् सक्रियता से, हमारे बाहरी हलचल पूर्ण कार्यकलाप से तो जीवन की सतही झलक भर मिल सकती है वास्तविक वस्तु तो वह है जो अंकों के बीच में घटित होती है। उसी तरह जैनेन्द्र के उपन्यास पाठकों को कहते मालूम पड़ते हैं कि हमारी कथाओं की लड़ियाँ टूटी हैं तो क्या? इस पर मत जावो इस टूट के बीच मे जो रहस्यात्मक वातावरण है वही मुख्य वस्तु है। मन एक रहस्मय ढंग से तड़प कर उस टूट को भर देगा। वास्तविक महत्वपूर्ण ये कथा की लड़ियाँ नहीं जो टूटी सी दीख पड़ती है परन्तु वे चीजें हैं जो इन टूटों के बीच में किसी रहस्यमय ढंग से घटित होती हैं, जिन्हे पाठक अपनी गाँठ से पूँजी लगा कर पाता है। अतः एक कृपालु कथाकार की ओर से कृपा के रूप में दान दिये हुए कथा रस से उत्पन्न आनन्द से इस स्वोपार्जित रस के आस्वादन में एक अपूर्व वैलक्षण्य रहता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि इस तरह के कथाकार में कथा के प्रति उदासीनता नहीं है। हाँ इनकी कला सूक्ष्म हो गई है, पतली हो गई है, अनावश्यक झाड़ झंखाड़ों को झाड़ कर मानव की आन्तरिकता और मनोवैज्ञानिकता के सूक्ष्मता को अपना पाथेय बनाना उसने निश्चित किया है।

सर्व प्रथम कल्याणी को ही लीजिये। यह जैनेन्द्र का अन्यतम उपन्यास है, एक प्रौढ़तम उपन्यास है। दूसरी बात कि जो प्रवृत्तियाँ पूर्व के उपन्यासो में सूक्ष्मता से काम कर रही थीं यहाँ आकर उत्कर्ष पर है। प्रथमतः, प्रारम्भ को ही लीजिये प्रारम्भ यों है।

"जब कभी उधर से निकलता हूँ, मन उदास हो जाता है, कोशिश तो करता हूँ उधर जाऊँ ही क्यों। लेकिन बेकार, सच बात तो यह है कि मैं अगर एक एक राह मूँदता चलूँ तो खुली रहने के लिये दिशा किधर और कौन शेष रह जायेगी? यों सब रुक जायेगा। पर रुकना नाम जिन्दगी का नहीं है जिन्दगी नाम चलने का है।"[२०]

इसकी तुलना कीजिये प्रेमचन्द जी या उन्हीं की वर्णनात्मक प्रणाली को अपनाने वाले अन्य उपन्यासकारो के प्रारम्भ से। श्री भगवती चरण वर्मा के टेढ़े मेढ़े रास्ते का प्रारम्भ इस तरह से है —

दिन और तारीख याद नहीं और उन्हें याद रखने की कोई आवश्यकता नहीं। बात सन १९३० के मई मास के तीसरे सप्ताह की है। गरमी ने एक भयानक रूप

धारण कर लिया था और थरमामीटर ने बतलाया था कि दिन का टेम्पेचर ११६ तक पहुँच गया है। लू के प्रचण्ड झोंके चल रहे थे और उन्नाव शहर की सड़कों पर सन्नाटा छाया हुआ था। लोगों को घर से बाहर निकलने का साहस नहीं होता था। सूर्य के प्रखर प्रकाश से आँखें झुलसी सी जाती थीं। उस समय दोपहर के दो बज रहे थे।"२१

ये उद्धरण केवल उपलक्ष्य मात्र हैं। जैनेन्द्र के किसी उपन्यास से और वर्ण-नात्मक किसी भी उपन्यासकार (जिनकी संख्या आज भी कम नहीं है) की रचनाओं से इन उद्धरणों की सख्या मे अभिवृद्धि की जा सकती है। इन पर विचार करने से एक बात स्पष्ट है कि प्रथम उद्धरण अपने साथ एक सम्बद्ध विस्तृत इतिहास को भी लिए चलता है, उसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किये चलता है, अपने अतीत (Pre historic age) प्रागैतिहासिक युग की कथा को भी ध्वनित करता चलता है जिसमे पाठक की कल्पना सहज ही ताड़ लेती है। पाठक समझ जाता है कि ये जो पंक्तियाँ कह रही हैं वे तो कथा का बाह्य रूप है जो दृष्ट पथ में आ जाती है। इसका बृहद् अंश तो सतह के नीचे है। यद्यपि इस तरह के सम्पूर्णतावादी मनोविज्ञान से प्रभावित उपन्यासों मे शृङ्खला की टूट या अव्यवस्था ह तो क्या वह तो पूरी ही मानस पर उतरती है। दूसरे उद्धरण से स्पष्ट है कि कथा की गति धीर और गम्भीर हैं इसके आगे और पीछे कुछ नहीं है। अतीत तो कुछ है ही नहीं। हाँ, भविष्य कुछ अवश्य है पर जो होगा वह तो हो ही जायेगा। वह सामने आवेगा। अभी चिंता का कोई अव-सर नहीं अर्थात् वह संतुष्ट है।

जैनेन्द्र के *अन्तिम तीन उपन्यास*

सुखदा, विवर्त और व्यतीत ये तीन उपन्यास जैनेन्द्र की नवीनतम कृतियाँ हैं। इनके अन्य उपन्यासो के आधार पर जिस गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की झलक हमने प्राप्त की है वह और भी स्पष्ट रूप से इन उपन्यासों में प्राप्त होती है। कथा की दृष्टि से वही छोटे छोटे (Gaps) रिक्त स्थान, अल्पकायता, पात्रों की न्यूनता, कथा की साँगोपांगिता के प्रति उदासीनता, विचारों की दृष्टि भी वही जो खण्ड को न देखकर सम्पूर्ण को ही देखती है। भाषा की दृष्टि से छोटे-छोटे वाक्य, पैने कथोपकथन जो प्रायः अधूरे हैं...... इस तरह के संकेत से पूर्ण जिन्हें पाठक की सहज बुद्धि बोधगम्य बना लेती है। लाक्ष-णिक लचीलेपन से भरे तरल वाक्य जो साधारण सुलभ शब्दों को लेकर सम्पूर्ण ध्वन्यात्मकता से समन्वित हो गये हैं। पाठको को अपने पात्रो के सम्बन्ध में पूरी जान-कारी न देने और अपनी कल्पना से ही बहुत कुछ जान लेने की प्रवृत्ति इन उपन्या में बदली सी जान पड़ती है। 'विवर्त' के पूर्ण पारायण कर लेने के पश्चात भी पाठव को पूर्ण रूप से ज्ञात नही होता अथवा हो जाता है कि मोहिनी और उसके पति नरेश

म क्या सम्बन्ध थे। वे परस्पर सतुष्ट जीवन व्यतीत करते थे अथवा अन्दर दो विभक्त धाराओं में बहता जीवन भी बाहर से संयुक्त रहने का अभिनय कर रहा था। चड्ढा का रुख इस दम्पति के प्रति अथवा जितेन के प्रति क्या था? वह इनका शत्रु था या मित्र? सब पात्र जैसे शतरञ्ज के खिलाड़ी हों एक दूसरे को मात देने के लिए उत्सुक हो। सब बातें तो करते हैं पर एक (Mental Reservation) के साथ। न कम न अधिक। न तो इतना कम ही कि परिस्थिति के अनुकूल न हो और न इतना अधिक कि परिस्थिति साफ हो जाय। कहीं कहीं तो ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि लेखक जानबूझ कर पाठकों को चक्कर या उलझन में रखना चाहता हो। 'सुखदा' मे भी कथा को रहस्य में लिपटी ही रहने देनें वाली प्रवृत्ति काम कर रही है। सुखदा तो रहस्यमयी है ही। उसके पति, हरिदा और लाल कम रहस्यमय नहीं है। अन्त में यही कह कर हम समाप्त करते हैं कि जैनेन्द्र का कोई भी उपन्यास नहीं जो पाठक के गेस्ताल्टवादी मनोवैज्ञानिक प्रवृति के अभाव मे अपना स्वारस्य प्रदान करने में समर्थ हो। और यह प्रवृत्ति परख से व्यतीत तक बराबर बढ़ती गई है।

जैनेन्द्र ने उपन्यास कला को एक ऐसा संकेत प्रदान किया हे जिसमें बड़ी ही सम्भावनाएँ अन्तर्निहित है, जिस संकेत सूत्र को पकड़ कर कलाकार की प्रतिभा उपन्यास के क्षेत्र में अनेक तेजोमयी मूर्तियों की स्थापना कर सकती है और आज का दारिद्रय दूर हो सकता है। यह भले ही हो कि इस ओर जैनेन्द्र का महत्व प्रारम्भिक कारवाई (Pioneering work) से ज्यादा न हो और ये प्रारम्भिक कारबार करने भर से अधिक समर्थ न हो सके। आन्द्रा जीद ने उपन्यास कला के सम्बन्ध में एक बड़ी ही सारगर्भित बात कही है जिसका मनन और चिंतन हिंदी उपन्यासकार के लिए कभी अफलप्रद न होगा।"

The thing to do—Contrary to the practice of Meredith and James is to give an advantage over me-to manage things so that the reader may think him self more intelligent even than the author, of higher morality, and more discerning and, as it were inspite of the author, may discover many points in the characters and many truths in the story not percieved by the author himself Quoted from The twentieth Century Novel, 1932 Page 468

उपन्यास के सम्बन्ध में इससे अधिक अर्थपूर्ण उक्ति आज तक नहीं कही गई है। इसका भाव यह है कि उपन्यास लेखक को बस एक ही काम करना चाहिये कि विषय का संयोजन इस कौशल से हो कि पाठक अपने को स्फूर्त अनुभव करे, वह

समझे कि मै लेखक से भी अधिक बुद्धिमान हूँ। मेरी नैतिकता उच्चकोटि की है मेरी बुद्धि अधिक सूक्ष्मदर्शी है और मैं लेखक के कहे बिना भी पात्रो में उन बातों का पता लगा सकता हूँ तथा कहानी में सत्य के इन पहलुओं का दर्शन पा सकता हूँ जो लेखक के लिए भी अगम्य थे।

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के मार्ग की ओर से ऊपर की पंक्तियों में जैनेन्द्र की उपन्यास कला का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी का यही एक कथाकार है जिसमें पाठक की इस अहंवृत्ति को गर्वोन्नत अनुभव करने का अवसर मिलता है। दूसरे उपन्यासकार हैं जिनसे हम बहुत कुछ प्राप्त करते हैं पर उनको लेकर हम अपने को एक याचक की स्थिति में ही पाते हैं। पर जैनेन्द्र के साथ हमारी याचकता का बोध कम हो जाता है। हम समझते हैं कि हम ले ही नहीं रहे हैं, हम अपनी ओर से भी कुछ दे रहे हैं। हम मिट्टी के निरे लौंदे ही नहीं जिस पर कोई जैसा चाहे वैसा संस्कार छोड़ दे। उस संस्कार के निर्माण में हमारा सक्रिय सहयोग अपेक्षित है। हमारा विश्वास है कि आगे आने वाले प्रतिभा सम्पन्न उपन्यासकार जैनेन्द्र की इस परम्परा को अग्रसर करेंगे।

षष्ठ अध्याय

जैनेन्द्र की कहानियों में मनोविज्ञान

जैनेन्द्र की कहानियों पर फ्रायडवाद का प्रभाव

पूर्व परिच्छेद में जैनेन्द्र की कुछ कहानियो के आधार पर हमने देखा है कि उनकी सीमा में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की प्रवाहित होती हुई स्पष्ट धारा हमारे ध्यान को आकर्षित करती है। उनके उपन्यासो में तो कथा-शिल्प की दृष्टि से, भाषा के प्रयोग की दृष्टि से अथवा कहीं कही सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से भी हमने इस गेस्टाल्टवादी मनोवृति का ग्रहण पाया है।[१] पर चूँकि हमारे यहाँ के शिक्षित समुदाय ने विशेषतः फ्रायड के मनोविश्लेषण-वाद के प्रति ही अधिक अभिरुचि दिखलाई और इसी ने हमारे विचारो को अधिक प्रभावित किया अतः जैनेन्द्र के कथा-साहित्य ने इससे भी कहीं कहीं मूल प्रेरणा प्राप्त की है और हिन्दी के कोप को कलात्मक कहानियों से समृद्ध किया है। इन कहानियों मे 'ध्रुव यात्रा', 'एक रात', 'ग्रामोफोन का रेकार्ड', 'मास्टर जी', 'बाहुबली,' 'बिल्ली का बच्चा' इत्यादि उल्लेखनीय हैं। फ्रायड-वादियों का एक मुख्य सिद्धान्त है कि मनुष्य की बाह्य नैतिकता, कर्तव्य परायणता के प्रति अतिरिक्त दृढ़ता, किसी आदर्श के प्रति ऐकान्तक समर्पित आचरण सभ्य विशिष्ट और मर्यादा पूर्ण व्यवहार की स्थिति इत्यादि किसी अचेतन की ठीक विपरीत भावनाओ पर अवलम्बित रहती है। आपका चेतन जिस अनुपात में किसी बात के प्रति उदासीनता, वैराग्य या घृणा के भाव प्रदर्शित करता हो उसी अनुपात में आपका अचेतन उसके प्रति आसक्ति और मोह के भाव पोषित करता रहता है। हम मानों अपनी कमजोरियों से अच्छी तरह वाकिफ रहते हैं, हम पूर्णरुपेण अवगत रहते हैं कि हममें वे दुर्बलतायें कहाँ तक घर किये बैठी हैं और हमारे जितने आचरण होते हैं, हम जितनी आदर्शवादिता की बातें करते हैं, 'परोपदेशे पण्डित्यम्' का परिचय देते हैं वे सब मानो किसी आन्तरिक प्रक्रिया के विकृत रूप हैं। यह सब हमारे आन्तरिक वृश्चिक दशन को भुला देने के लिये मार्फिया हैं अर्थात् उनके प्रति निःसंज्ञ कर देने के प्रयत्न के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मनुष्य मन ही मन अपनी आन्तरिक भावनाओं की कदर्थता, कुरूपता, तथा दुःशीलता पर झुँझलाया रहता है। इनकी चोट को सह सकना उसकी सामर्थ्य के बाहर की बात होती है और वह अपने बाह्य आचरणों तथा छटपटाहट, तथा हलचलों के द्वारा अपने उगते हुए आत्म विद्रोह को शान्त करने की चेष्टा करता है

'एक रात' नामक कहानी का मनोवैज्ञानिक पहलू

यही बात हम 'एक रात' नामक कहानी के जयराज में पाते हैं। यद्यपि वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी रह कर देश सेवाव्रत के प्रति आत्मसमर्पित रहने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ है, इस मार्ग मे किसी प्रकार की बाधा के सम्पर्क से वह दूर रहना चाहता है, पर फिर भी उसके अन्दर कहीं न कहीं ग्रन्थि है, अतृप्ति है जो उसकी गति में स्वाभाविकता नहीं आने देती। वह देश की सेवा करता तो है. उसकी उपस्थिति लोगों के हृदय मे उत्साह का मंत्र फूँक देती है पर उससे सेवा होती नहीं है ठीक उसी तरह जिस तरह पुष्प से सुगन्ध निसृत होती है, कोयल कण्ठ से राग निकलता है। जयराज को सेवा करने के लिये अपने मानस पर अत्यधिक जोर देना पड़ता है, किसी कार्य करने के लिये उसे साधारण से अधिक मानसिक शक्ति का व्यय करना पड़ता है। दूसरे शब्दों म वह मनोविकार ग्रस्त (न्यूरोटिक परसनालिटी का) व्यक्ति है। न्यूरोटिक कहलाने वाले व्यक्तियों के आचरण में कोई विशेष असाधारणता परिलक्षित नही होती, वे अनन्य-सामान्य-वृत्ति नहीं होते, वे परिश्रम से भी जी नहीं चुराते। ध्येय प्राप्ति के लिये भी सदा संलग्न रहते हैं पर तिस पर भी कृतकार्यता उनसे विमुख ही रहती है। उनके व्यक्तित्व में कोई वस्तु है—अड़चन है जो उनकी शक्ति के अधिकाश को सोख लेती है और लक्ष्य भूमि को अभिशिंचित करने के लिये थोड़ा ही रस उनमें अवशिष्ट रह जाता है। मेरा खयाल है कि जयराज राष्ट्र की सेवा भले ही कर लेता हो पर वह पूर्ण रुपेण राष्ट्र को प्राप्त नहीं है। नहीं तो भला हरीपुर जाने की समस्या कौन सी बड़ी थी कि वहाँ-जाऊँ—कि न-जाऊँ को लेकर इतने अन्तर्द्वन्द्व की तथा शक्ति के अप-व्यय की आवश्यकता हो। अन्त में वह मानो अपनी इच्छा के बावजूद भी हरीपुर उपस्थित हो ही जाता है और वहाँ जाने पर जो व्यवहार करता है वह तो पाठकों को विदित ही है। उसे लौट आने की जल्दी है। वह लोगों के अनुरोध का अवहेलना कर स्टेशन चला जाता है। फिर लौट आता है। बाद में आँधी, पानी की परवाह न कर स्टेशन आता है। वहाँ पर जिस परिस्थिति में गाड़ी छोड़ देता है वह उसकी आन्तरिक अस्वस्थता, विक्षिप्तता का परिचय देने के लिये पर्याप्त है।

इस कहानी की एक और मनोवैज्ञानिक विशेषता

इस कहानी का पात्र जयराज न्यूरोटिक तो है ही। पर साथ ही इस कहानी मे मनोविश्लेषण वादियों की एक और पद्धति का कलात्मक उपयोग किया गया है। मनो-वैज्ञानिकों ने मनुष्यके व्यक्तित्व की सच्ची झाँकी प्राप्त करने के लिये कितनी ही पद्धतियों का आविष्कार किया है। उनमें एक यह भी है कि परीक्ष्य व्यक्ति के द्वारा अनायास खीचीं गई टेढ़ी मेढ़ी लकीरें, टेढ़े मेढ़े चित्र, अर्नगल वाक्यों में मनुष्य का व्यक्तित्व प्रति-बिम्बित होता है उन्हें देखकर' उनकी व्याख्या में सतर्कता से काम लेकर हम व्यक्ति

के आन्तरिक स्वास्थ्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते है। . अन्त में टहलते टहलते वह (जयराज) मेज पर आ बैठा और होल्डर से ब्लाटिंग पैड पर लिखा। लिखा कहें कि खींचा : यह होल्डर से, निब से नहीं, ब्लाटिंग पैड, पर कागज पर नहीं, लिखा नहीं, खींचा इन बातों का मनोवैज्ञानिक महत्व विशेष रूप से द्रष्टव्य है।[२]

Swaraj is our birth right is indisputable elsewhere as in politics. But there is marriage too. Marriage gives a man foot hold, Society a unit. It gives a home Alright perfectly alright But-? And there is love in human breast Did god make marriage ? No, man did the making of it. and I say love is not chaos. It is never, never

पात्रा के मानसिक जीवन की विचित्रताओ, उलझनों का चित्रण करना कथाकार उद्देश्य होता है। ये पक्तियाँ जयराज के अचेतन की गहराई में डुबकी हुई पर वहीं पर से उसके जीवन सूत्र को हिलाने वाली प्रवृत्तियों के रूपको स्पष्ट कर पाठकों के सामने रख देती हैं। वे इस बात की घोषणा करती हैं ससार तो जयराज को इस बात पर विश्वास करता है कि उसने सेक्स भावनाओ पर सदा के लिये विजय प्राप्त कर लिया हैं। पर वे मर कर भी अमर रहती हैं। प्रेमचन्द के कथा साहित्य में बहुत खोज करने पर भी एक उदाहरण नहीं मिलेगा जहाँ पर पात्रों के व्यक्तित्व का रहस्य इस ढग से उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। निश्चित हैं कि यह कुंजी कथाकारों ने मनोवैज्ञानिकों के घर जाकर प्राप्त की है। उसी तरह मुक्त आसग (free association पद्धति भी मनोवैज्ञानिकों की, विशेषतः फ्रायडवादियों की खास चीज है। इसमें रोगियो को जो मन में आवे उसे कहने की छुट्टी दी जाती है मानो उन पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न हो या उनकी लिखी डायरी या उनके स्वप्नों की मीमासा कर उनके मन के गुप्त रहस्यों के समझने का प्रयत्न कर उसके अनुसार चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है।

ध्रुवयात्रा

'ध्रुव-यात्रा'[३] में इसी डायरी के द्वारा तथा परिप्रश्न के द्वारा अपने विश्वविजयी पात्र के जीवन की गाठ को खोलने की व्यवस्था की गई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कहानी का पात्र भी न्यूरोटिक है, उसे जीवन में सिद्धियां भी प्राप्त होती है, वह इस विश्व को जीत कर ध्रुव को जीतने की यात्रा करता है पर उसकी मानसिक शक्ति का अधिक अपव्यय होता है और अन्त में वह आत्म हत्या कर लेता है।

विट्रीस

विट्रीश[४] कहानी का मेवर भी मनसा ही अधिक स्पष्ट है, वह एक तरह

से जड़ हो गया है, उसके जीवन में एक लहर भी नहीं उठती, यहा तक शरीर में सूई चुभाने पर भी उसे पीड़ा नहीं होती। अन्त में अस्पताल मे एक परिचारिका के स्नेह की तरलता और आद्रता उसे रोगमुक्त करती तथा जीवन प्रदान करती है।

बाहुबली

'बाहुबली' मे यह बात दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि चाहे मनुष्य कितनी ही कार्योत्सर्ग झेले, दुर्द्धर्ष तपश्चरण करे, सुखो का विसर्जन करें, चाहे वह आमोद-प्रमोद और सुख विलास के साधनो के बीच रहकर ही क्यों न जीवन व्यतीत करे पर सच्ची शांति तो तब तक प्राप्त नही हो सकती जब तक उसके हृदय की फास न निकले, शल्य न दूर हो। तपस्वी बाहुबली भी सुखी नहीं, चक्रवर्ती भरत भी शान्त नहीं क्योंकि दोनो ने अपने अभ्यन्तर की ग्रन्थि को नहीं देख पाया है, जिस दिन उन्हे अपनी गाठ दिखलाई पड़ गई उसी क्षण वे स्वस्थ हो गये, आँखे खुल गई मौनमुख मुस्करा उठा। उस मुस्कुराहट मे उनकी अवशिष्ट ग्रन्थि खुलकर बिखर गई और मन मुकलित हो गया।[५] यदि इस कहानी में प्रतिप्रादित बातों को फ्रायडियन मनोविज्ञान की ग्रन्थियों (Complexes) की प्रणाली से देखा जाय तब यह पता चलेगा कि एक छोटी सी बात यदि हृदय में अज्ञात ग्रन्थि के रूप मे जम कर बैठ जाती है तो किस तरह मनुष्य की लक्ष्य सिद्धि में बाधा पहुँचाती है। इसी को मनोवैज्ञानिक भाषा मे यों कहे कि वह संगठित व्यक्तित्व (integrated personality) के विकासको अवरुद्ध कर देती है।

बिल्ली का बच्चा

'बिल्ली का बच्चा' में मानस की उस अज्ञात प्रक्रिया की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित किया गया है जिसे स्थानान्तरीकारण (Transference) कहते हैं। हम अपनी भावनाओं के मूलाधार को परिवर्तित कर अपनी तृप्ति का मार्ग ढूंढ निकालते हैं। एक निराश प्रेमी अपनी प्रेमिका के चित्र को अथवा उसी का प्रतिनिधित्व किसी अन्य पदार्थ में मानकर उसी के प्रति अपने हृदय की भावनाओं को समर्पित कर शान्ति की सांस लेता है। मनोविज्ञान की पुस्तकों मे ऐसे उदाहरणों की भरमार है जहाँ नारी अपने वात्सल्य को पालतू पशु पक्षियो पर व्यय कर संतोष प्राप्त करती है। इस कहानी मे भी यह बात कही गई है कि अपने नटखट भाई की मृत्यु से शरबती विक्षिप्त सी हो जाती हैं। भयानक ज्वर से आक्रान्त हो जाती है और रोग से तब तक मुक्त नहीं होती जब तक उसके प्यार का स्थान लेने के लिए कहीं से बिल्ली का बच्चा नहीं आ जाता। उसके बाद तो आप जानते ही है कि एक दिन वह भी आया कि वह फल फूल कर खूब मोटी भी हो गई[६] यह चमत्कार मानस के (transference) प्रक्रिया के

द्वारा ही संभव हो सका। हो न हो शरबती की अज्ञात चेतना ने बिल्ली के बच्चे में भाई का प्रतिनिधित्व पाकर अपने प्रवाह का मार्ग प्रशस्त किया।

जैनेन्द्र और अज्ञेय

"घुंघरू", "पत्नी", "ग्रामोफोन का रेकार्ड" "पानवाला", "जाह्नवी", 'ब्याह' इत्यादि कहानियाँ जैनेन्द्र की कहानी कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं और इसलिए हैं कि इन कहानियो में जैनेन्द्र की प्रतिभा ने मनुष्य की उस मानसिक स्थिति का चित्रण किया है जिसमे वह मीठी-मीठी आँच पर पकता सा रहता है। उसमें उबाल नहीं रहता, कोई ऊफान नहीं रहता, वेदना इतनी घनीभूत नही रहती कि जिसकी चाह या छटपट चिकित्सकों की औषधियों की मांग करें। वह जीवन की किसी अज्ञात गहराई मे इस तरह से दुबक जाती हैं कि उसके अस्तित्व तक का पता नहीं चलता पर वहीं से वह किसी अनिर्दिष्ट अभाव की सृष्टि कर निरानन्द के वातावरण मे मनुष्य को घेर लेती है और प्राण रस को चाटती रहती है। मानो दर्द हद से गुजर गया हो पर अभी दवा नहीं बन पाया हो, कतरा अपने वजूद को भूल रहा हो पर अपने को "दरिया" में फना नहीं कर सका हो। यह मानसिक स्थिति मनुष्य जीवन की सबसे भयंकर पर साथ ही सबसे दिव्य है। भयंकर इसलिए कि अन्दर ही अन्दर यह मनुष्य के जीवन में घुन की तरह लगकर उसे निस्सत्व कर दे सकती है पर उचित रूप मे उपयोग करने पर जीवन की सारी विभूतियों का श्रेय भी उसी को मिल सकता है। इसीलिए दिव्य भी है। इस मानसिक पीड़ा के अभिशाप से ग्रस्त मनुष्य विश्व में शून्य की तरह विलीन हो सकते हैं अथवा शीर्ष स्थान के मूर्धन्य अधिकारी हो जीवन के सदेश वाहक हो जा सकते हैं। जीवन में जो कुछ भी "मति, कीरति, गति, भूति भलाई।" जहाँ भी जिस तरह भी उपलब्ध हो सकी है, सो सब मानस की इसी पीड़ामयी स्थिति के परिणाम हैं, इसी के "सत्सग" प्रभाव से प्राप्त हो सकी हैं। इसके लिए दूसरा कोई भी साधन नहीं, "लोकहुँ वेद न आन उपाऊ"। इसी अन्तर्पीड़ा को, अन्तर्मथन को, किसी अज्ञात प्रेरणा से उमग पड़ने वाली लहर को अपनी कहानी कला का सहारा दे जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा साहित्य को एक नये मार्ग पर ला खड़ा किया है। इसी मानसिक अवस्था के आलोडन प्रतिलोडन को हमने अन्यत्र (One way traffic) कहा है। अज्ञेय की कथाओं में भी इसी अन्तर्पीड़ा को कला की पकड़ में ला कर देखने का प्रयत्न किया गया है अवश्य पर उनका दृष्टिकोण बौद्धिक है, उनमे आधुनिक मनोविज्ञान के शास्त्रीय सिद्धान्तो के प्रदर्शन का आग्रह अधिक है, कथाओं के माध्यम से उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन कथाओं को रौंदता हुआ भी अपनी सत्ता की घोषणा करता है। पर जैनेन्द्र में हार्दिकता है, उनकी पकड़ कलात्मक है, उनकी दृष्टि स्वच्छन्द है, मनोविज्ञान उनकी कथाओं पर हावी

नहीं हो सका है हालाँकि मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता जटिलता और रहस्यमय उलझनों का दर्शन उतना शायद ही कही किसी अन्य कलाकार मे प्राप्त होता हो।

जैनेन्द्र की कला मे आन्तरिक दृष्टि की स्थापना

जैनेन्द्र की भाषा के सम्बन्ध मे विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। यह सर्व विदित है कि उनकी जैसी विषयोपयोगी, खड़ी, कैंची की तरह मार करने वाली, अभिव्यंजक भाषा के प्रयोग करने वाले किसी भी साहित्य में विरल है। ऊपर चर्चा हो चुकी है कि कथा के क्षेत्र में उन्होने क्या नूतनता उपस्थित की है पर यदि कथा मे (inside view) आन्तरिक दृष्टि की स्थापना करना, पात्रों के मानस को गहराई मे चलती रहने वाली तरग का सच्चा चित्र उपस्थित करना मनोवैज्ञानिक कथाकार का मापदण्ड है तो जैनेन्द्र की कहानियाँ कही कहीं तो अद्वितीय हो उठी है "पत्नी" नामक कहानी का एक छोटा सा उद्धरण देखिये। "वह : सुनन्दा : सोचती हैं··· नही, सोचती कहाँ है, अलस भाव से वह तो वहाँ बैठी ही है। सोचने की है तो यही कि कोयले न बुझ जाय····· वह जाने कब आयेंगे, एक बज गया है।···· कुछ हो, आदमी को अपनी देह की फिक्र तो करनी चाहिए··· और सुनन्दा बैठी है। वह कुछ कर नही रही है। जब वह आयेंगे तो रोटी बना देगी। वह जाने कहाँ कहाँ देर लगा देते हैं। और कब तक बैठूं। मुझसे नही बैठा जाता। कोयले भी लहक आये हैं। और उसने झल्लाकर तवा अंगीठी पर रख दिया। नहीं, अब वह रोटी बना ही देगी। उसने जोर से खीझ कर आटे की थाली सामने खींचली और रोटी बेलने लगी।" यहाँ तो कुछ बातें सुनन्दा की ओर से वाह्य दृष्टि से (Outside view) कथाकार की ओर से कही जा रही है। अधिक बातें सुनन्दा की ओर से (inside view) के रूप में कही गई है। रेखांकित पक्तियाँ सुनन्दा के हृदयोद्‌गार हैं। लेखक पहले अपनी ओर से कहता है, पाठक बाहरी दृष्टि से देख रहा है तत्पश्चात् सुनन्दा की बातों को सुन कर मानो उसके हृदय के अन्दर की झांकी लेने लगता है। पाठक उस तैराक की स्थिति मे हो जाता है जो पानी का सतह के बीच डुबकी लगा कर तैर रहा हो, फिर थोडा सा ऊपर आ सास ले पुनः अंदर ही अन्दर तैरने में संलग्न हो जाता हो। कहना नहीं होगा कि इस पद्धति के द्वारा पाठक को कहानी के मनोवैज्ञानिक वातावरण से तदात्म्य करने मे बडी सहायता मिलती है।

दृष्टि दोष नामक कहानी मे मनोविकारोत्पन्न आंख के रोग की कथा

"दृष्टि दोष" नामक कहानी मे एक ऐसी नारी की कथा है जिसकी आँख मे किसी तरह का रोग तो नहीं है और यदि है भी तो हिस्टिरिक दृष्टि दोष है क्योंकि इसके कारण सुभद्रा को उस नेत्र विशेषज्ञ के सामीप्य का अवसर मिलता है जो कभी उसका

प्रेमी रहा है और जिसकी प्रणय याचना को मन ही मन दबाकर जीवन में रम गई थी। आज भी उसका नैतिक अहं (Super ego) इस बात पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं कि इस केदार नामक डाक्टर के लिए उसके हृदय मे कोई कोमल स्थल है और बार बार वह कहती है, "अजी, मुझे दृष्टि दोष न होता और आप आँख के डाक्टर न होते तो मेरा आपसे क्या वास्ता था।[८]

इस तरह हम देखते हैं कि व्यक्ति की अत्यन्त समीप से देखने की, उसकी अतल गहराई में बैठ कर वहां से सूक्ष्म हलचलों के रहस्योद्घाटन करने की, क्रियारत मानव नहीं पर भावमग्न, विचारमग्न मानव के वैविध्य तथा वैचित्र्य की कथाओं मे पकड़ने की प्रवृत्ति जैनेन्द्र की विशेषता है। जैनेन्द्र के हाथों में पड़कर कथा जीवन के और भी अधिक गहरे स्तर पर अधिकार कर सकी है जहाँ प्रेमचन्द की पहुँच नहीं थी। जैनेन्द्र समाज को नहीं भूले हैं। राजनैतिक परिस्थितियों की भी अवहेलना उनमें नही है पर उनके साहित्य मे उसका चित्रण व्यक्ति के माध्यम से हुआ है, व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक माध्यम से कहना अधिक उचित होगा। जैनेन्द्र की पद्धतियो मे भी कुछ पूर्ववर्ती कथाकारों से विभिन्नता अवश्य है पर वे प्रयोगवादी कथाकार नही हैं—वैसा प्रयोगवादी जो केवल प्रयोग के लिए प्रयोग करता है चाहे उस प्रयोग की प्रेरणा वर्ण्य वस्तु के स्वरूप से ही भले ही न मिलती हो। उनकी पद्धति में जो कुछ विशिष्टता आ आ गई है वह अपने मूलाधार तथा उपजीव्य की अन्तस्थ माग के उत्तर के रूप मे है।

पाद टिप्पणियाँ

१. द्रष्टव्य इस निबन्ध का पांचवाँ परिच्छेद
२. एक रात, द्वितीय संस्करण, सरस्वती प्रेस, पृ० १८
३ पाजेब नामक कहानी संग्रह की छठीं कहानी
४. वही, तीसरी कहानी
५ एक रात, पृ० १००
६. एक रात, पृ० १२२
७. नीलम देश की राज कन्या, प्रथम बार सितम्बर १९२८ हिंदी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई पृ० ४९।
८ वही, पृ० १०

सप्तम परिच्छेद

अज्ञेय के शेखर-एक जीवनी में मनोविज्ञान

बाल मनोविज्ञान

फ्रायड द्वारा प्रतिपादित मनोविश्लेषण ने चाहे और कुछ न भी किया हो पर उसने हमारा ध्यान शिशु मानस के महत्व की ओर आकर्षित किया है और बड़े ही सबल प्रमाणों के आधार पर बतलाने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य के प्रौढ़ जीवन की अनेक विकृतियों, असाधारणताओं तथा असंगतियों का मूल उसके जीवन के प्रथम दो चार वर्षों के संघर्ष तथा मानसिक दमित भावनाओं में है। यह वह अवस्था है जिसमें मनुष्य के भविष्य जीवन की आधार-शिला रखी जाती है। यदि इस समय उसकी विकास-गति को स्वाभाविक और उचित प्रवाह मिलता रहा, उसकी सारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को चरितार्थ होने का अवसर प्राप्त होता रहा तो उनके पारस्परिक सहयोग से एक सुसंगठित व्यक्तित्व-सम्पन्न मानव के निर्माण की आशा हो सकती है। इसकी विपरीतावस्था में अर्थात् उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को माता पिता के व्यवहार से अथवा अन्य घटनाओं के कारण जिनका उल्लेख फ्रायडवादियों ने किया है बालक के मानसिक संघर्ष में अभिवृद्धि होती रहती है, उसकी भावनायें दमित होकर अचेतन स्तर में चली जाती हैं तो वहां ग्रन्थियां बनने लगती हैं। वे ही ग्रन्थियां भविष्य के जीवन सूत्र-संचालन को एक अलक्ष्य गति से नियन्त्रित करती हैं। मनोविश्लेषण ने बतलाया कि मनुष्य को जो कुछ होना होता है, वह जितनी ऊंचाई तक उठ सकता है या जितनी गहराई तक गिर सकता है ये सारी शर्तें इसी समय निश्चित हो जाती हैं। अतः माता पिता शिक्षक तथा अभिभावक को बालक की शिक्षा बड़ी सावधानी और सतर्कता से परिचालित करनी चाहिए। शैशव और शिशु मानव के महत्व को पहिले भी लोगों ने समझा था। वर्डसवर्थ की वह उक्ति Child is the father of man अर्थात् शिशु ही मनुष्य का पिता है किसे मालूम नहीं? भारतीय धार्मिक ग्रंथों में गर्भ-स्थित शिशु की ग्रहण शील प्रवृत्तियों पर भी विचार किया गया है और कहा गया है कि माता पिता के व्यवहारों, उनके रहन सहन इत्यादि की छाप गर्भ-पिण्ड पर भी पड़ती है। शिशु मानस के महत्व के ज्ञान उन्हें भी मालूम था पर यह ज्ञान निर्विकल्पक था सविकल्पक नहीं। कहने का अर्थ यह है कि मनोविश्लेषणवादियों के आगमन के पूर्व शिशु मानस के के सम्बन्ध में हमारा जो ज्ञान था वह एक यों ही साधारण ज्ञान था। हम अवश्य यह

समझते थे कि बाल्यकाल मानव-जीवन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है और उसके स्वाभाविक विकास के लिए उचित वातावरण की आवश्यकता है पर क्यो है, कैसे है, कौन सा वातावरण उचित है और कौन सा अनुचित इन बातो का विस्तृत ज्ञान हमे नहीं था। उदाहरण के लिए हम आज तक शिशु को एक भोले भाले जीव के रूप मे देखते आए हैं। बालक का मन दर्पण की तरह स्वच्छ और मक्खन की तरह कोमल स्निग्ध व शांत होता है और वह आनन्द सागर में हिलोरें लेता निर्द्वन्द्व जीवित रहता है। न अतीत का पश्चाताप न भविष्य की विभीषिका। बस वर्त्तमान में रमते रहने वाला वह परम-हंस है। कवि लोग बाल्यकाल के सपने देखते आए हैं और यौवन के प्याले में प्यारे भोलेपन को भर लेने की सदा कल्पना करते आए हैं।, ईश्वर की कल्पना एक बालक के मन के रूप मे ही की गई है। अंग्रेजी के कवि वर्डस्वर्थ ने कहा है कि बचपन के आसपास में स्वर्ग का निवास है (Heaven lies round about us in our infancy) पर आज का मनोविशलेषणवादी कहेगा कि नहीं ये सारी मान्यतायें गलत हैं। तुम कहते हो बालक एक निर्द्वन्द प्राणी है। मै कहता हूँ उसके जैसा उलझन और संघर्ष पूर्ण मानस किसी का नहीं। तुम कहो कि बालक भोला भाला निरीह जीव है पर मैं कहूँ कि उसके जैसा स्वार्थी, ईर्ष्या और द्वेष से जजर दूसरा प्राणी कौन ? तुम भले ही मानलो की कि एक बालक के हृदय में काम वासना नहीं रहती। पर मनोविषश्लेपणवादी कहेगा बड़े भोले हैं आप वासनायें बड़े ही प्रबल रूप से बालक में विद्यमान रहती है। इतना ही नही, जिस तरह प्रौढ़ लोगो मे काम विषयक अनेक तरह की विकृतिया पाई जाती है बालक मे उसी तरह उनका निवास रहता है। वास्तव में बालक एक Polymorphous perverse है। अपनी मान्यताओं की जांच इन लोगों ने बालकों के व्यवहार और क्रिया कलापों के सूक्ष्म और व्यवस्थित अध्ययन के सहारे की है और इन्होने इन्हें सत्य पाया है। कहना तो यही ठीक होगा कि इन लोगों ने बालकों के जीवन तथा उनके व्यवहारिक कृतियों के अध्ययन के पश्चात् ही बाल मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तो की स्थापना की है।

शिशु जीवन में और प्रौढ़ व्यक्ति के जीवन में एक अंतर होता है। प्रौढ़ व्यक्ति में अपने मनोभावों को प्रगट करने की शक्ति होती है और वह बता सकता है कि किन किन कारणों से अथवा किन किन मनोभावो की प्रेरणा से वह क्रिया विशेष में प्रवृत हुआ है। वह आत्म निरीक्षण पद्धति के सहारे अपने मानस की आभ्यन्तरिक क्रिया सरणि का पता दे सकता है, अपने मन की अंधकार-मयी गलियों का रहस्योद्घाटन कर सकता है पर शिशु मानस के व्यवस्थित अध्ययन के लिए ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं शिशु अपने कार्यों की व्याख्या नहीं कर सकता प्रौढ़ व्यक्ति की अपेक्षा वह मूक प्राणी

है, उसकी क्रिया ही विचार है, उसके विचारों को क्रिया से पृथक नहीं किया जा सकता उसकी क्रियायें सांकेतिक होती हैं। वे बालक के आभ्यन्तरिक जीवन की प्रतीक होती है। पर पर्याप्त सतर्कता के तटस्थ objective दृष्टि से यदि उनका अध्ययन हो तो कहीं सत्यता का पता चल सकता है। उनके लिए मनो विश्लेषण करने वालो ने कितनी ही पद्धतियों का आविष्कार किया है। सर्व प्रथम तो उन्होने बतलाया कि बालक ही बालक के मन की अवस्था का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। यदि हम बालक के मन को जानना चाहते हैं और उसकी गति विधियों के रहस्यो से परिचित होना चाहते हैं तो हमे बालक बनना पड़ेगा अर्थात् प्रयत्न पूर्वक याद करना पडेगा कि हम बाल्यावस्था में कैसे थे और किस तरह से सोचते थे और किस तरह से व्यवहार करते थे। प्राय. होता क्या है कि हम प्रौढ़ बन कर ही बालक को समझना चाहते हैं और आज तक हम लोग यही करते आए हैं जिसके परिणाम स्वरूप हमने शैशव के सबन्ध में तरह तरह की भ्रामक धारणायें बना ली हैं। मान लीजिए कि आप सोलवी शताब्दी के किसी राजा या किसी धार्मिक सामाजिक अथवा राजनैतिक नेता का इतिहास पढ़ रहे हैं। बीच मे आने वाली चार शताब्दियों ने हमारी विचारधारा, रहन सहन धारणाओं तथा दृष्टि कोण मे आमूल परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया है। हम आज दूसरे ही ढंग से जीवन की समस्याओं पर विचार करने लगे हैं तो आज की दृष्टि से इन पर विचार करना क्या ठीक होगा ? नहीं।

शिशु मानस को समझने की दूसरी पद्धति यह है कि उनसे मैत्री भाव की स्थापना की जाय, उनके सामने ऐसे वातावरण की सृष्टि की जाय कि वे अपने माता पिता अथवा अभिभावक को अपनी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का मार्ग-विरोधक न समझ कर उन्हें अपना विश्वसनीय साथी समझें और उनके सामने स्वाभाविक रूप में खुल सकें उनसे हृदय भी बातें कह सकें, उनके प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर दे सकें। कभी भी उनके प्रश्नों का तुच्छ समझ कर ना समझ बालक का अर्थहीन प्रलाप समझ कर यों ही न टाला जाय। शिशु में काम प्रवृति प्रबल होती है। वह मां बहिन के प्रति काम दृष्टि से आकर्षित रहता है। बालक अपनी माता पर सम्पूर्ण रुपेण अधिकार स्थापन में पिता को अपना प्रतिद्वन्दी समझता है। बालिका अपनी माता को पिता के प्रेम का प्रतिद्वन्दी समझती है। शिशु में Incest की स्वाभाविक प्रवृति होती है। भाई बहिन के जन्म में मैथुनिक प्रणय व्यापार स्वाभाविक है। दूध छुड़ाने के अवसर पर अथवा नये भाई और बहिन के जन्म पर बालकों के मन पर तरह तरह की जिज्ञासायें और आशंकायें घर कर लेती हैं। पर परिस्थितियो के कारण इन्हें इनका दमन कर लेना पड़ता है। ये दमित प्रवृतियाँ उसके अचेतन में बैठ कर तरह तरह की ग्रन्थियों का सृजन करती हैं जो उसके भविष्य को प्रभावित करती रहती हैं। नेपोलियन का,

Leonard de vinci जैसे महान् व्यक्तियों तथा दुनिया के अनेक दुर्दनीय अशोभनीय तथा बद्धमूल अपराधियों की जीवनियों का अध्ययन कर लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनकी वर्त्तमान उन्नतावस्था का पतनावस्था के मूल में उनके बाल्य काल में बन जाने वाली मनोग्रन्थियां ही हैं अर्थात् जीवन के प्रथम दो चार वर्षों में ही मनुष्य के जीवन के विकास क्रम की रूप रेखा निश्चित हो जाती है।

बाल मन के अध्ययन की तीसरी पद्धति यह भी है कि उनके खेलों का अध्ययन किया जाय और यह देखा जाय कि खेलों में उनकी कल्पना किस रूप में प्रगट होती है। वे खेल में स्वयं कौन सा पार्ट अदा करते हैं। कौन कौन से पार्ट अदा करने वाले के प्रति उनका कैसा रुख रहता है। उनके स्वप्नों में भी उनके मन की अव्यक्त दशा पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। कहने का अर्थ यह है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने बाल मन का सांगोपांग अध्ययन दृढ़ वैज्ञानिक ढंग से करना प्रारंभ किया है और उसके सम्बन्ध में अनेक तथ्यों का पता लगाया है। इसके लिए कहा जा सकता है कि आज तक हमारा बाल मन से परिचय तो था पर वह निर्विकल्पक था उसमें प्रकारता का ज्ञान नहीं था। मनोविश्लेषण के द्वारा बाल मन सम्बन्धी ज्ञान सविकल्पक रूप धारण करता जा रहा है।

एक बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

Mrs. Melamia Klein एक बड़ी ही कट्टर फ्रायडवादी है। कट्टर इस अर्थ में कि उन्होंने फ्रायड के काम मूलक (Libido) वाले सिद्धान्त को अपनी पूर्ण व्यापकता और जटिलता के साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में साहस पूर्वक ले जाकर देखने तथा दिखाने का प्रयत्न किया है। फ्रायड को साथ लेकर ये जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में साहसपूर्वक चली गई हैं। उन्होंने कितने ही शिशुओं के मानस व्यापार का प्रयोगशालात्मक विधि से अध्ययन किया है। उनके निरीक्षित एक बालक के केस हिस्ट्री को संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है ताकि यह स्पष्ट हो सके कि शेखर की शिशुकालीन व्यवहारों तथा क्रियाओं में तथा इस बालक में कितनी समानता है [१] ?

फ्रिटिज़ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

इस बालक का नाम Fritz था। वह साधारणतः स्वस्थ था चाहे तो जरा मंदबुद्धि कह सकते हैं। उसकी बाह्य मुखाकृति रंग ढंग बात व्यवहार से दर्शकों की यही धारणा होती थी कि यह चतुर और सतर्क बालक है। उसने दूसरे वर्ष में बोलना प्रारंभ किया और साढ़े तीन वर्ष के बाद तो कहीं व्यवस्थित रूप में बात करने लगा। चौथे वर्ष में पहुँच कर तो वह रंगों के भेद को पहिचान सका और साढ़े चार वर्ष में बीते कल आज आगामी काल का भेद ज्ञान प्राप्त कर सका उसकी स्मृति काफी तेज थी

उसे दूर की बातें याद रहती थी। जो बात उसकी समझ मे एक बार आ जाती थी उस पर उसका अधिकार सा हो जाता था। साढ़े चार वर्ष के बाद उसका मानसिक विकास तीव्र गति से होने लगा। साथ ही विविध प्रश्न करने की अदम्य प्रवृति का उदय सा होने लगा। उसमें अपनी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता में विश्वास जगा। वह समझ गया कि संसार में कोई ऐसी कला या कारीगरी नहीं जिसे वह जानता नही और जिसे वह सफलता पूर्व सम्पादित नहीं कर सकता। अनेक विरोधी प्रमाणों के रहते भी उसके विश्वास की जड़ नहीं हिल सकती थी कि वह भोजन पका सकता है, वह फ्रेंच भाषा पढ सकता है, लिख सकता है और बोल सकता है। विरोधी प्रमाणों के अधिक और प्रत्यक्ष हो जाने पर वह अपनी स्थिति को यह कह कर सम्भालता कि केवल एक बार उसे कार्य-विधि देखने को मिल जाय तो ठीक ठीक सब "मैं काम कर लूँगा"। फ्रिटिज़ जब पौने पांच वर्ष का था, एक बार किसी वार्त्तालाप के सिलसिले मे उसके बड़े भाई और बहिन ने कहा कि तुम्हारा जन्म भी उस समय नही हुआ था। यह जान कर कि ऐसा अवसर भी हो सकता है जब कि उसका अस्तित्व न हो उसके लिए रुचिकर न था और यह कह कर "मै था कैसे नहीं? मैं अवश्य था" संतोष की सांस लेता था। उस घटना के बाद तो मानों जन्म सम्बन्धी प्रश्नों का उसने तांता ही बांध दिया। जन्म के पूर्व मै कहाँ था, मनुष्य का जन्म कैसे होता है, माँ की क्या आवश्यकता है, पिता की क्या आवश्यकता है। कुछ दिनों तक उसने अपनी मां तथा Mrs. Melamia klein से ऐसे प्रश्नो का पूछना स्थगित किया और अपनी धाय तथा बड़े भाई से इस सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करता है कि ईश्वर सब मनुष्यो को उत्पन्न करता है। उसके चित्त को समाधान तो प्राप्त हुआ पर वह अचिरस्थाई रहा। वह पुनः अपनी माँ के पास आकर मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने लगा। इस बार उसकी वाचालता की प्रवृति में अभिवृद्धि के लक्षण दिखाई पड़ने लगे और उसने तड़प कर कहा "माँ, मेरी गुरु-माँ तो कहती थी बच्चों को सारस चोंच से उठा कर लाती है।"

माँ : नहीं यह मन गढ़न्त झूठी कहानी है।

फ्रिटज : मेरे साथी लड़के तो कह रहे थे कि इस्टर के अवसर पर खरगोश स्वयं नहीं आ जाते। गुरु माँ उन्हें उद्यान में छिपा कर रख देती है।

माँ : हाँ, बिल्कुल सही बात है।

फ्रिटज : तो इस्टर खरगोश वरगोश कुछ नही। सब झूठा है, यही न।

माँ : हाँ, और क्या

फ्रिटिज : तब तो Father Christmas भी नहीं है

माँ : हाँ, वह भी नहीं है।

फ्रिटिज : तब वृक्षों को कौन लगा कर सजाता है ?

मां : माता पिता !

फ्रिटिज : तब तो देवदूत भी नहीं होते, यह भी झूठा है।

मां : हाँ, देवदूत भी नहीं होते। यह भी झूठा है।[२]

आगे चलकर फ्रिटिज ने पूछना प्रारंभ किया कि कुत्तियों और बिल्लियों के बच्चे कैसे पैदा होते हैं। मैंने तो एक अन्डे को तोड़ कर देखा है तो मुर्गी के बच्चे का कहीं पता नहीं था। उसे बताया गया कि मनुष्य के बच्चे और मुर्गी के बच्चे में अंतर होता है, कि मनुष्य का बच्चा अपनी मां के गर्भ में रहकर वहाँ की उष्णता से पालित तथा परिवर्द्धित होकर बाद मे शक्ति संचित कर बाहर निकलता है।

इस बालक के निरीक्षण द्वारा जो अध्ययन उपस्थित किया गया है उसमें अनेक तरह के प्रश्नों का उल्लेख है और उन प्रश्नों के द्वारा बालक के मानसिक विकास का क्रम निर्धारित किया गया है। इन्हीं दिनों उसमें ईश्वर के सम्बंध में, मृत्यु के सम्बन्ध में, स्त्रीत्व के सम्बन्ध मे और पुरुषत्व के सम्बन्ध में भेद के अनेक प्रश्नों की अवधि प्रारम्भ हुई। एक दिन लगातार वर्षा होती रही और फ्रिटिज को इस बात का दुख रहा कि वह उद्यान में खेलने जाने से वंचित रहा। उसने अपनी मां से पूछा मां क्या ईश्वर जानता है कि वर्षा कब तक होती रहेगी।' उससे बतलाया गया था कि ईश्वर वर्षा नहीं देता, वर्षा होती है बादलों से और एतद्विषयक उनके समझ में आने वाली बातें समझाई गई तब उसने पूछा ईश्वर वर्षा नहीं देता क्या ? कल नौकरानी तो कह रही थी कि ईश्वर वर्षा देता है।' मां ने बात टालने के लिए यों ही चलता सा उत्तर दिया कि मैंने ईश्वर को देखा नहीं।

फ्रिटिज : वह किसी को दिखलाई नहीं पड़ता पर वह सचमुच आकाश में रहता है।

मां : आकाश में सिवाय वायु और बादलों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं ?

फ्रिटिज : परन्तु ईश्वर तो है ही ?

अब मां के लिए बचने का कोई अवसर न था। उसे निर्णयात्मक रूप में कहना पड़ा कि नहीं ये सब झूठी बातें हैं। ईश्वर वगैरह कुछ नहीं होता। इस पर फ्रिटिज ने कहा "परन्तु मां यदि एक प्रौढ़ मनुष्य कहे कि ईश्वर की बात सच्ची है और आकाश में रहता है तो यह बात सची नही होगी क्या ?'' उत्तर में कहा गया कि बहुत से प्रौढ़ मनुष्यों को इन विषयो का सच्चा ज्ञान नहीं होता। और जो बातें वे कहें वे सच्ची हों ही यह कोई आवश्यक नहीं। यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि फ्रिटिज के लिए ईश्वर-विषयक समस्या और भी जटिल इसीलिए हो गई थी कि मां को ईश्वर में विश्वास नहीं था। वह नास्तिक थी। पर उसका पिता सर्वभूतात्मवादी था और

ईश्वर में विश्वास करता था। अतः दोनों ओर से दो परस्पर विरोधी बातों को सुनकर फ्रिटिज बड़ी उलझनमयी परिस्थितियों में पड़ जाता था। एक अवसर पर का वार्तालाप देखिए—

फ्रिटिज : पिता, सच में ईश्वर है ?

पिता : हां,

फ्रिटिज : पर माता तो कहती थी कि ईश्वर नहीं है।

इसी समय मा ने कमरे में प्रवेश किया और तुरन्त फ्रिटिज ने प्रश्न किया : मा : पिताजी तो कहते हैं ईश्वर सच है। क्या सचमुच ईश्वर है ? इस अवसर पर पिताजी ने यह कह कर स्थिति सम्भालने का प्रयत्न किया कि देखो फ्रिटिज, बात यह है कि ईश्वर को किसी ने देखा नहीं है। कुछ लोगों का विश्वास है कि वह है और कुछ लोगों का विश्वास है कि वह नहीं है। मेरा तो यह ख्याल है तुम तो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हो पर तुम्हारी मां नहीं करती।[3] इस पर फ्रिटिज ने कहा कि मैं भी ऐसा ही सोचता हूँ कि ईश्वर नहीं है। कुछ देर तक बालक के मन में इस बात की उधेड़बुन चलती रही। फिर उसने मां से प्रश्न किया कृपया यह बतलाइये कि यदि ईश्वर है तो क्या वह आकाश में रहता है। माता ने वही अपना पुराना उत्तर दिया जिसे सुन कर वह शीघ्र कहने लगा "परन्तु बिजली हवा गाड़ियाँ रेलगाड़ियाँ ये तो सच्ची हैं, मै दो बार इन पर बैठा हूँ एक बार अपने दादा के यहाँ जाने के समय दूसरी बार E के यहाँ से आती बार।

शेखर मे बालमनोविज्ञान

ऊपर उल्लिखित फ्रिटिज के शिशुकालीन जीवन के व्यवहार तथा जिज्ञासा अध्ययन के अल्पांश मात्र है और सो भी कोई क्रमिक रूप में उपस्थित नहीं किया गया है। वे स्वेच्छा से अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये यों ही जहा तहां से उठाकर रख दिये गये है। मेरा उद्देश्य यही देखना है कि मनोविश्लेषणवादियो ने जो शिशु मानस और अवचेतन प्रदेश के जिस विराट स्वरूप का उद्घाटन किया वह यहाँ तक हिन्दी साहित्य के कथाकारों की सृजन प्रतिभा को छू कर जागृत कर सका। अज्ञेय का शेखर हिन्दी का प्रथम उपन्यास है जिसमें शिशु मानस के सपनों को, फ्रायड के शब्दों में (Pleasure Principle) आनद-प्रधान जीवन की झाकियाँ को, उसके कौतूहल और जिज्ञासाओं को तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृतियाँ पर समाज तथा पिता माता के व्यवहार अथवा यों कहिए कि Reality Principle के संपर्क से उत्पन्न दमन को, मानसिक ग्रंथियों को तथा उसके जीवन व्यापी प्रभाव को कथा क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया गया है। शेखर के प्रथम भाग का अधिकाश शिशुमानस के विश्लेषण से पूर्ण है, उसकी क्रिया प्रक्रिया को, उसके मानसिक Process को पकड़ने की कोशिश की गई है। शेखर को फांसी

होने वाली है। प्रातः काल उसे फांसी दे दी जावेगी। इस घटना से उसके अतीत के कोने में दुबकी रहने वाली स्मृतियां उभर कर, बचपन की सारी स्मृतियाँ उसके मानस पटल पर आ गई हैं और शेखर मानों अपने अतीत मे पूरे भावावेश के साथ जी रहा है "स्मृतियां तो हैं, पर मुझे याद आते हैं वे भाव जो मैंने अनुभव किये हैं, वह विशेषतः मन स्थिति जिसे लेकर मैं किसी दृश्य मे भागी हुआ था और ये चित्र मैं खींचता हूँ ये उन्ही भावों, उन्हीं मन स्थितियों को लेकर उन पर निर्मित छाया मात्र है"।[४] -

मन के कोने में दबी स्मृतियां जिस तरह सम्मोहन की अवस्था मे या चित्त विश्लेषक की सूचनाओं के द्वारा अथवा किसी विशेष अवसर हर मुक्त आसंग (Free Association) पद्धति के सहारे चेतना में लाई जा सकती है उसी तरह मृत्यु को सम्मोहिनी शक्ति ने शेखर के अतीत जीवन को, विशेषतः बाल्यकालीन स्मृतियों को उभार कर सामने रख दिया है। अनेक मनोविकारग्रस्त रोगियों के अध्ययन तथा अनेक प्रयोग एवं परीक्षण निरीक्षण से बाद फ्रायड इस निर्णय पर पहुँचे कि हम सब विकारों का मूल जीवन के प्रारम्भिक एक दो वर्षों के भावात्मक जीवन तथा उसकी दमित प्रवृत्तियो में है। यदि किसी तरह प्रारम्भिक बाल स्मृतियों को जागरित किया जा सके और उस समय के भावों को जीवन में अपनाया जा सके अर्थात् फिर से बालक बना जा सके तो मनोविकार सदा के लिए दूर किए जा सकते हैं। पर यह असम्भव है कि पूर्ण रुपेण उस प्रारम्भिक शैशव काल को स्मृति पटल पर लाया जा सके। अधिक से अधिक यही सम्भव हो सकता है कि प्रथम एक दो वर्षों के वैविध्यपूर्ण और विविध भावसंकुल जीवनानुभूतियो के कुछेक टुकड़े ही बटोरे जा सकें। उन्हें अपनी सम्पूर्णता के साथ ला उपस्थित करना असम्भव बात के लिए प्रयत्न करना है। इस पर फ्रायड का कथन है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि शैशवकालीन स्मृतियो की पुनरावृत्ति पूर्ण समग्रता के साथ हो। वास्तविक उद्देश्य है उस भाव स्थिति को पकड़ना। दूसरी ओर सारी घटनाओ की बौद्धिक पर भावहीन स्मृति मात्र जगाई जा सके तो भी उससे कोई मानसिक शांति लाभ नही हो सकता।

शेखर या शेखर का कथाकार स्पष्ट शब्दो में कहता है कि भले ही अतीत जीवन अथवा शैशवास्था के सारे घटना चित्रों को वह साकार न कर सका हो पर उसमे इनकी मौलिक मानसिक भाव स्थितियाँ तो आ ही जाती हैं।

शेखर के प्रथम भाग के प्रथम और द्वितीय खण्ड पर यहाँ विचार होगा। पुराने अखबारों में शेखर ने युध्द से अनेक सिपाहियों के मारे जाने की बात सुनी है। उससे पहिले भी कुछ ऐसी बातें हो चुकी हैं जिनसे उसके हृदय में मृत्यु विषयक जिज्ञासा के भाव उत्पन्न हो गये हैं। एक दिन वह डूबते डूबते बचा है। इस पर लोगों की टिप्पणियाँ उसे सुनने को मिली हैं। शेखर अपनी बहिन सरस्वती से पूछता

है "मरते कैसे हैं ?" "मर जाते हैं और क्या ...... साँस बंद हो जाती है जब जान निकल जाती है।"

शेखर से उदाहरण

"जान आती कहाँ से है ?"

"ईश्वर से ?"

"जाती कहाँ है"

"ईश्वर के पास"

"ईश्वर ले लेता है।"

"हाँ"

शेखर ने सन्देह से कहा। थोड़ी देर बाद उसने फिर पूछा "इतनी सब जानें ईश्वर के पास गई होंगी।"

"हाँ"

"जर्मनी की भी ?"

"हाँ"

"सब शरीर भी ईश्वर बनाता है"

"हाँ।"

"सब कुछ ईश्वर कर सकता है ?"

"हाँ"

"तब लड़ाई भी ईश्वर ने कराई होगी"

"हाँ।"

तब यह कह कर शेखर रुक गया इसके बाद उसने सुना कि पंजाब में दंगा फसाद हो गया। स्टेशन जला दिया गया। गोली चली। फौजें आ रही हैं। पिता से पूछता है "पंजाब में भी लड़ाई होगी ?" पिता ने कहा "ऐसी बात नहीं कहते। अभी पहिले से तो छुट्टी मिल ले। पहिली कभी की खत्म हो गई पर इसका असर तो बाकी है। अभी चीजें इतनी महगी हैं" और शेखर ने उद्धत स्वर में कहा इससे क्या ? ईश्वर की मर्जी हुई तो और होगी ही। पिता ने घूर कर उसकी ओर देखा और कहा, भाग जाओ।

\+ \+ \+

वायसराय आते हैं, भूखे लोग उनसे अन्न की माग करते हैं। मंहगाई की शिकायत करते हैं पर वायसराय क्या कर सकता है ? इस पर शेखर पूछता है—

"ईश्वर कर सकता है ?"

'हाँ, ईश्वर सब कुछ कर सकता है।"

"मंहगाई भी उसने ही की है ?"

'हाँ अब भाग जाओ, अपनी पढ़ाई नहीं करनी।

शेखर के मुँह पर जो प्रश्न था वह भी उसके साथ ही भागा। क्यों?[६]

अपने परिवार के लोगों से शेखर देवी देवताओं की कहानियाँ पुराण गाथाएँ, ईश्वर की बड़ाई के छोटे मोटे दृष्टान्त सुनता है। इन्हें सुनते सुनते सोचता है कि यदि ईश्वर है तो मुझ पर प्रगट क्यो नहीं होता। या मै ही अयोग्य हूँ या कही ऐसा तो नहीं है कि ईश्वर है ही नहीं?

\+ \+ \+

अतिशय सुन्दर रजनी है। चन्द्रप्रदेश चन्द्रमा की रेशमी तारो पर से उतर कर सुन्दरता की देवी मानसबल पर इन्द्रजाल की चादर तान कर उसमें अपूर्व अनिवर्चनीयता को सृष्टि कर रही है। लहरो पर सुन्दरता बिछली पड़ती है। शेखर अपनी बहिन के साथ बाजरे की छत पर बैठा इस सौन्दर्यसुधा का छक कर पान कर रहा है और शेखर सोचता है कि ईश्वर नहीं है क्योंकि मूर्ख और लड़ाई कराने वाला कौन सा ईश्वर हो सकता है, जो इतनी सुन्दरता बना सके और यदि वह ईश्वर ने नही बनाई तो बाकी ससार ही क्यों उसकी कृति है![७]

\+ \+ \+

शेखर का सारा परिवार सजधज कर मंदिर में भवानी के दर्शन करने जा रहा है। शेखर चलता तो सबके आगे पर पिता की कठोर आज्ञा पाकर भी देव दर्शनार्थ नहीं ही गया। पूछने पर कहता है मैं ईश्वर को नहीं मानता। मैं प्रार्थना को नहीं मानता। ईश्वर झूठा है, ईश्वर नहीं है।[८]

\+ \+ \+

अपने भाई चन्द्र के जन्म के समय शेखर अपनी माँ से पूछता है "मां, यह कहां से आया? मां कहती है, दाई ने लाकर दिया है। वह दाई से पूछता है कि वह इतना छोटा क्यों लाई और कुछ बड़ा लाती। तब वह कहती है कि मै नहीं लाई वह तो डाक्टर आया था वह लाया। वही अपने बेग में रख कर लाया था। उसके बेग मे उससे बड़ा आया ही नहीं। कुछ दिन बाद अब वह अण्डो से बच्चे निकलते देखता है। उसके मन मे शंका होती है। आजमाने के लिए मां के पास जाकर पूछा "मां डाक्टर चिड़ियोंके पास भी जाते हैं।" मा ने कहा "नही तो क्यों।" "तब चिड़ियों के बच्चे कहाँ से आते हैं!" और फिर बहिन पूछता है ईश्वर अण्डे कैसे देता है। "वारिश के साथ बरसा देता होगा" एक दिन वह घोंसला देखता है जो खाली था। दूसरे दिन उसमें अण्डे मौजूद थे और रात में वारिश भी नहीं हुई थी। वह समझ गया कि सब झूठ बोलते हैं और इसके अन्दर भयानक प्रतिक्रिया होने लगी।

\+ \+ \+

अपनी बहिन के जन्म के अवसर पर तो मानो उसके मानस में एक भूकम्प ही आ गया। अपनी बहिन से उसने पूछा कि बच्चे कहाँ से आते हैं। पर साथ ही कहता है, दाई लाती है, डाक्टर लाता है, ईश्वर देता है यह सब मैं सुन चुका हूँ। यह मत बताना। यह सब झूठ है। मुझे पता है। बताओ अगर आते हैं तो इतने छिप-छिप कर क्यों आते हैं और हमें क्यो नही आते और माँ कहती थी कि हमें बच्चे नहीं चाहिए उनको क्यों आए ? उन्होंने क्यों नहीं वापिस कर दिये ? ईश्वर क्यों भेजा करता है ? मैं बहिन माँगा करता था, भाई क्यों आया ? चिड़ियों के बच्चे अण्डे मे से निकलते हैं, मैंने आप देखे हैं। माँ अण्डे तोड़ कर निकालती हैं ? अण्डे कहाँ से आते हैं ? अब बहिन आई है, इतनी रात को क्यों आई ? दिन में क्यों नहीं आई और हमे वहाँ क्यों नहीं जाने देते ? सब लोग झूठ बोलते हैं, बताओ तुम्हें पता है। इस बार उसकी बहिन कहती है कि माँ के शरीर से निकलता है। आश्चर्य से शेखर पूछता है "कहाँ से, कैसे।"

"मुझे नहीं पता" कह कर बहिन लेट जाती है और लाख बुलाने पर भी नहीं बोलती[१०]।

ऊपर की पंक्तियो में क्रिटिज और शेखर के ईश्वर और जन्म सम्बन्धी जिज्ञासा-मूलक प्रश्नों का उल्लेख किया गया है। दोनो को आमने-सामने रख कर पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा कि दोनों की मानसिक क्रिया-प्रक्रिया, शैशव व्यापार, वार्त्तालाप के ढंग मे कितना साम्य है। शेखर में आज जो विद्रोह की भावना भरी है, किसी खास बात के प्रति नहीं एतादृश्त्व के प्रति, उसका अहं भाव जो इतना प्रबल हो गया है, उसमे एक तरह से जो आत्मतल्लीनता की प्रवृत्ति पनप गई है उसका मूल कारण है उसकी पारिवारिक परिस्थितियाँ जिनके बीच उसके जीवन के प्रारम्भिक वर्ष व्यतीत हुए थे। माँ ने उसके प्रति अविश्वास के भाव प्रदर्शित किये थे। पिता ने उसे उसके छोटे-मोटे भोले भाले अपराधों के लिए पिटाई की थी और सब से बड़ी बात यह है कि किसी ने उसके साथ पूर्ण रूप से इमानदारी का व्यवहार नहीं किया था। सबों ने उससे बातें गोपनीय रखी थीं। सबों ने उसके प्रति अरे-बालक है—क्या समझेगा वाली मनोवृत्ति से काम लेकर उसकी बालसुलभ सहज बुद्धि का निरादर किया था।

मनोविश्लेषणवादी अनेकानेक शिशुओं के अध्ययन के पश्चात् इस निर्णय पर पहुँचे कि ३ वर्ष या उससे भी कम अवस्था वाले बालक का मानस इतना विकसित हो जाता है कि जो बातें उन्हें समझाई जावें वे समझ लेते है और यह अवस्था मनोविश्लेषणिक जाँच के लिए सर्वोत्तम है क्योंकि बाद में तो लालन-पालन के दोषों के कारण बालक में प्रतिरोध प्रवेश कर जाते हैं जिनसे उन्हें मुक्त करना कठिन हो जाता है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि शेखर का चित्त विश्लेषण जब प्रारम्भ होता है उस समय उसकी वयस तीन वर्ष की है। शेखर के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की

अवस्था का चुनाव मनोविश्लेषण वादियों में मतानुसार ही है विशेषतः Melamia Klein के जिन्होंने फिटिज का अध्ययन किया है।

फ्रायड ने पारिवारिक रोमान्स Family Romance का जो चित्र उपस्थित किया है, पिता के पुत्री के प्रति, भाई का बहिन के प्रति, माता का पुत्र के प्रति यौन भाव का आकर्षण होना, माता पिता के यौन प्रणय व्यापार को देख लेने की बालक में उत्सुकता होनी और उसे देख लेने में सफल होना, इनकी मानसिक प्रतिक्रिया इत्यादि का सुन्दर और कलात्मक वर्णन शेखर से बढ़ कर और कहाँ पाया जाता है। जब वह फाँसी के तख्ते पर झूलने जा रहा है उस समय भी सर्व प्रथम शशि की याद आती है और शेखर के अंत तक रहती है। पर सरस्वती, शारदा, शीला इत्यादि का प्रभाव भी उसके चरित्र निर्माण में कम नहीं है। भाइयों की चर्चा शायद ही कहीं हो। शेखर यदि चोरी करने लगता है, स्कूल में उद्दण्ड होने लगता है, अपने मास्टर के साथ अविनयी हो जाता है सब का मूल है उसके प्रति माता पिता या घर के व्यक्तियों द्वारा किए गए त्रुटिपूर्ण व्यवहार। उदाहरण के लिए जब जन्म मरण तथा ईश्वर सम्बन्धी बातों के उत्तर में उसके साथ असत्यता का व्यवहार होता है तो वह ऊपर से सीधा सादा बनता अवश्य है पर अन्दर ही अन्दर चोरी करने लगता है पिता की जेब से पैसे निकाल लेता है अथवा मिठाई चुरा कर खाने लगता है।

बहुत हो गया कहाँ तक उदाहरण दिए जाँय। मालूम तो ऐसा ही होता है कि बाल मनोविज्ञान और चित्त विश्लेषणवादी बाल मानोविज्ञान को कथात्मक और सृजनात्मक रूप देने का प्रयत्न ही में शेखर का निर्माण हुआ है। फाँसी ही मानो चित्त विश्लेषण करने वाला डाक्टर है, कोठरी ही क्लिनीक है वहाँ फाँसी ने शेखर के साथ ऐसी आत्मीयता का वातावरण स्थापित किया है कि उसके चित्त पर पड़े सारे प्रतिरोध की पर्तें झड़ गई हैं और वह अपने ऊपर पड़े सारे आवरणों को चीर कर अपने बाल जीवन उद्यान में प्रवेश कर वहाँ के दृश्यों को साफ-साफ देखने लग गया है। यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो स्पष्ट रूप से चित्त विश्लेषण के सिद्धान्तों की चर्चा होने लगी।

दमन का स्वास्थ्य पर प्रभाव

यों तो बहुत पहिले ही सबको मालूम था कि मानसिक विक्षोभ का प्रभाव हमारे स्वास्थ्य पर पड़ता है पर उस मानसिक विक्षोभ की वास्तविक क्रिया प्रक्रिया की ठीक से छानबीन करने का प्रथम व्यवस्थित प्रयत्न चित्त-विश्लेषणवाद ने किया है। शेखर की बहिन सरस्वती की शादी हो रही है। शेखर में कहीं भयानक उथल पुथल है। एक दिन उसके मुँह से निकल ही जाता है कि तुम कहीं क्यों नहीं किसी से शादी कर लेतीं? जिस रात को भाँवरे पड़ती हैं शेखर को १०३ डिग्री का बुखार है। आगे चलकर उसे निमोनिया हो जाता है इसका एक मात्र कारण यही है कि वह अपने

बहिन पर से अधिकार को छीना जाते देखकर उसका हृदय करुण क्रन्दन कर उठता है, उसे कहीं भी सहानुभूति सी नहीं मिलती। वह बिमार पड़ कर ही तो लोगों की सहानुभूति अपनी ओर खींचेगा।

शेखर (प्रथम भाग खण्ड प्रथम उषा और ईश्वर) के प्रथम तीन पन्ने जहाँ पर आकार मांस हीन पिण्ड वाला नवजात शिशु किस तरह अमिट छाप ग्रहण करने लगता है इसकी चर्चा के प्रसङ्ग में अहन्ता भय और सेक्स की भावना को सहज बताया गया है बाद की परिस्थितिजन्य व्यवहार से उत्पन्न नहीं। प्रवेश नामक खण्ड में (पृष्ठ ३६ तृतीय संस्करण) में मन के दो खंडो की चर्चा है जो घोर युद्ध कर रहे हों और चेतना पर राजत्व पाने के लिए लड़ रहे हैं "ऐसा भी होता है कि कभी किसी बात का प्रभाव बढ़ जाता है और कभी किसी किसी का और इसके फलस्वरूप मेरे कार्यों में प्रतिकूलता, एक असम्बद्धता आ जाती है जिसे मुझे बाह्य रूप में समझने वाले नहीं समझ सकते किंतु मेरे व्यक्तित्व में आकार एकीभूत हो जाती है, हल हो जाती है। कभी ऐसा भी होता है कि कभी किसी खंड की प्रधानता नहीं होती तब वे मन क्षेत्र के विभिन्न केन्द्रों पर अधिकार करते हैं और यदि हाथ एक के नियन्त्रण में होते हैं तो मुख दूसरे के या चेतना एक के तो शारीरिक परिचालन दूसरे के। तब मैं ऐसा ही दीखता हूँगा जैसी कोई मशीन जिसके पुर्जे उलझ गए हों किंतु जिसकी गति बन्द न हुई हो।"[११] कहना नहीं होगा कि मालूम होता है कि किसी चित्त विश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिक के कंठ स्वर में Neurosis को व्यवस्था की बातें की जा रही हो। उसी तरह ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पर पुत्र पर माता की या पुत्री पर पिता के प्रभावों की व्याख्या की गई है।

शेखर की मौसेरी बहिन की बात को छोड़िये। वह तो शेखर के जीवन रूपी तलवार को धार पर शान दे ही रही है। उसकी सगी बहिन सरस्वती भी न जाने कब 'सरस' हो जाती है। शारदा और शीला इत्यादि भी उसकी परिधि में आती है। माता और पिता की प्रणय-लीला को वह देख ही लेता है और सब सोचता समझता है। एक उदाहरण ले लीजिए हालांकि मैं जानता हूँ कि आप ऊब अवश्य रहे होंगे। बहिन को गाते सुनते सुनते एकाएक कोई अज्ञात भाव बालक के मन में जगता है। वह एकाएक उत्पन्न नहीं हुआ। कई दिनों से धीरे-धीरे उसके हृदय में अंकुरित हो रहा है, किंतु इसकी व्यञ्जनीय संपूर्णता नई है। आज ही मालाएँ पहिनाते समय और गायन सुनते समय उसके मानसिक क्षितिज के ऊपर आई है। एक अत्यन्त कोमल स्पर्श से बहिन को छू कर बालक कहता है "कितनी अच्छी लगती हो तुम। उसकी शब्दावली में सुन्दर और असुन्दर, अच्छे बुरे, सत्य असत्य, के लिए अलग अलग संज्ञायें नहीं है' वह अबोध बालक है। पर सत्यं शिवं सुन्दरम के तथ्य को भली भाँति समझता

है। इसीलिए अपने हृदय के अप्रस्फुट को व्यक्त करने के लिए यही कर पाता है, कितनी अच्छी लगती हो तुम!

"और बहिन भी उसे समझती है। वह फिर हँसती है और बहुत क्षीण सी लज्जा से अधिक सुन्दर हो उठती है और मुँह फेर कर पानी में देखने लगती है।[१२]

अज्ञेय में मनोवैज्ञानिक नियतिवाद (साइकिक डेटरमिनिज्म)

शेखर के लेखक का कहानी संग्रह है कोठरी की बात, इस में सात मौलिक क्रांतिकारी कहानियाँ संग्रहीत हैं। इसकी अंतिम कहानी है कोठरी की बात जिसके नाम पर इस संग्रह का नामकरण किया गया है। इसमे इस बातकी सूचना मिलती है कि इस कहानी के प्रति लेखक के हृदय मे उत्तमता के भाव है। वह समझता है कि यह अन्य कहानियों से अधिक सफल कहानी है तभी तो इसी के नाम से संग्रह को अभिहित किया है। इस कहानी में जेल की कोठरी ने स्वयं अपने मुख से दो तीन नवयुवकों के विषय में अपने अनुभवो का वर्णन किया। है तो वह पत्थर की कोठरी ही पर उसमें ऐसी शक्ति है कि वह आत्माओं को पढ़ सकती है, जो उसके पास आता है उसे आर पार देखकर पढ़ और समझ लेती है। उसके यहाँ न जाने कितने आये जिन्हें दुनियाँ प्राणों को तुच्छ समझने वाला वीर कहती है पर आर पार देखने वाली कोठरी अपना निर्णय देती है कि अरे इसके लिये प्राणों का जो मूल्य नहीं है वह वीरोचित उपेक्षा के कारण नहीं किसी गूढ़ अक्षमता के कारण, जीवनी शक्ति के किसी भीतरी उपघात (Paralysis) के कारण है।[१३] एक और आते हैं जिनकी चिताओं पर दुनिया हर वर्ष मेला लगाना पसन्द करेगी। पर कोठरी उसकी आत्मा को (X Ray) की किरणों से देख कर कहेगी कि उसे भूल जाना ही उसका सबसे बड़ा पुरस्कार है, उसको याद रखना उसका सबसे बड़ा दण्ड है।[१४] इसी तरह और लोग आते हैं और लोगों की श्रद्धा लेकर, पूजा लेकर, आदर भाव लेकर। पर यह कोठरी निर्मम रूप से उनका आवरण हटा कर उनके सच्चे स्वरूप का दिग्दर्शन करा देती है और हमारी मान्यताओ को झकझोर देती है। हमारा उनमे यहाँ अधिक मतलब नहीं हालांकि इन प्रसंगों से भी यही प्रमाणित होता है हिन्दी का कथा साहित्य वर्णनात्मक कथक्कडी और बहिर्मुखी प्रवृति का परित्याग कर चुका है और व्यक्तित्व की गहराई की ओर उसने प्रयाण किया है। हमारा मतलब सुशील नामक व्यक्ति से है जो विद्रोही है तो इसलिये है कि इसके सिवाय उसके लिये दूसरा चारा नहीं था। इसलिये नहीं कि इससे उसका देश का लाभ है। विद्रोह से देश का लाभ हो तो अच्छा ही है पर इसके लिये उसने यह मार्ग ग्रहण नहीं किया है। वह उस पथ का पथिक इसलिये हुआ है कि यह उसकी प्रवृत्ति की माँग है, उसी में उसकी जीवनी शक्ति की निष्पत्ति है इस तरह के चरित्र चित्रण में या चरित्र विश्ले

षण मे फ्रायड के मनोवैज्ञानिक नियतिवाद (Psychic Determinism) का कण्ठ स्वर है। सुशील के व्यक्तित्व का जिस तरह का विकास दिखलाया गया है उसमें फ्रायडियन मनोविज्ञान का मनोवैज्ञानिक नियतिवाद (Psychic Determinism) पूर्ण रूपेण काम कर रहा है। सुशील में भी शेखर में भी। कारण कि सुशील शेखर का ही छोटा लघु रूप है, बीज है जिसने आगे चलकर शेखर का विकसित रूप धारण कर लिया है। मेरे जानते जिस समय अज्ञेय की कोठरी सुशील को अपनी पारदर्शक दृष्टि से देख रही थी तो वहीं पर कहीं शेखर के के व्यक्तित्व का भी पौधा अंकुरित होने लगा था।

फ्रायड का यह मनोवैज्ञानिक नियतिवाद (Psychic Determinism) क्या है इसे भी यहाँ समझ लेना आवश्यक है। प्रकृति में घटने वाली प्रत्येक घटना कारण कार्य की शृंखला में बँधी है। प्रत्येक कार्य अपने कारणों का ही परिणाम है इस सिद्धान्त में विश्वास करने वाले मतवाद को नियतिवाद डिटरीमिन्जिम (Determinism) कहते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि संसार की सारी घटनायें नियत होती है, उनका रूप पहिले से ही निश्चित रहता है, अपने पूर्ववर्ती कारणों मे निहित रहता है। आपने एक विशिष्ट प्रकार का बीज जमीन में बो दिया। अपने सहायक कारणो अर्थात् भूमि-गर्भ की ऊष्णता, जल की आद्रता, वायु और सूर्य रश्मि का स्पर्श पाकर वह वट वृक्ष के रूप में ही विकसित होगा। अन्यथा नहीं कारण कि ऐसा होना नियत डिटरमिंड (Determined) था। कोई घटना आकस्मिक नहीं होती। सायोगिक नहीं होती, (by chance) नहीं होती। स्वतन्त्र इच्छा free will नामक कोई वस्तु नहीं। जो कुछ हो रहा है वह होने के लिए बाध्य है। नियत है। फ्रायड उस नियतिवाद (Determinism) का पूर्ण समर्थक था। उसने कभी विश्वास नहीं किया कि कोई घटना योंही हो जाती है अथवा मानव की स्वतंत्र इच्छा free will ने उसके वर्त्तमान रूप-विधान में योग दिया है। मानव जीवन पर दृष्टिपात किया जाय और उसके महत्वपूर्ण निश्चयों पर विचार पूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि उसने जितने महत्त्व पूर्वक तथा क्रांतिकारी पद उठाये हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि उसने शांत चित्त से बैठ कर उसके पूर्वापर सब परिणामों पर बुद्धि पूर्वक विचार किया है। नहीं, ऐसी बात नहीं। यदि वह किसी ओर चल पड़ा है, आग और पानी की भयंकरता को ललकारने लगा है, 'सागर को बाँधने और हिमगिरि को हिलाने के लिए व्याकुल हो गया है तो मानो कोई आंतरिक वेग, कोई आभ्यन्तरिक प्रबल हेतु उसको उसके लिए प्रेरित कर रहा था, अंदर से ठेल रहा था। वह उसके लिए विवश था। अपने पर मानो उसका नियत्रंण नहीं था। कोई आंतरिक प्रबल उद्वेग उसे किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बेताब कर रखा था। प्रत्येक कार्य किसी

न किसी उद्देश्य से प्रेरित होता है। सब का लक्ष्य एक होता है। यदि उस उद्देश्य या लक्ष्य का ज्ञान हमारे चेतन मस्तिष्क को नहीं हो तो वह अचेतन में स्थिर हो कर ही हमे अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है। हमारे बोलचाल की भूलें जिन्हें हम (slips of tongues) कह कर छुटकारा पा लेते हैं अथवा कोई अप्रत्याशित घटना जिन्हें (Accident) कह कर टाल देते है वे क्या सचमुच जीभ की फिसलन या दैवसंयोग मात्र ही है ? नहीं, उनकी उत्पत्ति किसी विशेष उद्देश्य से हुई है, अभीष्ट साधकता ही इनका वास्तविक रूप है। ये अपने अभीष्ट की सिद्धि में सफल भले न हो सकें पर चेतन मानस की वर्त्तमान प्रक्रिया में हस्तात्क्षेप करके, उसमे विघ्न बाधा उपस्थित कर घटना क्रम में अप्रत्याशित मोड़ की सृष्टि तो कर ही देते हैं अर्थात् ऐसी घटनायें उपस्थित हो जाती हैं जिनकी कल्पना भी नहीं की जाती थी। मसलन आप किसी सभा में गए और वहाँ उपस्थित किसी प्रस्ताव के समर्थन में आपको बोलना पड़ा पर आप बोल गए उसके विपक्ष में। अथवा आप किसी से मिलने गए और उससे हाथ मिलाकर अभिवादन प्रत्याभिवादन करते आपकी कलम को नोक उसकी देह में गड़ गई। यह अनहोनी घटनायें सीधी सादी निरीह तथा संयोगिक भले ही दीख पड़ें पर इनके पीछे आपके अचेतन मे एक प्रयत्न साधित षडयंत्र है जिसके प्रभाव में आकर आपको प्रस्ताव का विरोध करना पड़ा अथवा अपने मित्र का अनिष्ट करना पड़ा। आप इसके लिए विवश थे। आपको कोई दूसरा चारा नहीं था क्योंकि आपकी सारी क्रियायें नियत (Determined) थी। यदि आपका चित्त विश्लेषण (Psycho Analysis) किया जाए तो उन कारणों का ठीक ठीक पता भी लगाया जा सकता है जिनके परिणाम स्वरूप आपकी इस वर्त्तमान अद्भुत क्रिया की सृष्टि हुई। कारण तो यो अनेकों हो सकते हैं पर बहुधा इन कारणो का मूल आपके शैशव के प्रथम कुछ वर्षों में निर्मित मानसिक ग्रन्थियों में पाया जायगा उदाहरणार्थ (Oedipus Complex) में।[१५]

फ्रायड के नियतिवाद के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में उसके बाल्यकालीन मानसिक ग्रन्थियो का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है जो कुछ घटना विशेषों के कारण उसके मानस में बैठ जाती हैं। इन सब घटनाओं का वर्णन करना तो सम्भव नहीं पर इतना ही यहाँ कहा जा सकता है कि बालक की काम मूलक प्रवृत्तियों के साथ अनावश्यक और अनुचित हस्तक्षेप के कारण उसके मानस में इन ग्रंथियों का निर्माण हो जाया करता है। उदाहरणार्थ बालक के अपने माता पिता के यौन व्यापारिक सम्बन्ध का संस्कार बाल्यमन पर बहुमुखी पड़ता है और ये ही संस्कार उसके अंतर्मन अथवा अचेतन की गहराई में बैठकर उसके व्यक्तित्व को एक विशिष्ट ढङ्ग से प्रेरित करते रहते हैं वह विश्व विजयी बने, महान बने, कवि बने, विद्रोही बने

कुछ भी बने उसके निर्माण के नियतत्व की रूप रेखा इनके द्वारा पहिले ही निश्चित हो गई रहती है।

कोठरी की बात मे मनोवैज्ञानिक नियतिवाद

कोठरी की बात नामक लम्बी कहानी मे कोठरी अपनी दिव्य और पारदर्शक दृष्टि के द्वारा उन सब घटनाओं को देख लेती है जिनके हाथो में पड़कर विद्रोह सुशील के जीवन का स्वाभाविक अंश हो गया है। वह विद्रोही है तो इसका कारण यह नहीं कि उससे देश का लाभ होता है परन्तु यह उसकी प्रवृति की आंतरिक माँग है। यही उसकी जीवनी शक्ति की निष्पत्ति है अर्थात् फ्रायड के शब्दों में यह विद्रोह उसके मनोविज्ञान में पूर्व निश्चित है। विद्रोह की प्रेरणा आती है, कोठरी के शब्दों में, घरों से, माता पिता से और उनकी परिस्थिति से, उनके समाज की उनसे मिलने वाली या बहुधा न मिलने वाली स्त्रियो से विशेषतः उनकी बहिनों से......... मैं अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखती हूँ उसके जीवन के कुछ एक दिन, कुछ एक क्षण ....एक वह क्षण जिसमें उसकी विस्फारित आँखें रात में दिये के प्रकाश मे उसके माता पिता के बीच के एक छोटे से अत्यन्त प्राचीन अत्यन्त साधारण किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण और गोपनीय दृश्य को देखती है अच्छी आँखें क्योकि मन के पट पर जो कुछ लिखती है मन उसे पढ़ नहीं पाता.........वह लिखावट उसी भाँति मन के एक कोने में पड़ी रहती है जैसे किसी पुरातत्ववेत्ता के दफ़र में कोई ताम्रपट जिसकी लिपि से वह अभ्यस्त नहीं है और जिसे किसी दिन वह एक कोष की और अन्य लिपियों की सहायता से पढ़ लेता है... .....फिर वह एक क्षण जब वह और उसकी वह बहिन पास पास लेटे हुए किसी विचार से निमग्न है शायद अपने उस सभी तत्व के पवित्र रहस्यमय सुख में और जब उसके पिता यकायक आकर उसे उठा देते हैं, फटकारते हैं कि वह अपनी बहिन के पास क्यों लेटा है ....आगे चलकर कोठरी कहती है.....पर ये तीन क्षण ही प्रखर प्रकाशक हैं। किसी व्यक्ति का इतना जीवन देख कर ही उसके जीवन का इतिहास मैं लिख सकती हूँ। उसके जीवन की घटनाओं का नहीं, समूचे जीवन का, उसकी प्रगति का मानसिक प्रेरणाओ का, उसके उद्देश्य का......।[१६]

शेखर सुशील का ही विकसित रूप है जिसका मनोविश्लेषण कोठरी ने किया है और मैं यह कहना चाहूँगा कि कोठरी निर्जीव प्राणी क्या उसकी क्षमता जो इतनी लम्बी चौड़ी बातें कर सके। यह तो फ्रायड की आत्मा है जो कोठरी में बैठी बोल रही है। एक लोक प्रचलित कहानी स्मृत हो आई जिसे अपने गाँव के बाल्य-कालीन मित्र के मुख से अभी हाल में ही सुनने का अवसर मिला है। एक मेमना कोठे की छत पर बैठा था कि नीचे से एक भेड़िया आता दृष्टिगोचर हुआ मेमना बड़ी ही

निश्शंकता से और अपमान सूचक शब्दों में कहने लगा "अरे भेड़िया। अरे भेड़िया। कहाँ जा रहा है रे ? भेड़िया बेचारा जवाब दे तो क्या। उसने कहा देखो यह तुम नहीं बोल रहे हो। बोल रहा है कोठा। जरा कोठे की छत पर से उतर कर आओ तो बतलाऊँ कि कहाँ जा रहा हूँ।" उसी तरह कहा जा सकता है कि जिस प्रदेश की ओर देखने का साहस देवकी-नन्दन खत्री के यार नहीं कर सके, किशोरीलाल गोस्वामी की रंगीन मिजाजी तथा विलास मूलक वासनायें जिनका स्पर्श नहीं कर सकी, गहमरी जी के जासूस अपनी सारी चातुरी के बावजूद भी जिसका रहस्योद्घाटन नहीं कर सके। प्रेमचन्द जी ने उपन्यास में आधुनिक युग की समस्या को सामना करने का अपूर्व बल का संचार तो किया सही पर जिस रहस्य कूप के तट पर झाँक कर ही लौट आए, अतल गहराई में उतरने का साहस नहीं किया उसी रहस्य का उद्घाटन अज्ञेय की कोठरी कितने साहस के साथ निःसंकोच कर रही है। यदि फ्रायड के चित्त-विश्लेषण मनो-विज्ञान ने इसके लिए वातावरण तैयार नहीं कर दिया होता तो यह बात कभी सम्भव थी ?

पाद टिप्पणियाँ

१. Contribution to Psycho-analysis 1921-45 by Melamia Klein, the Hogarth Press Ltd 1948

२. वही, Chapter Development of child, P. 16

३. वही, पृ० १८ ४. शेखर एक जीवनी, द्वितीय संस्करण १९४९

५. वही, पृ० ६० ६. वही पृ० ६४ ७. वही, पृ० ६७

८. वही, पृ० ६८ ९. वही, पृ० ६६ तथा १०७

१० वही, पृ० ११. वही, पृ० ११ १२ वही, पृ० ८७

१३. कोठरी की बात, द्वितीय संस्करण १९४६, पृ० १३६

१४. वही, पृ० १३७

१५ द्रष्टव्य Contemporary Schools of Psychology by R. Woodworth p. Eighth Edition, 1949, P. 172

१६. कोठरी की बात, द्वितीय संस्करण १९४६ पृ० १३९ ४०

कथात्मक शैली का पालन किया गया है जो अधिक मनोवैज्ञिक भार सक्षम नहीं है। श्री भगवतीचरण वर्मा पर भी यही बात लागू होती है। अज्ञेय और जैनेन्द्र में हम मनोवैज्ञानिक शैली का आग्रह अधिक पाते हैं। इनमें भी अज्ञेय विषय और शैली की मनोवैज्ञानिकता दोनों के उपयोग की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

मनोवैज्ञानिक टेकनीक :

शेखर एक जीवनी की पद्धति की विशेषता यह है कि इसमें कथा जीवन के अत्यन्त ही उच्च महत्वपूर्ण वर्तमान घटना के मेरु शिखर पर आसीन होकर कही गई है। मनुष्य के जीवन मे फाँसी के तख्ते से बढ़ कर महान और उच्च घटना हो ही क्या सकती है और वह भी वैसी फाँसी है जो देश भक्ति जैसे महान तथा पुण्य-मय कार्य के वरदान के रूप में प्राप्त हो? किसी ऊँचे स्थान पर से देखने में लाभ यह होता है कि चाक्षुष प्रतीति की सीमा अधिकाधिक विस्तृत हो जाती है तथा चित्र को सुसंगठित रूप मे उपस्थित करने मे उपयोगी दृश्यों के निर्वाचन का सुविधा अधिक रहती है अर्थात् उच्च स्थानासीन व्यक्ति अधिक से अधिक दूर की चीज को देख सकता है साथ ही अनेक छोटी मोटी चीजें जो चित्र के संगठित रूप की उपस्थिति में बाधा स्वरूप रहती हैं स्वयमेव दूर हो जाती हैं। यही कारण है कि शेखर को अपने हृदय की गहराई में बहुत दूर तक देखने के अवसर मिले हैं विशेषतः शिशुकालीन दृश्यो को जिनका मनुष्य के निर्माण में बड़ा हाथ होता है। जिन उपन्यासों के पैर जमीन की सतह पर ही स्थित हैं उनमें दृष्टि की यह सूक्ष्मता, गम्भीरता या कह लीजिये विस्तृति प्राप्त करने में कठिनाई ही रही है और रहा है उन असंगत बातों का बाहुल्य जिनकी उपस्थिति सम्पूर्ण और संतुलित चित्र के प्रगटीकरण में अपनी विरोधी सत्ता का प्रदर्शन करती है। जो लोग मूर्तता को कला की हीनता का कारण मानते हैं उनका यही तो कहना है कि काव्य कला के अतिरिक्त जितनी कलायें हैं उनकी स्थूल सामग्री अपनी भाव विरोधिनी सत्ता को प्रगट करती रहती है। परन्तु जिस उच्चस्थानासीन पद्धति का 'शेखर' ने आश्रय लिया है उसमें स्वाभाविक रूपेण इन असंगत और विरोधिनी सत्ताओ का ह्रास हो गया है। अश्क, भगवतीचरण वर्मा या यशपाल के उपन्यासों में बहुत सी घटनाओं का निर्देश किया जा सकता है जो उपन्यास के सम्पूर्ण चित्र के संगठन में योग तो क्या देंगी बाधा ही अधिक देती हैं। ये उपन्यास या इनके पात्र दुनियाँ की सतह पर चलते हैं। वास्तव में यह अंतर कुछ अंशों में भाव शक्ति (Emotional Force) का भी है। मानवीय वेदना और भावनाओं के चरमोत्कर्ष के महत्वपूर्ण क्षण को पूरी सजीवता के साथ उपस्थित करने की कला का इन लोगों में अभाव है जो प्रत्येक महान कलाकार की प्रवृत्ति में निहित होती है। इन लोगों के भाव ठंढे हैं अथवा इस गरमाई को पा नहीं सके जिसके कारण कला ज्योति से चमक उठती है ये मानवीय भावनाओं के तट पर

ही शानदार रूप से आकर्षक और प्रभावोत्पादक ढंग से तैरने वाले तैराक हैं पर नदी की गहराई में कभी नहीं उतरते। इनके पात्रों की वेदनायें उथली उथली सी लगती हैं, शरीर में खरोंच लगने की या पिन के चुभ जाने की हल्की टीस इनमें भले ही हो पर वे कभी भी जीवन के उन पत्थरो की दीवालों का सामना नहीं करते जिनसे टकराकर मनुष्य का हृदय चकनाचूर हो जाता है। इनके पात्रों के शरीर भले ही टूटते हों, सर भले ही फूटे जाते हों और उनसे चीत्कार भी निकलता हो पर गहराई से निकली वह आह नही जिसके सदमे से भावों की दुनियाँ हिलने लगे और उसमे भूचाल आ जाय। मेरे कहने का अर्थ यह है कि एक विशेष पद्धति के अवलम्बन के कारण से ही शेखर मे कुछ ऐसी विशेषताएँ आ गई हैं जो अन्यथा नहीं आ सकतीं थीं।

जब भारत परतन्त्र था और समय समय पर ब्रिटिश सरकार की ओर से शासन विधान मे परिवर्तन तथा परिशोधन के लिये कमीशन बैठते थे तो उस समय वादविवाद के सिलसिले में एक विचित्र तर्क सुनने को मिलता था। कहा जाता था कि शासन विधान चाहे कैसा भी हो यदि जनता सहयोग देगी और उसे कार्यान्वित (Work Out) करेगी तो वह सफल होगा। पर शासन विधान के निर्माताओं के सामने यह प्रश्न अधिक नहीं होना चाहिये कि जनता सहयोग देगी या नहीं। जनता यदि सहयोग देने को तैयार हो तो किसी प्रकार का विधान सफल हो सकता है। सच पूछिये तो उस समय विधान की आवश्यकता ही क्या है? जनता जैसा चाहेगी वैसा विधान बना लेगी। प्रश्न यह रहना चाहिये कि विधान अपने रूप के बल पर (Constitution Qua Constitution) जनता के सहयोग को कहाँ तक ले रहा है, उसका जनसहयोग-प्राप्ति मे कहाँ तक योगदान रहा है, जनता के प्रतिकूल रहते भी इस विधान के द्वारा उसका सहयोग कहाँ तक मिल रहा है। तभी तो विधान की सार्थकता है। इसी तरह ऊपर की पंक्तियो में शेखर के उद्दीप्त क्षणों के महल पर उच्चासीनता और अन्य उपन्यासों की सतह पर रहने की चर्चा को सुनकर कहा जा सकता है कि प्रतिभा के लिये कोई भी प्रतिबन्ध नहीं, वह किसी भी मिट्टी को छूकर सोना बना दे सकती है—ठीक है हमारा कथन इतना भर ही है कि इस प्रकार की टेकनीक के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की टेकनीक के प्रयोग से भी उपन्यास की मनोवैज्ञानिक गहराई बढ़ जाती है। हिन्दी में इस टेकनीक का और भी प्रयोग होना चाहिये। हिन्दी मे इस टेकनीक का अर्थात् किसी विशिष्ट उद्दीप्त तथा व्यक्ति को अन्दर से उभार कर रख देने वाले क्षण के आवेग से प्रभावित आत्म निरीक्षण वाली पद्धति का और भी प्रयोग होना चाहिये। मैं बड़ी उत्सुकता से वह दिन देख रहा हूँ जब कि कोई उपन्यासकार सैंट हेलेना—द्वीप में बंदी नेपोलियन या चर्चिल के जेल में पड़े हिटलर या मुसोलिनी की आत्म निरीक्षण के मार्ग से एक ऐतिहासिक उपन्यास की रचना करें।

सीमित दृष्टिकोण तथा समकत्रय

किसी विशिष्ट तथा उद्दीप्त क्षण की ऊँचाई पर से विगत जीवन के सिंहावलोकन, जैसा कि शेखर में किया गया है, के साथ कथा को किसी एक पात्र या हो तो एकाधिक पात्रों के आत्म निरीक्षण के रूप में उपस्थित करने की प्रवृति आ ही जाती है और परिणाम यह होता है कि कथा की गति एक निश्चित दृष्टिकोण से मर्यादित होकर तीव्रतर और प्रखर हो उठती है। शेखर में जो कुछ भी है वह शेखर को लेकर है उसके विचारो की छाप उन पर स्पष्ट है। अतः शेखर के मनोविज्ञान पर उनके द्वारा अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। असल मे देखा जाय तो यह नाटक के समकत्रय (Unities) वाले सिद्धांत का ही किंचित परिवर्तित रूप है।

यूरोप और अमेरिका मे इस तरह के उपन्यासों की एक परम्परा सी ही रही है। जब से वहाँ की उपन्यास कला में थोड़ी प्रौढ़ता आई है, वह कथकड़ी प्रवृत्ति से आगे बढ़कर जीवन की गहराई में उतरने का उपक्रम करने लगी है तब से उपन्यासो मे नाटकीय प्रवृति का विकास होने लगा है अर्थात् उपन्यास नाटक के क्षेत्र मे पदार्पण करने लगा है। दूसरे शब्दों में उपन्यास कला अपनी बड़ी बहिन नाट्यकला के घर से अस्त्रों को लाकर अपने अनुकूल बना उनका उपयोग करने लगी है। नाटक की कला वर्तमान है, उपन्यास की अतीत। नाटक की घटनायें रंगमच पर दर्शक की आँखों के सामने साक्षात् अभिनीत होती हैं। दर्शक उन्हें अपनी आँखों से देखता है, कानों से सुनता है, उसमें प्रत्यक्षता होती है, एक तात्कालिकता होती है। उपन्यास की घटनायें अतीत की कहानियाँ हैं, वे बीत चुकी हैं, वे हमसे दूर हैं, उनमें साक्षात दर्शनीयता नहीं, उनके रूप का दर्शन अपरागत है (Second Hand) है जो कल्पना के माध्यम से होकर निर्बल रूप में ही आ सकती हैं। नाटक देखते समय हम स्वयं वर्तमान में उपस्थित रहते हैं, उपन्यास में अतीत को वर्तमान बनाकर कल्पना लाती है। पर कल्पना कितनी भी प्रबल क्यों न हो वह इन्द्रिय ग्राह्य प्रतीतात्मक अनुभूतियों की तुलना नही कर सकती। यहाँ नाटक और उपन्यास कला की तुलना करना अभीष्ट नहीं। वास्तव में साधनसम्पन्नता की दृष्टि से नाटक उपन्यासों के सामने दरिद्र हैं; इसमें वर्णन तथा व्याख्या का स्थान नहीं, वहाँ-चरित्र चित्रण हो नहीं सकता; मनोवैज्ञानिकता प्रदर्शित की नहीं जा सकती, क्रिया कलापों के प्रदर्शन का क्षेत्र भी सीमित ही होता है। इस पर भी नाटकों में मनुष्यों के हृदय को अपील करने की जो क्षमता होती है वह उपन्यासों में कहाँ प्राप्त है? बुद्धि उपन्यास का साथ भले ही दें पर भावनायें नाटकों के पक्षसमर्थन में तत्पर रहती हैं और यह सब इसलिये कि नाटकों में वह चीज रहती है जिसे हम नाटकीय वर्तमानता Dramatic Presence) कहते हैं इसी एक अस्त्र को ललकार

२१

से उपन्यास की बढ़ती विजयवाहिनी में भगदड़ सी मच जाती है और नाटकों की सुकृत सेना[3] हारती भी जीत जाती है। अतः विजय के द्वार से लौटकर आई उपन्यास कला इस नाटकीय वर्तमानता (Dramatic Presence) वाले अस्त्र को साधन बना कर्मक्षेत्र में आकर नाटको से प्रतिस्पर्धा करती है और उपन्यासो मे ऐसी घटनाओं का समावेश करती है जो इस नाटकीय वर्तमान की योजना करें या इसमें अधिक से अधिक सहायक हो। नाटक मे तो नाटकीय वर्तमान की सत्ता बनाये रखने वाली वस्तु प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय ग्राह्य अभिनय की प्रतीतात्मक अनुभूति है। पर उपन्यासों में इसका प्रतिनिधित्व करने वाली कौन सी वस्तु है जिसके कारण यहाँ नाटकीय वर्तमान के भाव जागरित हों? इसके उत्तर मे प्रसिद्ध आलोचक जे० डब्ल्यू० बीच का कहना है कि उपन्यासों में आयोजित प्रज्वलित उद्दीप्त दृश्य ही नाटको की नाटकीय वर्तमानता की सजीवता के मनोवैज्ञानिक पर्यायवाची है जिसे हैनरी जेम्स ने (Selected discriminated occasion) कहा है।[4] प्राचीन ढग के उपन्यासो के पाठकों के मन में एक बात का अनुभव हुआ होगा कि उन्हें पढ़ते-पढ़ते वह एक ऐसी परिस्थिति में अवश्य पहुँच जाता है जहाँ उपन्यासकार के वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं। लेखक ने अपने पाठकों को ऐसे स्थान मे, ऐसे विशिष्ट समय में रमा कर खड़ा कर दिया है कि उपन्यास तथा उसके पात्र स्वयं क्रियाशील हो उठते हैं, स्वयं मुखरित हो उठते हैं। मानो हमारी आखों के सामने ही समस्या की गाँठ को खोल कर देख रहे हों, समस्या को हल कर रहे हों। इस समस्या का इतिहास भले ही पुराना हो, वह धीरे धीरे अन्दर ही अन्दर पक रही हो पर यह एक (Immediate issue) बनकर हमारे सामने ही अपनी समस्या का समाधान मांग रही है, संघर्ष प्रारम्भ हो गया है, वह हमारे चक्षुओ के सामने है। सहायक और विरोधिनी शक्तियाँ अपनी पूरी ताकत के साथ संलग्न हैं और अब तो कोई निर्णय कर ही लेना होगा। इसी स्थान पर और इसी समय। साक्षात् सन्निहितत्व (Immediate issue) की यही गुरुता, तकादा, निर्वाधिशयता उपन्यासों में नाटकों के गुणो का समावेश कर देती है। यही हमारी कल्पना को भुलावे में डालकर पाठको में ऐसा भ्रम पैदा कर देती है कि वह दर्शक की तरह वहाँ साक्षात् उपस्थित ही नहीं है पर वह नाटक के पात्र की तरह उसमें अभिनय भी कर रहा होता है।

यह तो हुई घटना की साक्षात सन्निहितत्व की योजना की बात जो क्रियाशीलता की माँग के कारण उपन्यासों में नाटकीयता का आयोजन करती है। परन्तु कुशल कथाकार इस प्रभाव को एक दूसरे प्रकार से भी ग्रहणीय बना सकता है। एक विशिष्ट अवसर पर अपने पात्रों की क्रियाशीलता का प्रदर्शन करके। पात्र में पाठक की दिलचस्पी इस तरह जग उठती है वह आगे चलकर इस गम्भीर अवसर पर

क्या कहेगा इसकी उत्सुकता इतनी बढ़ जाती है, हमारी कल्पना इतनी जागरित हो जाती है कि पाठक भूल जाता है कि वह काल्पनिक कहानी पढ़ रहा है और घटना के सामने स्वयं उपस्थित रहने का सुखद भ्रम उसमें पैदा हो जाता है। फाँसी के तख्ते की ऊँचाई से शेखर का अतीत जीवन दर्शन मे ही वह जादू है जो पाठकों को भुलावे के ससार में उपस्थित कर देता है।

शेखर मे स्थान की एकता तो स्वयमेव आ जाती है कारण कि एक ही स्थान पर जेल की कोठरी में इस अतीत दर्शन का कार्य साधित हुआ है। समय की एकता तो स्पष्ट ही है कारण कि लेखक के ही शब्दो मे यह घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए (Vision) को शब्द बद्ध करने का प्रयत्न है। परन्तु शेखर की नाटकीयता, यहाँ मनोवैज्ञानिकता कहिये, इसमें हैं कि सारी कहानी एक सीमित दृष्टिकोण अर्थात् शेखर के दृष्टिकोण से कही गई है। रंगमच के केन्द्र में शेखर चट्टान की तरह खड़ा है। जो कुछ हो रहा है वह शेखर को ही लेकर है, बीच मे कहीं एक दो पात्र आ भी गये हैं तो शेखर के व्यक्तित्व को स्पष्टता देने के लिये ही है। साधारणतः कथा की तरह कहे जाने वाले उपन्यासों के पढ़ने के समय भी पाठक में अधिक देर तक सम्पर्क में रहने वाले पात्र के साथ अनन्यता के भाव स्थापित कर लेने की, उसके साथ अभेद स्थापन की प्रवृति स्वाभाविक होती है। ठीक उसी तरह जैसे बच्चे परियों की कहानी में वर्णित नायक राजकुमार से झट से अपनापन का नाता जोड़ लेते हैं। शेखर में पाठक जो कुछ देखता है शेखर की आँखों से, उसके दृष्टिकोण से पाठकों में सहानुभूति उत्पन्न होती है, उपन्यास की सारी घटनाएँ शेखर के भाव केंद्र के चारों ओर घूमती रहती हैं, आशा निराशामय उत्सुकता आतुरता के कारण उनसे वह सम्बद्ध है अर्थात पाठक के लिये वह सारे उपन्यास का व्याख्याकार हो जाता है। सचमुच एक सीमित दृष्टिकोण के फोक्स में लाकर उपन्यास का संगठित चित्र उपस्थित करना शेखर की एक टेकनिकल विजय है।

नदी के द्वीप मे टेकनीक का विकाश

टेकनीक के विचार से 'नदी के द्वीप' में शेखर की सीमित दृष्टिकोण वाली पद्धति का अधिक विकसित रूप देखा जा सकता है। दोनों में कथा का उद्‌घाटन सीमित दृष्टिकोण से ही हुआ है। पर जहाँ शेखर मे केवल एक पात्र के चेतना मार्ग से कथा की गंगा प्रवाहित हुई है वहां नदी के द्वीप में चार पात्रों के हृदय से होकर बहती धाराओं से सम्मिलित होती हुई अपने में अधिक वैविध्य और आढ्यता लाती हुई चार धाराओं में प्रवाहित होती है। नदी के द्वीप में चार पात्र हैं। भुवन, गौरा, रेखा, चन्द्रमाधव। ११ परिच्छेदों में यह उपन्यास विभाजित है, हर एक पात्र के लिये कुछ अन्तर डाल कर दो परिच्छेद दिये गये हैं जिससे एक विशेष पात्र के

दृष्टिकोण से कथा अग्रसर होती है। तीन या चार परिच्छेदों के बाद दो अन्तराल हैं जिनमें कथा को अग्रसर होने के लिये चारों पात्रों के दृष्टिकोण का सहारा मिला है। इनमें कथा इन चारों के पत्र व्यवहार के रूप में कही गयी है। अंत मे उपसंहार शीर्षक एक अलग परिच्छेद तो नहीं है पर जिस रूप मे दूसरे पन्ने में थोड़ा रिक्त स्थान छोड़कर कथा कही गयी है उसमे लेखक का मंतव्य स्पष्ट है। इसी से मिलती जुलती टेकनीक का प्रयोग श्री इलाचन्द जोशी जी ने अपने उपन्यास 'पर्दे की रानी' मे किया है। यहाँ पर दो ही पात्रों के दृष्टिकोण से कहानी कही गयी है शीला और निरंजना। प्रथम भाग शीला की कहानी ४ परिच्छेद, दूसरा भाग निरंजना की कहानी १२ परिच्छेद। तीसरा भाग शीला की कहानी ६ परिच्छेद, चौथा भाग निरंजना की कहानी १० परिच्छेद। ध्यान देने की बात है कि ३२ परिच्छेदों में २२ परिच्छेद निरंजना की कहानी अर्थात् निरंजना के दृष्टिकोण से कही कहानी से घिरे हुए हैं कारण कि निरंजना ही इस उपन्यास की प्रधान पात्री (Heroine) है। वास्तव में देखा जाय तो प्रेमचंद के बाद के उपन्यास जिनमे मानवीय चेतना को अधिक गहराई से पकड़ने का प्रयत्न किया है सब में दृष्टिकोण की एक सीमा से हो एक विशेष फोकस मे लाकर ही कथा कही गयी है चाहे वे दृष्टिकोण विविध (Multiple) भले ही हो पर है वह सीमित ही। शेखर, नदी के द्वीप, पर्दे की रानी, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, व्यतीत इत्यादि इसी सीमित दृष्टिकोण से लिखित उपन्यासों की श्रेणी में आयेंगे। शेखर और नदी के द्वीप की टेकनीक को हम एक रूपक के सहारे समझ सकते हैं। हमारे स्नानगृह में दो तरह के पानी के कल लगे रहते हैं; एक में पानी की बड़ी मोटी धारा निस्सृत होती है और दूसरे में एक फव्वारे के रूप में छोटी-छोटी अनेक धाराओं का सम्मेलन रहता है। प्रथम की समता में 'शेखर' है और दूसरे की समता में 'नदी के द्वीप'। दोनों के नीचे हम बैठकर स्नान कर स्फूर्ति की अनुभूति प्राप्त करते हैं। पर फव्वारे की तेज धाराओं के हलके दबावों के नीचे बैठकर जो शारीरिक और मानसिक आनन्दानुभूति होती है वह किस अनुभवी व्यक्ति को ज्ञात नहीं? हमारी एक एक शिरा प्रदीप्त हो उठती है और हम एक नया जीवन ही ले स्नानगृह से निकलते हैं। 'नदी के द्वीप' में चार पात्रों की विचार धारायें ही उपन्यास रूपी फव्वारे की चार धारायें है और बीच में अन्तराल नाम की धारा एक तटस्थ व्यक्ति उपन्यासकार के दृष्टिकोण को उपस्थित करती है।

नदी के द्वीप के दृष्टिकोण का महत्व

'नदी के द्वीप' में चार पात्रों के दृष्टिकोण की सीमा से कथा को उपस्थित करने की जो मनोवैज्ञानिक पद्धति अपनाई गई है उसके द्वारा उपन्यास की श्रीवृद्धि किस प्रकार हुई है, उसमें पाठकों की सौंदर्यमूलक रुचि को कहाँ तक तृप्ति त

संतोष प्राप्त होता है, उपन्यास मे कौन सा चमत्कार आ गया है इस प्रश्न पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिये। अंतिम विश्लेषण मे उपन्यास एक कहानी है उसमें कहानी के तत्व को वर्तमान रहना आवश्यक है। हाँ, उस कहानी को पाठकों के सामने इस ढग से उपस्थित किया जाय इस कि कला में विकास हो सके यही मुख्य प्रश्न है। एक साधारण उपन्यास लेखक भी यह जानता है कि संदेह, अनिश्चय, द्विविधा, कौतूहल, असमंजस इत्यादि उपन्यास के प्राण-तत्व हैं अर्थात् एक चतुर उपन्यासकार अपनी कथा की योजना (इस ढग से करता है कि पाठकों में सदा कौतूहल जागृत रहे: उसे सदा संशय बना रहे कि ऊँट किस करवट बैठता है, घटना कौन सा रूप लेती है। 'नदी के द्वीप' के चारों पात्रों का दृष्टिकोण पृथक पृथक है प्रत्येक अपने अपने दृष्टि-कोण से घटनाओं का पर्यवेक्षण करता चलता है, प्रत्येक अपने दृष्टिकोण की विचित्रता के कारण घटना प्रवाह के उस अश को देखता है जो दूसरे पात्र नहीं देख सकते। प्रत्येक द्वारा घटना के विशेष अग पर ही प्रकाश पड़ता है और बृहद्भाग अन्धकारमय ही रहता है जिसे आगे चलकर दूसरे पात्रो की किरण उद्भासित करती है। इस तरह कथा का रहस्य क्रमशः क्रमशः खुलता जाता है यथासमय, यथास्थान, यथारीति अर्थात् उचित स्थान पर, उचित समय पर, उचित ढंग से। न इधर, न उधर। सब व्यवस्थापूर्वक। अतः 'नदी के द्वीप' के चार दृष्टिकोणों की सीमा में कथा को घेर देने से उपन्यास मे एक विचित्र व्यवस्था, नियम और संगठन की योजना सम्भव हो सकी है और यह उपन्यास हिंदी का एक अत्यन्त गठित और सौष्ठव युक्त उपन्यास हो सका है। इस उपन्यास के शिल्प का जहाँ तक प्रश्न है अज्ञेय कुछ कुछ उसी ऊँचाई तथा गम्भीरता तक उठ सके हैं जिसको प्रेमचन्द ने अपने टेकनीक के क्षेत्र में प्राप्त किया था।

उपन्यासकार की कल्पना एक खेल दिखाने वाले ऐन्द्रजालिक के रूप में कीजिये जिसके सारे सूत्रों के संचालन पर उसका पूरा नियंत्रण होना चाहिये। ऐसी व्यवस्था के अभाव मे वह अपने खेल को सफलतापूर्वक दिखलाने में समर्थ नहीं हो सकेगा, वह दर्शकों की नजरो को इस तरह बाँध न सकेगा कि वे हथेली पर उसके उगाये हुये पौधो को असदिग्ध रूप मे मान लें। उपन्यासकार को भी अपने इन्द्रजाल के सूत्रो पर पूरा अधिकार होना चाहिये कि वह अपने इच्छानुसार जब चाहे जितनी मात्रा मे हिला डुला सके। वह स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिये कि वह कथा का उतना ही अंश सामने आने दे जितना वह उस समय चाहता है और शेप अंशों को यथा समय उद्घाटित करता रहे। अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये 'नदी के द्वीप' में उपन्या-सकार विशेष अवसर पर भुवन की दृष्टि से देखता है। परिस्थितियो का वही टुकड़ा सामने आता है जिसे भुवन देखता है। भुवन के अनुराग विराग की किरणें ही उस

स्थान पर पहुँच कर उसे अपने रंग से चित्रित कर सकती है। कथा का कुछ ही भाग सामने आता है। इतना हो जाने के बाद उपन्यासकार चन्द्र माधव के दृष्टिकोण से कथा को देखने लगता है। उन स्थानों पर प्रकाश पड़ने लगता है जहाँ अब तक अन्धकार का साम्राज्य था, चित्त में कुछ अधिक स्पष्टता आती है परन्तु तब तक परिस्थितियों मे अधिक विकास आ गया है। वे परिवर्तित हो गई हैं और ऐसे क्षेत्रों की सृष्टि हो गई हैं जो तिमिरावृत्त हैं। यह नये तिमिर को दूसरे पात्र की किरणें दूर करती है। इसी तरह प्रकाश और छाया की लुका छिपी के विचित्र खेल की सृष्टि से उपन्यास का रूप अत्यन्त कलापूर्ण हो चमक उठा है। पंत के शब्दों मे सारा उपन्यास क्षेत्र साँझ उषा का आँगन बन गया है।[५] जहाँ प्रकाश छाया की ओर और छाया प्रकाश की पारस्परिक सहायता करते चिरालिंगन में आबद्ध है। इन चारो पात्रो के दृष्टिकोणों के प्रवेश के बाहर का जो अन्धकारमय क्षेत्र है वह अन्तराल नामक दो परिच्छेदों की समवेत दृष्टि से स्पष्ट हो गया है।

हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उपन्यास की कथा शृंखला के वर्णन की स्पष्टता के लिये यह पद्धति एकदम शिथिल, लचड़ और अपर्याप्त है और हो सकता है कि एक वर्ग के पाठक के लिये क्षोभ उत्पन्न करने वाला हो। पर अज्ञेय का ध्येय स्थूल कथात्मकता की अभिव्यक्ति रहा ही कब है? उन्होंने तो कथा कही ही नहीं है। उपन्यास में दो अंश होते हैं। स्थूल और सूक्ष्म। कथात्मकता को हम स्थूल अंश कह सकते हैं पर उपन्यास में अभिव्यक्त पात्रों के भाव बिचार, उनकी मानसिक प्रतिक्रिया, जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण घटनाओं को अर्थ प्रदान करने वाली जीवन दृष्टि ये सब उपन्यास के सूक्ष्म अंश कहलायेंगे। ये सूक्ष्म अंश अज्ञेय के उपन्यासों के के आधार हैं। हेनरी जेम्स के कुछ शब्दों के सहारे कहें तो कहेंगे कि अज्ञेय (Seated mass of information) अर्थात् कथा की जमी हुई घनीभूत राशि खड़ी करने वाले कथाकार नहीं है। उनका संबंध पात्रों के मनोविज्ञान से है। कथा की छोटी सी गुठली है भी तो वह भावना, विचार और अनुचिंतन की पाचक रस की दरिया में तैर रही है। 'नदी के द्वीप' एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है और इसके लिये इस सीमित दृष्टिकोण वाली पद्धति बहुत उपयोगी है। उपन्यास की प्रथम पंक्ति से ही कहानी प्रारम्भ हो जाती है और चूँकि पाठक की पाचन शक्ति इसने जगा दी है अतः वह कथा के विकास को सुविधा पूर्वक ग्रहण करता जाता हैं मानों निस्संज्ञ कर देने वाली अनेस्थेसिया की शीशी सुघा कर पाठको का वेदनाहीन आपरेशन किया गया हो। अज्ञेय ने पात्रों के दृष्टिकोण से कहानी पर प्रकाश डाल कर मानो उसे अन्दर से उद्भासित करने की कला से काम लिया है। मेरे अध्ययन कक्ष में एक दीपक रक्खा है। उसे दो प्रकार से जलाया जा सकता है। या तो कोई बाह

से दियासलाई जला कर या एक जलता दीपक ही लेकर उसकी लौ को जला जाय। अथवा ऐसी कोई व्यवस्था हो जिसे हम देख तो न सकें पर बटन दबाते ही अन्दर से दीपक जल उठे। द्वितीय प्रकार की मनोवैज्ञानिक पद्धति 'नदी के द्वीप' की है जिसमें कथा अन्दर से प्रकाशित होती है। प्रथम श्रेणी में प्रेमचंद सम्प्रदाय के लेखकों की अमनोवैज्ञानिक शैली है जिसमें कथा की ज्योति बाहर से जलायी जाती है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास और अनुमान

'नदी के द्वीप' तथा मनोवैज्ञानिकता का दम भरने वाले हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में पाठक के मस्तिष्क की उस क्रिया की आकांक्षा है जिसे अनुमान कहते हैं। अर्थात् कथा अपने स्वरूप की स्पष्टता के लिये, स्पष्ट ज्ञान के लिये पाठक के अनुमान की चक्करदार क्रिया पर अवलम्बित है। अन्य वर्णन प्रधान उपन्यासों की तरह, उदाहरणार्थ प्रेमचद के उपन्यास, कथा पाठकों के मस्तिष्क में लेखक की ओर से उँडेल नहीं दी गई है, ऐसा नहीं हुआ है जो कुछ क्रियाशीलता है, तत्परत्व है वह लेखक की ओर से ही है, पाठक एक निष्क्रिय छाप ग्रहण करने वाली गीली मिट्टी का लोदा है जिसे अपनी ओर से कुछ भी नहीं करना पड़ता। पर इन उपन्यासो की कथा को ठीक तरह से समझ सकने के लिये पाठक को अपने को भी सक्रिय रखना पड़ता है। लेखक यह नहीं कहता कि कौन सी घटना घटी है, क्या हुआ है परन्तु पात्रों के वार्तालाप से, उनके अनर्गल प्रलापों से अथवा जागृत अवस्था में पात्रों की स्वप्नवत् कल्पना जाल से पाठक यह निष्कर्ष निकालता है, इस परिणाम तक पहुँचता है, अनुमान करता है कि यह घटना घटी है। 'नदी के द्वीप' मे यह कभी नहीं कहा गया है कि रेखा और भुवन का पारस्परिक प्रेमाकर्षण किस सीमा तक पहुँचा हुआ है, रेखा के स्वास्थ्य में तात्कालिक चिंतनीयता क्यो आ गई कि उसे तुरन्त अस्पताल ले जाना अनिवार्य हो गया।[६] यह सब लेखक की ओर से वर्णित नहीं होता परन्तु पाठक के अनुमान के फलस्वरूप प्राप्त होता है। क्योंकि जब हम अपने ऊपर विचार करने लगते हैं तो हम अपने से यह नही कहते कि अमुक घटनायें मुझ पर घटी है परन्तु उनकी ओर केवल संकेत के सूत्र से तद्गत जटिल संस्कार झंकृत हो उठता है। यह हमारे विचारों का मनोविज्ञान है। और मनोविज्ञान को लेकर चलने वाले उपन्यासों में अनुमान की प्रक्रिया को सक्रिय करने वाले संकेत सूत्र काफी होते हैं। उनमें घटनाओं के विस्तृत वर्णन की आवश्यकता नहीं रहती। प्रेमचंद के उपन्यासो में घटनाओं की प्रतीति होती, प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और 'नदी के द्वीप' में अनुमान। हमने सामने वृक्ष को देखा। यह वृक्ष की साक्षात चाक्षुष प्रतीति हुई पर पर्वत पर धुँआ देखकर वहाँ अग्नि का अनुमान (पर्वतो अग्निमान् धूमत्वात्) हुआ। अर्थात् इसमें द्रष्टा का मानसिक अंश अधिक आया। यह तो कहना कठिन है कि प्रत्यक्ष जन्य ज्ञान अधिक

आनंदप्रद है या अनुमान जन्य। पर अनुमान जन्य ज्ञान में एक विशिष्टता अवश्य होती है। चूँकि अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' में हमें भी अपनी तरफ से क्रियाशील होना पड़ता है अतः अपने पसीने की कमाई के कारण हमारी आनदोपलब्धि कुछ विशिष्ट हो जाती है।

सिनेमा

विषय प्रवेश वाले प्रथम परिच्छेद मे इस बात की ओर सकेत किया गया है कि प्रतीतात्मक अनुभूतियों के मानसिक आत्मनिष्ठ तत्वों की विवृति मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की विशिष्टता है। पर इस मानसिक तत्व का पूर्ण परिचय उस समय नहीं प्राप्त होता जब कि मनुष्य प्रवृत्त करने वाली बाह्य वस्तु (Stimulus) के आघात से प्रतिक्रिया (Response) में प्रवृत्त हो जाय। नहीं, इस तत्व का दर्शन प्रवर्तक वस्तु और उसके आघात से उत्पन्न प्रतिक्रिया के मध्य मे पड़ने वाले अवसर जब कि मनुष्य का अन्तस् आन्दोलित होता है के समय हो सकता है। जीवन मे इन दोनो के मध्य पड़ने वाली अवधि अत्यन्त अल्प तथा नगण्य मालूम पड़ती है और इसके वास्तविक रूप को देखना सहज नहीं। पर मनुष्य ने ऐसे अणुवीक्षण यंत्र आविष्कृत कर लिये हैं जिनके सहारे वह कीटाणुओं को हजारों गुणा बढ़ा कर देख सकता है। उपन्यासकार अपनी कल्पना और प्रतिभा के सहारे इस बीच मे पड़ने वाली अवधि को बढ़ा कर उसका लेखा जोखा ले सकता है और पाठकों को भी इसमें सम्मिलित होने के लिये निमंत्रित कर सकता है। 'नदी के द्वीप' में इस कला का पूर्ण निदर्शन है।

'नदी के द्वीप' की कथा बहुत छोटी है। प्रेमचंद के उपन्यासों की कथा तो संक्षेप में कहने के लिये पर्याप्त समय चाहिये पर 'नदी के द्वीप' की कथा इतनी भर है कि भुवन और चन्द्रमाधव दो प्रतिद्वन्द्वियो में रेखा की प्रणय प्राप्ति में भुवन ही सफल होता है। पर आगे चल कर वह गौरा के प्रति ही समर्पित होता है। पर इन बाहरी क्रियाओं के अन्तराल में जो अवधि है उसको कल्पना के अनुवीक्षण से विस्तृत रूप में देखा गया है। अंग्रेजी में कहे तो कह सकते हैं कि (infinite Expansion of moment) अर्थात् एक लघु क्षण को दीर्घजीवी अनंत बना कर देखा गया है। टेकनीक मे अज्ञेय की कला चलचित्र निर्माण की उस पद्धति से मेल खाती है जिसे क्लोजप (Close up) और स्लोअप (Slow up) कहते हैं। चलचित्र में कभी मुख या अन्य किसी अवयव की आकृतियों, आकार प्रकारों का वैविध्यपूर्ण प्रदर्शन अधिक देर तक होता रहता है। मनुष्य की क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति के लिये नहीं परन्तु उसके विविध भावों के प्रगटीकरण के लिये, आन्तरिक सौंदर्य के तथा उनके आतरिक सौन्दर्य के प्रगटीकरण के लिये, पाश्चात्य हमारे संस्कारों को अन्तस में मिश्री की डली की तरह घुल कर रह जाने के लिये। स्लोअप (Slow up) में गति

की तीव्रता को इतनी धीमी करके दिखाई जाती है कि जो गति अपनी क्षिप्रता के कारण एक सीधी लकीर सी बनाती दीख पड़ती है, जिसकी क्षिप्रता में क्रमता लय हो जाती है उसके एक एक क्रम को हम स्पष्टतया देख सकते हैं। हम एक ऐसे अश्व की कल्पना करें जो एक चहारदीवारी की सीमा के अन्दर चक्कर काट रहा हो या एक ऐसे टैनिस के खिलाड़ी का जो वौली (Volley) का हाथ दिखला रहा हो तो तो इस स्लोअप (Slow up) का कुछ ज्ञान हो सकता है। इसमें अश्व के पद निक्षेप की प्रत्येक गति को हम देख सकते है, टैनिस के खिलाड़ी के एक एक विशेष ढंग का अंदाज लगा सकते हैं। हाँ, घोड़े की सरपट में या टैनिस के स्मैश (Smash) में एक नाटकीयता होती है वह तो हम नहीं देख पाते। उसी तरह जहाँ इस पद्धति का उपन्यास में उपयोग किया है हम अन्य उपन्यासों की भव्य नाटकीयता तो नहीं देख पाते पर ऐन्द्रजालिकता, कविता और मनोवैज्ञानिकता से अधिक अवगत होते है। इन दोनों पद्धतियो के विचित्र सयोग से 'नदी के द्वीप' में एक विचित्र सुन्दरता आ गई है जो अन्य औपन्यासिको की रचना में दुर्लभ है।

उदाहरण के लिये नदी के द्वीप के प्रथम पेज को ही लीजिये। स्टेशन पर अपने किसी मित्र की केहुनी को छूकर डिब्बे मे बैठ जाने के लिये आग्रह करना कोई असाधारण बात नहीं। हम सब ऐसा करते हैं। हमारा मित्र, प्रेयसी ही कह लीजिये, मेरी केहुनी पकड़ कर गाड़ी मे सवार कर देती है तो एक विचित्र स्पर्शानुभूति होती अवश्य है। पर यह क्या कि वह चुनचुनाहट ही सारी रात बनी रहे और उपन्यास के एक चालीस पन्नेवाले परिच्छेद तक किसी न किसी रूप में बनी रहे। पर यही बात नदी के द्वीप मे होती है और लेखक इसी छोटी सी बात को लेकर जैसे जादू (Magic) शायरी (Poetry) और मनोवैज्ञानिकता, मैटाफिजिक्स की सृष्टि करता है और पाठक हैरत से दंग हो जाता है। पूरे प्रसंग को उद्धृत करना संभव नहीं पर कुछ देख लेना ही होगा—

"और यहीं से उसके विस्मय का आरम्भ होता था। क्योंकि यद्यपि वास्तव मे रेखा ने उसे देख कर गाड़ी पर सवार करा दिया था तथापि उसे बहुत हल्के धक्के में

Screen July 16, 1955.

—: Biggest Ever close up. .—

James Mason's eves will be more than 15 feet in diameter when shown on the cinemascope Screen in a brief scene in walt Disney's "2000 leagues under the sea" The Record-breaking close-up will show the actor registering horror at his first glimpse of the giant squid.

यही लगा था कि रेखा वास्तव में उसे कुहनी पकड़ कर खींच रही है, कि उसके शब्द और उसकी क्रिया भी उसके वास्तविक अभिप्राय को झुठला रहे हैं और वह वास्तव में उसे रोक ही देना चाहती है और जहाँ उसने भुवन की कुहनी को छुआ था वहीं वह अद्भुत अपूर्व परिचित चुनचुनाहट हो रही थी—उसकी कुहनी में जो सदा साथियों पर हँसता आया है कि उन्हें स्त्री का सान्निध्य सहन नहीं होता। वे उसे सहज भाव से न ले पाकर उत्तेजित या अस्थिर हो उठते हैं। उसने यहाँ तक देखा है कि किसी स्त्री द्वारा चाय का प्याला दिये जाने पर लोगों के हाथ ऐसे काँपने लगे कि चाय छलक जाय।

और: आज एक स्त्री के सहज भाव से ठेल कर गाड़ी पर सवार करा दिये जाने पर उसकी कुहनी में स्पर्शित स्थल पर चुनचुनाहट होने लगी है और वह यह रोमानी कल्पना कर रहा है कि रेखा ने वास्तव में उसे ठेला नहीं बल्कि खींचा था. . भुवन बाबू, यों हक्के-बक्के अपने हाथ की ओर ताकते और कुहनी को पहिचानते न खड़े रहिये आखिर आपको हुआ क्या है......"[७]

इसके बाद फिर ४० वें पृष्ठ पर

"और ठीक इसके बाद उसने सहसा जाना था कि वह भीतर कहीं विचलित है, और उसकी कुहनी चुनचुना रही है, और उसका हाथ उसका अपना अवयव नहीं है और सब प्रर्याय विपर्यय है और आस पास कुछ एक गरोख-धन्धा है जिसका हल, कम से कम उस समय, उसे भूल गया है और गोरख-धन्धे का हल न जानने मे उतनी छटपटाहट नहीं होती जितनी जानते हुए भी उस क्षण न पा सकने में......

भुवन ने एक लम्बी सांस ली, फिर अपनी चढ़ी हुई आस्तीनें नीचे उतार लीं चाहे हल्की सी ठंढ से बचने के लिये, चाहे कुहनी पर की छाप को छिपाने या मिटाने के लिये।"[८]

इसी तरह उस प्रसंग का वर्णन जहाँ रेखा भुवन को जीवन का एक्सटासी (ecta-sy) देती है और स्वयं अपने को तृप्त (fulfilled) पाती है, तथा उसके हेमरेज का प्रसग साहित्यिक क्लोजप (Close up) के उदाहरण में आ सकते हैं।[९] द्वितीय अन्तराल वाले मे पत्रों के विविध संकलन (Permutation and Combination) के द्वारा पाठकों को उस मानसिक स्थिति तथा परिस्थितिका परिचय दिया गया है जिसमें भुवन का हृदय धीरे-धीरे रेखा से हट कर गौरा की ओर अग्रसर हो रहा है, हुआ है नहीं, पर हो रहा है। यह परिच्छेद उस अवस्था का वर्णन करता है जिसे अंग्रेजी में (Process of becoming) कहेंगे और (Present continuous) के द्वारा, संस्कृत में शतृ और शानच् प्रत्ययों के द्वारा प्रगट करते हैं और ऊपर कहा ही गया है कि मनोवैज्ञानिक पद्धति का अधिक सम्बन्ध निष्ठा प्रत्यय से नहीं, (Process of being) से नहीं परन्तु

(Process of becoming) से है, शृत और शानच् से है। इस शतृ और शानच् के प्रदर्शन के लिये सिनेमा की क्लोजअप पद्धति प्रभावोत्पादक होती है जिसका साहित्यिक प्रतिरूप द्वितीय अन्तराल नामक इस परिच्छेद में पाया जाता है। इस पद्धति को देवकीनदन की वर्णनात्मकता जिसमें पात्रों के क्रिया कलापो का एक पर एक अम्बार लगा रहता है के आमने सामने रख कर देखें तो इसका महत्व स्पष्ट होगा और पता चलेगा कि हिन्दी उपन्यास कितनी दूर आगे बढ़ गया है, मानव मनोवृत्ति प्रधान उपन्यास इस क्लोजअप और स्लोअप पद्धति के शिकंजे से मनोविज्ञान की अंतिम बूंद तक निचोड़ कर उपन्यासो मे मनोवैज्ञानिकता ढूँढने वाले पाठको को अमृत की घूँट पिला कर कितनी गम्भीर तृप्ति और कितना आह्लाद प्रदान कर सकता है।

उपन्यास मे मनोवैज्ञानिक टेकनीक लाने के लिये अज्ञेय के उपन्यास मे चलचित्र की (Cut back) कट बैक पद्धति का भी प्रयोग किया गया है। (Cut back) क्या है इसको समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये। सलीम नूरजहाँ के प्रणय के प्रारम्भिक दिनों में उसके साथ उल्लास और महोत्सव का जीवन व्यतीत करता है। पर आगे चल कर जब नशा के उतर जाने पर सलीम मे थोड़ी सी विरक्ति आ जाती है तो नूरजहां के मानस पटल पर वे पुराने चहल पहल के दिन और उनकी रंगरेलियाँ बारी-बारी से आने लगती हैं और वे ही पुराने फिल्म दिखाये जाते हैं। इससे अलग शूटिंग (Shooting) के परिश्रम तथा व्यय से बचत होती है और दर्शकों का मनोरंजन भी हो जाता है। इस तरह के प्रयोग 'नदी के द्वीप' में अनेकों हैं। 'पहाड़ी' और 'अश्क' के उपन्यासों को भी इस पद्धति का सहारा कम नहीं मिला है। भुवन के हृदय मे जिज्ञासा है कि रेखा अपने प्रति हेमेंद्र से अलग क्यों पड़ गई है? क्या कोई एडजस्टमेंट नहीं हो सकता था? इस प्रश्न ने मानो रेखा के हृदय के दुखते घाव पर अंगुली रख कर उसको अन्दर से हिला दिया है। इस विवश, करुण और कातर मानसिक परिस्थिति में वह उत्तर तो क्या देती पर उसकी खोई हुई दृष्टि उसी स्थिति को देख रही थी। उसी ग्लानि को मन ही मन दोहरा रही थी। बस पहिले का एक दृश्य उसके मानस पटल पर छा जाता है जो डेढ़ पन्ने तक चलता रहता है।

"देर रात को हेमेन्द्र कहीं बाहर से आया था। रेखा का शरीर अलसा गया था, आँखें थकी थीं, पर वह पलङ्ग के पास ही छोटी लैम्प जलाये पढ़ रही थी। लैम्प पर हरे काँच की छतरी थी उससे छन कर आये हुये प्रकाश में रेखा का साँवला चेहरा अतिरिक्त पीला देख रहा था, बाकी कमरे में बहुत धुँधला प्रकाश था।

हेमेन्द्र के लौटने पर उससे किसी प्रकार का दुलार या स्नेह सम्बोधन पाने की आशा उसने न जाने कब से छोड़ दी थी। वैसा कुछ उनके बीच में नहीं था। उनके निजी जीवन में नहीं या यों समाज में जो रूप या पब्लिक चेहरा

वह दूसरा था। इसलिए वह उसके लिए तैयार नहीं थी जो हुआ : हेमेन्द्र ने[१०] पीछे से आकर बड़े उतावलेपन से और बड़ी कड़ी पकड़ से उसके दोनों कन्धे पकड़े। उसे उठाते और उसके कंधे के ऊपर से अपना मुँह उसके मुँह की ओर बढ़ाते हुये कहा-"मेरी जान मेरी जान"

किताब रेखा के हाथ से छूट गई। सारा कमरा एक बार थोड़ा डोल गया। सहसा घूम कर कुछ विमूढ़ किंतु सायास कोमल रखे गये स्वर में उसने कहा हेमेन्द्र"[१०]

हेमेन्द्र को जैसे बिच्छु ने डङ्क मार दिया हो, वह सहसा रेखा के कंधे छोड़ कर पीछे हट गया। फिर उसने कमरे की मुख्य बत्ती जला दी। थोड़ी देर अजनवी दृष्टि से देखता रहा। रेखा की परिचिद् किंचित विद्रूप भरी मुस्कराहट उसके चेहरे पर आ गई। बोला, हैलो; रेखा सारी आई एम सो लेट" और पलङ्ग के पास की खूँटी की ओर बढ़ गया।

ऐसा तो रोज होता था। पर आज रेखा यह स्वीकार न कर सकी थी। अभी क्षण पर पहिले की घटना मानो असंख्य तपे हुये सुओ से उसे छेद रही थी। उसे समझना होगा समझना होगा।......... .....

रेखा ने हाथ का काफी का प्याला रख दिया कि हाथों का काँपना न दीखे। फिर जोर से हिलाया कि यह विचार यह दृश्य उसकी आँखों के आगे से हट जाय पर नहीं...........

उसने भी जाकर हेमेन्द्र के कंधे पकड़ लिये थे और पूछा था, हेमेन्द्र तुम्हें बताना होगा इसका अर्थ क्या है

और न बताऊँ तो! वह विद्रूप की रेखा और स्पष्ट हो आई थी। फिर सहसा उसने रूखे पड़ कर रेखा को धक्का देकर पलङ्ग पर बैठाते हुये कहा था" लेकिन नहीं बता ही दूँ—रोज रोज की झिक झिक से पिंड छूटे—पाप कटे! तो सुनो मैं तुमसे प्रेम नहीं करता, न करता था। न करूँगा।"

यह तो बताने की शायद जरूरत नहीं है। पर तब मुझसे विवाह क्यों किया था।

यह भी जानना चाहती हो अच्छा यह भी जानोगी। अब सब जानोगी तुम"

यह भुवन के प्रश्न का उत्तर नहीं है या है पर रेखा की मानसिक स्थिति का, उसके मानस की सतत प्रक्रिया जैसी अमूर्त ऐन्द्रिय वाह्य वस्तु का मूर्तिकरण तो है ही जो मनोवैज्ञानिक उपन्यास की विशेषता है। इस पद्धति से लाभ यह होता है उपन्यास में अंतर्दृष्टि (Inside view) की स्थापना हो जाती है। इस इनसाइड व्यू से हमारा क्या तात्पर्य है?

आखिरकार मनोविज्ञान ने किस चीज को आविष्कृत कर हमारे औपन्यासिकों

की आँखों के सामने उपस्थित किया है? मानव के मन कूप की अतल गहराई। यही न? हमारे औपन्यासिक जो कूप के इर्द गिर्द का ही वर्णन करके ही इतिकर्त्तव्यता मान लेते थे वे अब भीतर के दृश्यों की झाँकी लेने लगे हैं। कुछ औपन्यासिक कूप के तट पर ही बैठ कर निरीक्षण करते हैं कि उस गहराई से कौन सी शक्तियाँ निकल कर हमारी जीवन परम्परा को किस तरह झकझोर देती हैं। और कुछ कूप की गहराई में कूदकर हमारी दृष्टि से तिरोहित हो जाते हैं। ये ही अज्ञेय हैं और अपनी इस पद्धति के सहारे पाठकों को लिये दिये कूप की अतल गहराई में कूद पड़ते हैं और वहाँ की आन्तरिकता इन्साइड व्यू का परिचय देने लगते हैं। पाठक पात्र की मानसिक प्रक्रिया के साक्षात सम्पर्क मे आ जाता है।

अन्य टेकनीक

नदी के द्वीप की टेकनीक की मनोवैज्ञानिकता अन्य अनेक रूपों में भी प्रदर्शित होती है। कथा प्रवाह में वाक्यों को इस प्रकार रखना कि बिना इन्वर्टेड कॉमा दिये या बिना बतलाये कि अमुक ने ऐसा कहा पाठक को ज्ञात हो जाय कि ये वाक्य किसके द्वारा कहे गये हैं। इस पद्धति का श्रीगणेश प्रेमचंद जी ने ही कर दिया था। इस पद्धति के सैकड़ों प्रयोग शेखर और 'नदी' के द्वीप में भरे पड़े हैं।

"'भुवन बाबू यों हक्के बक्के अपने हाथ की ओर ताकते हुये और अपनी कुंहनी को पहिचानते न खड़े रहिये। आखिर आपको हुआ क्या है?[११]

स्पष्ट है कि अन्तिम पंक्ति रेखा ने भुवन से कही है परन्तु एक नई बात जो यहाँ पाई जाती है वह यह है कि किसी विशिष्ट भावोन्माद के अवसर पर अतीत के कुछ शब्दों और वाक्यांशों की ओर संकेत कर देना जिसके कारण भूत और वर्तमान दोनों मिलकर एक भव्यतर, सुन्दरतर और वृहत्तर वर्तमान की रचना कर सारी परिस्थिति को ज्योतिर्मय कर दे और उपन्यास का प्रत्येक छायावेष्टित रहस्थल उदभासित हो उठे। उदाहरण के लिये २६६ पेज की कुछ पंक्तियाँ पढ़िये।

आर यू रीयल। तुम हो सचमुच हो, भुवन'' मैं तुम्हारी हूँ, भुवन मुझे लो''' रेखा, आओ......लेट अस गेट अप अर्ली टुद विनयाड्र्सः देयर विल आई गिव दी माई लव'''महराज एक कि साजे एले मम हृदयपुर माझे ?''...भुवन मेरी मोहलत कब तक की है! शुभाशंसा चूमती है भाल तेरा...पगली, पगली, तुम तो चाँदनी में ही जम गई थी और तुम तुम पिघल गये थे...लव मेड मी जिप्सी आउट आफ मी... लजाती हो मुझसे? अब तुमसे नहीं तो और किससे लजाऊँगी''' ' वेट विदाउट होप, फार होप वुड बी होप आफ द राँग थिंग''' ''देने को किछी वासा आमाय देबे कि एकटि धारे'''एक अद्भुत भाव उसके मन में भर गया, जिसमें वात्सल्य भी था, करुणा भी थी, एक आतुर उत्कंठा भी और एक बहुत हल्की-सी जुगप्सा भी। न मैं

कुछ माँगूगी नहीं। तुम्हारे जीवन की बाधा नहीं बनूँगी, उलझन भी न बनूँगी। सुन्दर से डरो मत…लेकिन भुवन, मुझे अगर तुमने प्यार किया है, तो प्यार करते रहना—मेरी यह कुंठित बुझी हुई आत्मा स्नेह की गरमाई चाहती है कि फिर अपना आकार पा सकें, सुन्दर, मुक्त, ऊर्ध्वाकांक्षी [१२]…

नदी के द्वीप में ऐसे एक नहीं दर्जन छोटे बड़े स्थल मिलेंगे।

टेकनीक की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' हिन्दी उपन्यासों की श्रेणी में अद्वितीय है, उसकी विशिष्टता की समता कोई अन्य उपन्यास नहीं कर सकता। इसमें मानो जीवन रूपी मृग को पकड़ने के लिये अनेको प्रकार के जटिल जाल बिछाये गये हैं। उपन्यासकार ने सब तरह के कौशल से काम लिया है, और अनुभवों से लाभ उठाया है साथ ही अपने मौलिक साधनों का भी प्रयोग किया है। यहाँ जैनेन्द्र को सामने रख कर अज्ञेय की कला को स्पष्टतर रूप से देखा जा सकता है। दोनो का उद्देश्य मानव है, जीवन है, मनोविज्ञान है। दोनों इन्हें पकड़ में लाना चाहते हैं पर जैनेन्द्र साँस रोक कर चुपचाप छिपे बैठे रह कर उचित अवसर की ताक मे रहते हैं, शिकार दृष्टिपथ में आया नहीं कि उस पर कूद पड़ते हैं। पर अज्ञेय बाकायदे घेरा डाल कर उसे पकड़ते हैं। अंग्रेजी के माध्यम से कह सकते है कि The method of Jainendra is to lie in ambush for life, the method of Agneya is to lay a regular siege to it. चूँकि अज्ञेय चारों ओर से बाकायदे नाकेबन्दी करते हैं घेरा डालते हैं, अतः उन्हें हर प्रकार के कौशल से काम निकालना पड़ता है, साम, दाम, दण्ड और विभेद तथा छलबल और कल से। जेम्स ज्वायस की उपन्यास कला की विशेष विवेचना करते हुए Harry Levin ने कहा है कि जेम्स के उपन्यास के रूप विधान में युग के सारतत्व का रहस्य बोल उठा है। चलचित्र की Montage, चित्रकला का impressionism, संगीत का Leit motif मनोविश्लेषण की स्वतन्त्र चेतना साहचर्य पद्धति तथा दर्शन से Vitalism। इन सबों से कुछ अंश लेकर तथा अपनी ओर से कुछ और जोड़ कर एक मिश्रण घोल तैयार कीजिये और यही युलिसिस की कला होगी।* यही बात अज्ञेय के बारे में लागू होती है।

---

*Thus the very form of Joyce's book is illusive and eclective summa of its age; the montage of cinema, impressionism of painting, leit motif in music, the free association of Psycho analysis and vitalism in philosophy. Take of these elements all that is fus bl and perhaps more and you have the style of ullys s

पाद टिप्पणियाँ

१ द्रष्टव्य इस निबंध का १३ वाँ परिच्छेद

२. अयुत सिद्धावयव ऐसी वस्तु, को कहते है जिसके अवयव पृथक रह कर सजीव नही रह सकते जैसे शरीर से पृथक हो कर हाथ जीवित नही रह सकता।

३. समरथ बड़ो सुजान सुसाहब, सुकृत से न हारत जितई है
सुजन सुभाव सराहत सादर, अनायास सांसति बितई है, विनय पत्रिका १२६

४ The twentieth.Century Novel, J W Beach P. 184

५ यह सांझ उषा का आंगन, आलिंगन विरह मिलन का
चिर हासाश्रु मय आनन रे इस मानव जीवन का, गुंजन

६. नदी के द्वीप, प्रथमावृति १६५१ ७. वही, पृ० ४ ८ वही, पृ० ४०

९. वही, 'रेखा' नायक परिच्छेद पृ० २५३, ३२२ १०. वही, पृ० १४५-४६

११. वही, पृ० ४ १२. वही, पृ० २६६।

नवम् अध्याय

अज्ञेय की कहानियों में मनोविज्ञान

प्राक्कथन]

अज्ञेय की कहानियाँ भी आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में अपना विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं, संख्या की दृष्टि से नहीं परन्तु विषय-निर्वाचन तथा उनके प्रतिपादन और टेकनीक की दृष्टि से। सब मिलाकर उनकी कहानियों की संख्या ७० से ज्यादा नहीं होगी। पर किसी साहित्य-स्रष्टा का महत्व संख्या के मापदंड से निर्धारित किया जाय यह तो कभी भी स्वीकार नहीं किया गया है। पौर्वात्य या पाश्चात्य साहित्य में ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं जहाँ एक ही कहानी या कविता ने प्रणेता को अमर कर दिया है। अज्ञेय की कहानियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :१: क्रान्तिकारी जीवन से संबंधित :२: प्रेम संबंधी :३: मनोवैज्ञानिक जिनमें पात्रों की चित्तवृत्ति अथवा उनकी आन्तरिक अनुभूति की विस्तृत विवृत्ति की चेष्टा की गई। प्रथम दो श्रेणियों की कहानियाँ अज्ञेय के प्रथम कहानी संग्रह "विपथगा" में पायी जाती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि लेखक पर दो बातों का प्रभाव है, रूस की जारशाही के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति करने वाले जीवन का तथा भारत में ब्रिटिश सम्राज्यवाद को नष्ट भ्रष्ट कर देने की प्रतिज्ञा करने वाले गुप्त षड्यन्त्रकारियों का। साम्यवाद के साथ भी लेखक में सहानुभूति है। इन्हीं के आधार पर मनुष्य की मनोवैज्ञानिक पेचीदगियों के वर्णन करने का उपक्रम इनकी कहानियों में किया गया है। यद्यपि "विपथगा" की कहानियों के पाठक पर यह संस्कार जमे बिना नहीं रहता कि वह प्रेमचन्द, कौशिक तथा प्रसाद के ढंग पर लिखी गई कहानियों के सम्पर्क में न आकर उसे कुछ और ही तरह की कहानियाँ पढ़ने को मिल रही हैं पर फिर भी ये कहानियाँ प्राचीन रंग से सर्वथा मुक्त नहीं, उनमें अभी भी वर्णनात्मकता तथा कथात्मकता के प्रति मोह है। लेखक कथा कहना चाहता है और कथा कह कर पाठकों की कौतूहल वृत्ति को संतुष्ट करना चाहता है। "विपथगा" की जितनी कहानियां हैं उनके कथा-भाग को संक्षेप में कह देना कठिन नहीं है केवल इसलिये कि उनमें कहानी पर्याप्त मात्रा में वर्त्तमान है। पात्र अन्तर्जगत में ही रमने तथा तल्लीन होने के बजाय बहिर्जगत, कार्य-संकुल कोलाहल पूर्ण जगत में भी आते जाते दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु अपने दूसरे कहानी संग्रह "कोठरी की बात"

में आते आते अज्ञेय अनुचिन्तन के क्षेत्र में निश्चित रूप में प्रवेश कर गये हैं और 'परम्परा' तथा 'जयदोल' में आकर तो मानो वहीं आसन जमा कर बैठ गये हैं। मनोवैज्ञानिता की दृष्टि से 'परम्परा' और 'जयदोल' कहानियाँ हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु हैं।

हिंदी कहानी : अज्ञेय और जैनेन्द्र के पूर्व । घटनाओं की अनगढ स्थूलता ।

इस कथन के पूरे मर्म को समझने के लिये प्रेमचंद जी तक और जैनेन्द्र तथा अज्ञेय के हिन्दी कथाक्षेत्र में आगमन के पूर्व तक कहानियों की क्या अवस्था थी यह समझ लेना आवश्यक है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में प्रकाशित 'दुलाई वाली' को, 'इन्दु' में प्रकाशित प्रसाद जी की कहानियो तथा बाद में प्रेमचंद, सुदर्शन कौशिक इत्यादि की कहानियो को पढ़ने से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं प्रथमतः यह कि इन कहानियों का उपजीव्य, मूलाधार, विषय तथा वक्तव्य बहुत अंश में वैसा ही है जैसा खत्री जी, गोस्वामी जी या गहमरी जी की कथाओं का हुआ करता था। इनमें विमर्शहीन क्रियाकलापों तथा आश्चर्यमयी तथा कौतूहल-प्रद घटनाओं की योजना के प्रति मोह था, इनमें क्रिया-कलापों की योजना रहती थी वह क्रिया कलापों की योजना मात्र के लिये ही होती थी जिस तरह कला के क्षेत्र में आज भी कुछ लोग कला को कला के लिये ही मानते हैं। इनमें पात्रों के बाह्य क्रिया कलापो के अकाण्ड ताण्डवों को असंस्कृत कच्ची सामग्री के रूप में आयोजित कर रख देन की प्रवृत्ति थी। उनमें जो कुछ भी होता था, जो कुछ भी घटनाएँ घटती थीं वे बड़े ही बेढंगे, उद्धत, उग्र तथा आक्रमणात्मक रूप में होती थी मानो वे हुई तो हो ही गईं, उन्हें होना है, वे हुई हैं, उन्हें किसी तरह का प्रतिबंध स्वीकार नहीं। वे अपनी हठवादी उद्दामता मे सारी दुनिया को रौंदती हुई यहाँ तक कि उस मानव को भी रौंदती हुई जिसके माध्यम से उनका परिस्फुटन हो रहा है—आगे बढ़ेगी। क्रियाओं का यह रूप उपन्यासों में अत्यन्त ही उग्र है, गाढ़ा है तथा स्थूल है और उनकी अपील व्यक्ति के दार्ढ्य के उस स्तर के प्रति होती है जहाँ चेतना जड़ता की सीमा को पार कर जाने पर भी उसके प्रभाव क्षेत्र से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकी है। चूँकि पाठक के व्यक्तित्व का वह स्तर जो बाहर ही है अतः सुप्राप्य, सुगम्य 'सुपहुँच्य' है वहाँ जाकर इन उपन्यासों के क्रिया कलापों की सुदृढ़ता टकराती है अतः पाठकों का इनसे अपूर्व मनोरञ्जन होता है। दो स्थूलताओ की टकराहट से उत्पन्न भीषण रव सारे वातावरण को आच्छादित कर देता है और पाठक इस तरह से उसके प्रभावित होता है कि इस प्रवेग में उसका वाह्यीकरण सा ही हो जाता है। उसकी आन्तरिकता इस तरह खिच जाती है कि वह व्यक्ति न रह कर उस वातावरण का ही एक अंश हो जाता है। यह प्रवृत्ति उपन्यासों में अपनी चरम सीमा पर है पर कहानियों में इसकी उग्रता उतनी

नहीं दीख पड़ती। एक तो कहानियाँ बीसवीं शताब्दी के पूर्व अर्थात् प्रसाद और प्रेमचंद के पूर्व लिखी ही कम गई थीं। कारण अनेक हो सकते हैं उनको ढूँढ़ना एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय हो सकता है। पर एक कारण तो यह स्पष्ट ही मालूम पड़ता है कि उस समय तक कला में उतना कौशल नहीं आ सका था कि वह क्रिया-कलापों के वाह्य स्थूलाकार दार्ढ्य को कहानियों की लघु सीमा में बांध कर रख सके। मानों उनकी लंबी चौड़ी बृहदाकार स्थूलता को सभालने के लिए उपन्यासों की विस्तृत सीमा की अपेक्षा हो। जो हो, इतना अवश्य है कि कहानियों में क्रिया कलापों की उग्र दृढ़ता उनकी स्थूलता की चोट बेतरह महसूस नहीं होती। महसूस नहीं होने का मतलब केवल इतना ही कि कहानियों के आकारलाघव के कारण हमारे मन को अधिक दूर तक परिभ्रमण करने और उन पर अधिक देर तक टिके रहने की आवश्यकता नहीं रहती। एक छोटे पत्थर के टुकड़े और एक चट्टान की बात समझिये। छोटा ठीकरा भी अपनी सीमा में कम कठिन, कम दृढ या कम स्थूल नहीं पर वह हमारी राह नहीं रोकता, हम उसे रौंदते हुए अपने मार्ग पर चले जाते हैं पर चट्टान तो मार्ग में बाधा बनकर खड़ा हो जाता है। उसकी मगरूरता, उसका हठ-धर्मित्व हमें संघर्ष के लिये ललकारता है। अतः उसकी ओर ध्यान जाना अवश्यंभावी हो जाता है। इस दृष्टि से कहानी एक पत्थल की छोटी कँकड़ी है जो आँखो में पड़े तभी बेचैन करती है पर प्रायः पड़ती नहीं। पर उपन्यास हमारे नेत्रों में पड़ता ही भर नहीं वह तो चट्टान की तरह अपनी स्थूल गौरव गर्विता के साथ खड़ा हो जाता है और कहता है कि "रास्ता रोक कर कह लूँगा जो कहना होगा।" यही हिन्दी के प्रारम्भिक युग में कहानियों की विरलता का कारण है। गहमरी जी के नाम के कुछ कहानियाँ तो पाई भी जाती हैं पर खत्री जी की लिखी शायद ही किसी कहानी की चर्चा किसी ने की हो।

रचना पद्धति में आकस्मिकता का आधिक्य।

वर्ण्य-वस्तु से ध्यान हटा कर जब हम कहानियों की रचना पद्धति पर विचार करते हैं तो उनमें आकस्मिकता का (Surprise) चमत्कार विशेष रूप मे पाया जाता है। कहानी प्रारम्भ हुई, अपनी स्वाभाविक गति से एक स्थान पर पहुँची, एक समस्या का सूत्रपात्र हुआ, एक रहस्य की सृष्टि हुई तब तक लेखक एक ऐसी बात का उल्लेख कर देगा कि कथा-प्रवाह एक दम उल्टी दिशा की ओर मुड़ कर समाप्त हो जायेगा। 'दुलाई वाली' कहानी में क्या है यही न कि एक सज्जन दुलाई में ढकी एक नारी को देख कर एक साधारण नारी समझते हैं पर घूँघट उठा कर देखते हैं तो अरे! यह क्या? यह तो और कोई नहीं उनका ही छद्म वेशधारी हास्यकौतुकप्रिय मित्र है। कौशिक जी की ताई

या रक्षाबन्धन में, प्रेमचन्द जी की अधिकाँश काहानियों में भावो और संघर्ष की मात्रा अवश्य है पर वहाँ चमत्कार की महिमा भी अपने गौरव पर स्थित है। प्रसाद के पुरस्कार मे हम देखते ही रह जाते हैं और दाँतो तले उगली दबा कर देखते हैं कि अरे यह कैसी नारी है कि एक ओर राजकुमार के प्राणदंड की सजा दिलाने में उसी का सबसे बड़ा हाथ है पर वही नारी पुरस्कार के नाम पर यही प्रार्थना करती है कि इस नवयुक के साथ उसे भो फाँसी मिले। कहानियो में प्रसाद जी-को प्रेमचन्द तथा अपने समकालीन अन्य लेखकों से भी अधिक मनोवैज्ञानिकता लाने का श्रेय मिला है। उनमें मनोवृत्तियों का 'सूक्ष्म निरीक्षण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और दार्शनिक तथ्य की अभिव्यक्ति बहुत ही सुन्दर और उच्च कोटि की बन पड़ी है। पर उनमें चमत्कारिकता के झंकोर का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में वर्त्तमान है। गूदड़ साईं, अकाश दीप, बनजारा, इत्यादि कहानियाँ मेरी इस बात को प्रमाणित करेंगी। कौशिक जी की 'ताई' में एक संतान हीन माता के मनोविज्ञान तथा उसकी विचार धारा का बहुत ही अच्छा वर्णन है। पर उस लड़के के छत पर से गिरने वाली घटना तो 'ताई' के मनोभावो के परिवर्तित कर देने मे वही काम करती है जो पूर्व के कथाकारों के तिलस्म या जादू की पुड़िया करती थी। 'रक्षाबन्धन' तो अपनी कहानी में आकस्मिकता का सर्वोत्तम उदाहरण है। घनश्याम पाँच सात वर्षों से अपनी माता और बहन की खोज मे व्याकुल है पर उनका पता नहीं चलता। पर एक दिन अपने विवाह के सिलसिले में एक गरीबिनी की कन्या को देखने जाता है तो पाता है कि यह तो उसी की माता और बहन है जिन्हें वह ढूँढ कर थक चुका था। सुदर्शन की प्रसिद्ध कहानी 'हार की जीत' तो मानो आकस्मिकता के चमत्कार की पुड़िया ही है। बाबा भारती का एक वाक्य कि मेरी प्रार्थना केवल यह है कि "इस घटना के किसी के सामने प्रगट न करना। लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे" डाकू के हृदय के पत्थर को मोम बना कर पिघला देता है और उसका काय-कल्प ही हो जाता है। प्रेमचन्द की सब कहानियों में तो नहीं पर अनेक मे इसी टेकनीक का प्रयोग पाया जाता है। 'धोखा' 'सुजान भगत' इत्यादि कहानियां इस कथन के प्रमाण के रूप में उपस्थित की जा सकती हैं।

सच पूछा जाय तो, कहानी कला के विकास क्रम की तत्कालीन अवस्था में इस चमत्कार-वादिता की प्रधानता स्वाभाविक थी। यह हमारे प्रारंम्भिक युग की प्रवृत्ति का सस्कृत रूप है जो लख लखा सुंघा कर लोगों को चेतना शून्य कर देती थी अथवा ताली बजाते ही हमारी आँखो के सामने गैबी खजाने को खोल सकती थी, राह में पड़े मुर्दों या किसी पुराने खंडहर में सजा कर रखी मूर्त्तियो से तलवार चलवा सकती थी उस युग के विश्वासी और हृदय के लिये किसी संभव या

असंभव बात मे विश्वास कर लेना कठिन नहीं था। पर समय के विकास के साथ जब लोगों का विश्वास हिलने लगा तो कथाकारों की ओर से ऐसी घटनाओं की योजना होने लगी जो पाठकों को हैरत से दंग कर देने की सीमा के पास पहुँचा देने पर भी बौद्धिकता की सीमा का अतिक्रमण नहीं करने पावे, किसी न किसी तरह उनकी युक्ति-युक्त और तर्क सम्मत संगति बैठाई जा सके। यही जासूसी का कहानियो का युग है और गहमरी जी की मालगोदाम की चोरी जैसी कहानियाँ इसी समय लिखी गई थी। इसके बाद वह युग आता है जिसमें आकस्मिकता की झंकोर को लेकर चलने वाली कहानियों का प्रणयन हुआ। इस आकस्मिकता का समावेश और कुछ नहीं बुद्धि को चकाचौंध कर देने वाली, चुनौती सी देने वाली कहानियों का ही थोड़ा परिमार्जित रूप था। इनमें मानवता अधिक आई, इन्होंने मनुष्य से अधिक सामीप्य का नाता स्थापित किया। एक विद्वान ने लिखा है कि "Our reasonable age wishes to be convinced as well as bewitched"[1] ? अर्थात् हमारे बौद्धिक युग की विशेषता है कि बुद्धि संतोष की माग तो करती है पर हमारे अन्दर इन्द्रजाल को पसंद करने वाली वृत्ति भी वर्तमान है। अतः पाठकों के मनोविज्ञान की माग के फलस्वरूप आश्वस्त (convinced) होने के साथ, बौद्धिक आश्वासन के साथ इन्द्रजालित होने की छिपी भावना के परिणामस्वरूप आकस्मिकता को लेकर चलने वाली कहानियो का निर्माण हुआ। कहानियों का वातावरण सामाजिक हो चला था, जितनी कहानियाँ लिखी जाती थी उनमें सामाजिक समस्याओं का, जीवन के दैनिक सुख दुख का समावेश हो चला था, हमारे आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को प्रभावित करने वाले रागविरागपूर्ण अन्तर्द्वन्द्व ने कथा क्षेत्र में साधिकार प्रवेश किया था। इस रूप में कथा ने युग की बौद्धिकता और यथार्थवादिता के साथ समझौता किया; मानव बुद्धि का उसे समर्थन प्राप्त हो सका। परन्तु कथा ने आकस्मिकता का भी साथ नहीं छोड़ा क्योंकि वह जानती थी कि इस बौद्धिक झीने आवरण के नीचे मानव की ऐन्द्रजालिकता का स्तर विराजमान है जिसकी अवहेलना कम से कम उस युग तक संभव नहीं थी। अतः स्थूल और उग्र चमत्कार के उभड़ खाबड़ और चुभने वाले अंश का संशोधन कर इस आकस्मिकता के साफ सुथरे रूप में कला ने उसे उपस्थित करने का उपक्रम किया।

कौशिक जी के 'स्वाभिमानी नामक हलाल' नामक कहानी के उदाहरण से इस वक्तव्य को समझने में सहायता मिलेगी। सेठ छागामल के मरणोपरांत भी वृद्ध मुनीम मटरूमल जी नवयुवक स्वामी चुन्नूमल की सेवा में कुछ दिन लगे रहे पर उसके असद्व्यवहार से आहत होकर उनके स्वाभिमान ने अलग हो जाने के लिये प्रेरित किया। उनके अलग होते ही सारे कारोबार में फैल गई और अंत में यह अवस्था

भी आ गई कि दो लाख की हुंडी का भुगतान सर पर, रुपया पास नहीं। तत्काल व्यवस्था हो जाने की भी आशा नहीं। भय है कि फर्म दिवालिया न घोषित कर दिया जाय। दो चार दिन किसी तरह भुगतान की बात टल जाय तो कोई बात न थी। अंत में मटरूमल जी को अनुनय विनय कर बुलाया गया। वे आये। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। दहकते हुए कोयले वाली अंगीठी में हाथ सेंकते हुए ज्यों ही वे उसे पढ़ते हैं कि हुंडी आग पर गिर भस्मसात् हो गई। बस, सारा सकट टल गया। अब हुंडी की नकल दो तीन दिन में आती रहेगी। तब तक तो रुपयों का इंतजाम हो ही जायेगा। थोड़ा सा विचार करने पर यह मालूम हो जायेगा कि हुंडी का आग में गिर कर जल जाना, इसी तरह अनेक कहानियों में किसी दो बिछुड़े संबंधियों का अचानक मिल जाना, किसी गुप्त पत्र का रहस्योद्घाटन हो जाना, किसी समस्या का विचित्र ढंग से हल हो जाना, किसी मृत समझे जाने वाले व्यक्ति का प्रगट हो जाना, ठीक समय किसी रहस्यात्मक ढंग से किसी सकट का टल जाना, एक गरीब दुखिया को मदोन्मत अत्याचारी के चंगुल से छुड़ाने वाले का डाकू इत्यादि होना—कहानियों के उपजीव्य रूप में आने वाली ऐसी बातों में और ऐयारी या तिलस्मी के झोले से निकल पड़ने वाली जादू की पुड़िया में कोई विशेष अन्तर नहीं है। वे सजातीय या समान-धर्मी हैं। इस पद्धति को यदि हम एक अंग्रेजी शब्द द्वारा कहना चाहें तो (flash light) टेकनीक कहेंगे। जितनी ही क्षिप्रता के साथ आवेग और शक्ति के साथ, मारुततुल्य वेग के साथ, वज्र निर्घोष और तड़ित चापल्य के साथ आकस्मिकता की योजना की जाती है उतनी ही अधिक इसकी नाटकीय प्रभविष्णुता में वृद्धि होती है। कथा का मर्म या रहस्य उसी तरह प्रगट होना चाहिये जिस तरह वातायन को खोलते ही प्रकाश की किरणें कमरे को आप्लावित कर देती है। यह पद्धति पाठकों को अभिभूत कर देती है,[२] वह विक्षिप्त सा हो जाता है, निविड़ अंधकार से अचानक प्रखर प्रकाश के क्षेत्र में आ जाने से पाठक गण यथार्थ के सामने आँख मलते खड़े हो जाते हैं कि आकस्मिक दृश्य परिवर्तन उसे सोच विचार करने का भी अवसर नहीं देता। यदि यथार्थ का उद्घाटन थोड़ा-थोड़ा करके क्रमशः हो तो आकस्मिकता का प्रभाव नष्ट हो जाय। अतः इस आकस्मिक रहस्योद्घाटन के पश्चात् कहानी समाप्त कर देनी पड़ती है। कारण कि यदि वह चलती रही तो संभव है पाठक पुनः इस सारे वातावरण पर एक बार सतर्क होकर सोच विचार करने लगे जो कहानी सिद्धि के लिये बहुत ही घातक होगा।

आकस्मिकता के रहते भी प्रेमचन्द प्रसाद की कहानियों में मनोवैज्ञानिकता की झनक।

अत यह मान लेना गलत न होगा कि ये विकसित कहानियाँ भी पाठकों की

उसी स्तर की कलात्मक प्रवृति को सतुष्ट करती है जो ऐय्यार की जादू भरी छड़ी या जासूस की दंग कर देने वाली, धूल में इमारत खड़ी कर देने वाली कल्पना किया करती थी। अंतर था तो केवल यही कि इनकी सारी कार्यवाहियाँ अधिक संस्कृत ढंग पर होती थीं। जहाँ पूर्व के कहानी कार इतने साहसी थे कि वे दिन दहाड़े डके की चोट से अपनी कलाबाजी और रचना कौशल का प्रदर्शन करते नहीं हिचकते थे वहाँ ये लोग गलियो की गहराई के थोड़े धूमिल वातावरण में ले जाकर अपनी दूकान छानते थे और ऐसी परिस्थितियों के मध्य में अपनी सामग्री को पाठको के सामने सजा कर रखते थे कि वे अधिक सुग्राह्य हो जाँय। आज भी 'माया सीरिज' या 'मनोहर कहानियाँ' जैसी पल्प (Pulp), सस्ती पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली कथायें वही काम कर रही हैं जो काम गहमरी जी की रचनाएँ करती थीं। इन कहानियों में तथा प्रेमचन्द, प्रसाद आदि जैसे कथाकारो की रचनाओं में मुख्य अंतर यही है कि ये जनता की चटपटी, चटखारें लेने वाली सस्ती जिह्वालोलुप प्रवृत्ति के तोष के लिये खपत की दृष्टि में लिखी गई हैं। अतः इनमें मात्र यान्त्रिक जोड़ तोड़ रहती हैं, इनमें निर्जीव रूप में घटना-क्रम को बढ़ा दिया जाता है जिसमे मनोवैज्ञानिकता आ ही नहीं सकती। लेखक आकाश और पाताल के कुलाबे को एक कर देने में इतना व्यस्त रहता है कि उसकी सारी शक्ति बाहरी तिकड़म में निःशेष हो जाती है और आन्तरिकता या मनोवैज्ञानिकता के अभाव में सस्ती यंत्र संचालित काट छांट ही प्रधान रूप धारण कर लेती है। परन्तु प्रेमचंद, प्रसाद की रचनाओं का उद्देश्य कुछ और महत्वपूर्ण होता हैं, उनकी सचेष्ट प्रतिभा अपना विस्तार पाठकों पर सौंदर्यमूलक प्रभाव की छाप छोड़ने के लिए करती है, वे चैतन्य कलाकार हैं और उनकी रचनाओं का प्रत्येक अंश उनकी भावनाओं से ओत प्रोत है, उनके एक एक अक्षरो में उनकी भावात्मक सत्ता विराजमान है। परिणाम यह होता है कि इन कहानियों में सस्ती पत्रिकाओं Pulp Magazines वाली कहानियों की तरह मनोवैज्ञानिक शून्यता में ही रूप धारण करने वालो स्थूलता से होकर थोड़ी सी मनोवैज्ञानिक तरलता झांकने लगती है। इन में पात्रों के आन्तरिक राग विराग जो हमारे ही किसी दोप के कारण हम से दूरस्थ थे अधिक समीप आने लगते है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इन कहानियों का यही महत्व है।

कहानियों में अन्तर्द्वन्द्व :—

आलोचकों के द्वारा प्रसाद, प्रेमचद सुदर्शन, कौशिक की रचनाओं में तथा तत्कालीन कथा साहित्य में अभिव्यक्त अन्तर्द्वन्द्व की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया गया है यह कहा गया है कि दो विपरीत भावों और विचारों के एक साथ ही मानः हृदय पर अधिकार कर लेने के कारण जो संघर्ष, विकल्प, , क

दृश्य उपस्थित होता है, एक व्याकुलता और बेचैनी से 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावता' उत्पन्न हो जाती है उसकी विवृति इन लोगों के कथा-साहित्य की मुख्य विशेषता है। न्याय के आसन से अपने अपराधी पुत्र के लिये प्राणदंड विधान करते समय पिता के हृदय में कौन से भावों की खींचातानी होती है इस मानसिक स्थिति का चित्रण इन के साहित्य का प्रधान कंठस्वर है। ध्यान से देखा जाय तो मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से यह आकस्मिकता से अपेक्षाकृत अधिक उच्चत्तर और भव्यतर सूक्ष्मतर कोटि की वस्तु हैं। यों तो इस युग की कहानियो में आकस्मिक तत्व की सत्ता प्राप्त होती ही है। पर एक बात भी स्पष्ट है कि जिन कहानियों में इस मानसिक संघर्ष तथा हृदय के अन्तर्द्वन्द्व का समावेश अधिक हो सका है उनमें इस तत्व की स्थूलता कम होती गई है, यह तत्व अपने रौद्र और अपने वीभत्स रूप मे ललकार कर हमारे सामने अपनी सत्ता की घोषणा करता उपस्थित नहीं होता।

अन्तर्द्वन्द्व के समावेश की दृष्टि से प्रसाद जी की कहानियाँ अपने युग में अद्वितीय है। कालक्रम के अनुसार भी हिन्दी कहानियों के निर्माताओं में उनका नाम बहुत पहले आता है पर कवित्व पूर्ण वर्णन-शैली, अर्थ-गांभीर्य और चरित्र चित्रण की सजीवता में, सब से ऊपर मानसिक संघर्ष विवृति में भी कोई उनकी तुलना नहीं कर सकता। आधुनिक कहानीकार अज्ञेय में भी सजीव चित्रांकन तथा मानव के अन्तस्थ मानसिक हलचलों का वर्णन है। पर प्रसाद तथा अज्ञेय के मासिक अन्तर्द्वन्द्व के वर्णन में अन्तर है। मालूम होता है इन दोनो कहानीकारों में मानसिक संघर्ष सम्बन्धी मूल विचारों में भेद है। एक अन्तर्द्वन्द्व या संघर्ष को जिस अर्थ में लेता है दूसरा उससे भिन्न रूप में ग्रहण करता है। संघर्ष (Conflict) अपने मौलिक रूप में नाट्य कला का शब्द है और जब हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारी कल्पना के सामने समान-शक्ति सम्पन्न परस्पर विरोधी भावसेना रहती है जो या तो युद्ध के लिये एक दूसरे को ललकार रही है या केशाकेशि, दण्डादण्डि, हस्ताहस्ति युद्ध में प्रवृत्त है। इस में कर्म व्यतिहार की ध्वनि रहती है, इसमें क्रियाओ और प्रतिक्रियाओं के वृत्त की स्थापना का भाव रहता है। इसमें दो पक्षों का मैदान मे डटे रहना आवश्यक है और दोनों का तुल्यबल समन्वित रहना, न कम न अधिक। यहाँ पर दो की स्थिति में ही ताली बजती है, अन्यथा नहीं। पर संघर्ष की कल्पना दूसरे रूप में भी की जा सकती है। हम संघर्ष को in terms of single line or direction अर्थात् एक ही ओर से चलती सीधी रेखा के रूप मे भी देख सकते हैं। कहने का अर्थ यह कि मानसिक संघर्ष का चित्रण ऐसे रूप में भी उपस्थित किया जा सकता है कि ऐसा मालूम हो कि जिस व्यक्ति में संघर्ष का चित्रण किया जा रहा है वह इस लिये नहीं है कि कोई विरोधी परिस्थिति, घटना उसको प्रेरणा दे रही है या उकसा रही है जिसके अभाव में इसका अविर्भाव

संभव न था। गीता में अर्जुन के मानसिक संघर्ष का वर्णन अवश्य है। पर आप ध्यान पूर्वक देखें तो उसका अन्तर्द्वन्द्व धृतराष्ट्र के इस प्रश्न का उत्तर है।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥[२]

यहां युयुत्सुओं के दो समान प्रबल पक्ष हैं। मामकाः (कौरवाः) और पाण्डवाः अर्थात् अर्जुन के हृदय में जो वैकलव्य, दौर्बल्य, विकल्प उत्पन्न हुआ वह "सेनयोरुभयोमध्ये" रथ स्थापन के कारण हुआ- अन्यथा नहीं भी उत्पन्न हो सकता था। दूसरे शब्दों में अर्जुन का संघर्ष स्वभावज, सहज नहीं था, उसके फितरत का जुज नहीं, परिस्थिति जन्य उपाधि था। सामने चुम्बक था और उसी के प्रभाव के कारण अर्जुन के हृदय की प्रवृति रूपी चूर्णों में हलचल, एक आन्दोलन और आकर्षण प्रत्याकर्षण, का दृश्य उपस्थित हो गया था। उसके अलग हो जाने पर या रहते हुये भी उसकी शक्ति को क्षीण कर देने पर हृदय में जरा भी स्पन्दन न होता और यही हुआ भी। जब कृष्ण के गीतोपदेशामृत ने युद्धजन्य विभीषिका को दूर कर दिया उसी समय उसका मानसिक संघर्ष भी शान्त हो गया। यह both ways traffic था, दोनो ओर से आने जाने वाला यातायात व्यापार था, लोग दोनों ओर से आते जाते थे, कोई रोक न थी। अतः टकराहट हो जाती थी और संघर्ष का दृश्य उपस्थित हो जाता था। यह परिस्थितिजन्य है। पर जहां one way traffic हो अर्थात् यातायात व्यापार निश्चित हो, जाने का पथ अलग और आने का पथ अलग और इस अवस्था मे भी संघर्ष हो जाता हो तो यह स्वाभाविक होगा, व्यक्ति की किसी आन्तरिक लचारी के परिणाम स्वरूप होगा। मेरे कहने का अर्थ यह है कि आधुनिकतम कहानियो में मानव के अन्तर्द्वन्द का, मनोवैज्ञानिक घूर्णन, प्रतिघूर्णन के इस एक तरफे पहलू को भी, one way traffic वाले रूप को भी प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति आ रही है और इस प्रवृत्ति की जड़ यदि हिन्दी कथा साहित्य मे जम सकी तो उसका श्रेय अज्ञेय को होगा।

प्रसाद और अज्ञेय द्वारा चित्रित अंतर्द्वन्द में अंतर, एक परिस्थितिक उपाधि, दूसरा अंतर की उत्प्रेरणा

प्रसाद की कहानियों से उदाहरण

प्रसाद जी की दो कहानियो के विश्लेषण से और अज्ञेय जी की कुछ कहानियों के अध्ययन से पूर्वोलिखित दृष्टि बिन्दु की सूक्ष्मता को हृदयगम करने में सुविधा होगी। प्रसाद जी की एक प्रसिद्ध कहानी है, आकाशदीप। कहानी संक्षेप में यों है चम्पा के पिता अपने स्वामी वणिक मणिभद्र की रक्षा समुद्री डाकू बुद्धगुप्त से करते हुए जलसमाधि को प्राप्त होते हैं बुद्धगुप्त बन्दी हो जाता है पर शीघ्र ही चम्पा के

भी बन्दी बन कर बुद्धगुप्त के समीप रहना पड़ता है क्योंकि वह मणिभद्र के प्रणय प्रस्ताव को ठुकरा देती है। एक घोर अंधेरी तथा गर्जनतर्जन पूर्ण रजनी में ये दोनों बन्दी पारस्परिक सहायता से मुक्त होते हैं और परिणाम स्वरूप मणिभद्र को ही बुद्धगुप्त का बन्दी होना पड़ता है। आंधी और तूफान से बहती हुई नाव एक द्वीप के किनारे जा लगती है। बुद्धगुप्त के जीवन में महान क्रान्ति होती है। वह साधारण जल दस्यु न रह कर चम्पा द्वीप का समृद्ध वाणिज्याधिकारी हो जाता है और चम्पा तो चम्पा की रानी ही कहलाती है। दोनों का जीवन बड़ा प्रेम पूर्वक व्यतीत होता चला जा रहा है कही किसी तरह का तनाव नही दीख पड़ता। चम्पा बुद्धगुप्त को प्राणपण से प्यार करती है पर उसके हृदय के किसी अज्ञात कोने मे उसके लिये भयानक घृणा के भाव भी वर्तमान है। हृदय की इस ग्रन्थि को निकाल देना चम्पा के लिये कठिन है कि आखिरकार बुद्धगुप्त है तो उसके पिता का घातक ही न। यहाँ तक कि वह यथावसर प्रतिशोध के लिये अपनी कंचुकी मे छिपाकर कृपाण भी रखती है। चम्पा का सारा जीवन दो विपरीत भावनाओ का अन्तर्द्वन्द्व के बीच ही व्यतीत होता है। इन दोनो पक्षों में कोई निर्बल नहीं है, दोनों समान शक्ति सम्पन्न हैं। चम्पा के हृदय में बुद्धगुप्त के सौजन्य, उदाराशयता तथा प्रणयातुर व्यवहार के प्रति आकर्षण मोह और करुणा के भाव जाग्रत हैं तो अपने पितृहंता के प्रति घृणा, प्रतिहिंसा और उसे भस्मासात् कर देने वाले आग्नेय भाव की उग्रता भी कम नहीं है। कभी एक प्रकार के भाव आकर उसके हृदय को आच्छादित कर देते हैं तो कभी दूसरे प्रकार के भावों की आंधी उन्हें छिन्न भिन्न कर देती है। एक बार चम्पा कहती है "मैं तुम्हें घृणा करती हूँ,[४] फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूँ" अंधेर है[४] जलदस्यु। मैं तुम्हें प्यार करती हूँ" संस्कृत के आलंकारिक कहते ही रहें कि दो शत्रु भावों को ही एक ही आश्रयस्थ या आवलम्बनजन्य रूप में चित्रित करने पर साहित्यकार को आश्रय-विरोध अथवा आलम्बन विरोध दोष से लांछित होना पड़ेगा। पर प्रसाद का नैपुण्य इसी में है कि उन्होंने ऐसा मनोवैज्ञानिक वातावरण उपस्थित कर दिया है कि वह यहां इस तरह की शंका की गुन्जाइश ही नहीं होने देता और इन विपरीत भावो का उत्थान और पतन पूर्ण रूपेण स्वाभाविक मालूम पड़ता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक तो ambivalent प्रवृत्तियों को दुहाई देकर या यह कर कि प्रेम और घृणा के भाव अपने मूल रूप मे एक ही हैं इस तरह की असंगति की सफाई दे देगा। पर प्रसाद के साहित्य को शायद इस दृष्टि से देखना ठीक न होगा। हालांकि कोई आलोचक यह बात कहे भी तो इसे अनर्गल प्रलाप कह कर हम टाल दे नहीं सकते।

इस कहानी के विश्लेषण से भावों के संघर्ष का वह रूप स्पष्ट हुआ होगा जिसे हमने ऊपर दोनों ओर से आगमन और प्रत्यागमन (both ways traffic)

वाला रूप कहा है, जिसमें दो विपरीत भावों की मुठभेड से क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के आवर्तन उपस्थित होते रहते हैं। दोनो ओर से उमड़ती हुई तरंगों के आघात प्रतिघात के कारण मानव हृदय महाभारत का कुरुक्षेत्र बन जाता है और अस्त्रों की झकार, शस्त्रों की टकार और योद्धाओं की दर्प पूर्ण ललकार से सारा वातावरण पूर्ण हो जाता है। पर संघर्ष का एक और भी सूक्ष्म रूप हो सकता है। मेघावर्त्त का गर्जन तर्जन न हो, विद्युत् संघात का कर्ण विदारक निर्घोष न हो, दो विरोधी दलों की रस्सा-कस्सी (Tug of war) का स्थूल दृश्य उपस्थित न करता हो पर मंद गति से, स्वतः प्रेरित, स्वयचालित, किसी अज्ञात प्रेरणा के बल पर पृथ्वी की छाती को फाड़ कर शनैः शनैः उगने वाले बीजाकुंर के रूप में हो। वह इसलिये हो कि वही उसका धर्म है, वह इस रूप में न रहकर है ही नहीं। हवा में मुक्का मारने या अपनी ही छाया से लठैती करने वाली बात वाह्य जगत में कुछ बेतुकी सी अवश्य लगे पर अज्ञेय की कहानियों के पात्रों में जो संघर्ष है वह कुछ इस तरह अहेतुक रूप में चित्रित हुआ है, कुछ इस एकागी, एकपक्षीय रूप मे विरोधी वातावरण के अभाव में भी स्वयमेव अन्दर से निसृत होते हुये दिखलाया गया है और उनकी प्रतिभा ने कुछ ऐसी कला की सृष्टि की है कि यही असंगति इतनी प्रभावोत्पादक हो गई है, वह अन्तर्द्वन्द बाहर का न होकर, दुनिया का न होकर यहाँ तक मस्तिष्क की ऊपरी सतह पर टकराने वाले दो विरोधी भावों का न होकर, किसी कारण से उत्पन्न कार्य रूप न हो कर मानव आत्मा की अतल गहराई में चलते रहने वाले संघर्ष का प्रतीक हो गया हो। "परिलुप्त धैर्य" सागर के वक्षस्थल पर उत्ताल तरगों के उत्थान और पतन के रूप में होते रहते संघर्ष को देखने के लिये तो "आपातालनिमग्नपीवरतनु मन्दराचल" की आवश्यकता है। यही संघर्ष है जो लोकचक्षुगोचर होने वाले वाह्य संघर्षों का आधार है। इस की आँच होती है तो मधुर और मंद पर उस पर पकाया हुआ अन्न अधिक मधुर और सुस्वादु होता है जिसके रसस्वादन के लिये देवता गण भी भूमि पर उतर आते हैं। प्रेमचन्द, प्रसाद तथा उनके समकालीन कहानीकारों की रचनाओं में पात्रों के मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण का अभाव नहीं, मानसरोवर में तैरने वाले अनेक मातंगनक्रों के भयानक रूप देखे जा सकते हैं पर आज के युग में मनोविज्ञान के प्रकाश ने हमारी दृष्टि को सूक्ष्मता प्रदान कर दिया है। हम किसी चीज के वाह्य रूपाकारावलोकन तक ही न ठहर कर उसके मूल तक जाने का उपक्रम करने लगे हैं। तब इन कहानियों की हड़बड़ी, जल्दीबाजी, येनकेन प्रकारेण काम निकाल लेने वाली प्रवृति, इनकी पल्लव ग्राहिता, इनका सस्ता कामचलाऊपन का विसंवादी प्रभाव हमें रुचिकर नहीं लगता। ऐसा मालूम पड़ता है कि कथाकार को और परिणामतः कविनिबद्ध पात्र को भी किसी तरह संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की लपटों में आ जाना पड़ा हो, उसकी

चित्तवृति वहा तल्लीन नहीं होती हो और वह वहाँ से निकल भागने के लिए किसी Short cut की ताक में हो अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता हो। 'जान बची लाखों पाये' वाली मनोवृत्ति का ही, प्रधान्य हो जाता है।

प्रसाद आदि की कहानियों में मनोवैज्ञानिक उत्ताप की कृत्रिमता

कहानियों में अन्तर्द्वन्द्व की चर्चा करते समय मेरे सामने एक और कल्पना मूर्त्त हो उठती है। दो व्यक्ति हैं। दोनों की पुटली में कुछ अन्न के दाने हैं जिन्हें पका कर अपनी भूंख मिटाई जा सकती है। उनमें एक बड़ा ही जल्द-बाज और थोड़ा अधीर है। वह किसी तरह अन्न के दानों को थोड़ा बहुत साफ कर खूब कड़ी आँच पर ऊबाल कर झट से किसी तरह पक्वअर्द्धपक्व, अतिपक्व भोजन तैयार कर लेना चाहता है। भोजन भले ही सुपक्व और सुस्वादु न हो पर उससे एक तरह बुभुक्षा की निवृति तो हो ही जाती है। दूसरी ओर अन्य व्यक्ति अपनी पोटली के चावल के कणों को खूब साफ कर, उसके एक एक दाने को छान बीन कर मद मद आँच पर पकाता है। इस तरह से सुसिद्ध भोजन अमृतस्वादोपम होगा और उसमें गभीर तृप्ति देने की शक्ति होगी। कहा जाता है कि कितना ही नीर से सींचो पर तरुवर तो समय पर फूलेगा और फलेगा। पर आज के वैज्ञानिक युग में ऐसे Hot house Plant[५] की सृष्टि की जा सकती है, ऐसे ऐसे कृत्रिम खादों का प्रयोग किया जा सकता है कि फूलने और फलने की अवधि पर बहुत कुछ नियंत्रण रखा जा सके। चाहे दुनिया की नजरों मे वह बेमौसम का फल ही क्यों न जँचे। पर कृत्रिम (Conditioned) वातावरण में न रखा जाकर, समय के पूर्व ही फलोद्गम के लिये वाध्य न कर यदि तरु को अपने प्राकृतिक रूप में ही फलने फूलने मे सहायता दी जाय तो वह कही अधिक संतोषप्रद और उत्तमफलप्रसू हो सकता है। प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं जिन्होंने मानव मनोविज्ञान के बिरवे को अपनी कथा की भूमि पर लगाने का प्रयत्न किया है अधिक कृत्रिम उत्ताप दे कर। उनका लगाया पौधा तुरंत फल फूल देने लगे इस शीघ्रता के कारण उन्हें आवश्यकता से अधिक उत्ताप देना पड़ा है, कृत्रिम उपायों द्वारा अन्दर से उभारने की चेष्टा करनी पड़ी है। जिसका परिणाम यह हुआ है कि वह मनोवैज्ञानिक रस संचार इनके फलो में नहीं हो सका है। जिस के लिए आज का प्रबुद्ध पाठक वर्ग लालायित है।

अज्ञेय की कहानियाँ : मनोवैज्ञानिकता की निष्कम्प लौ

आधुनिक कहानीकारों की प्रवृति मनुष्य जीवन के बाह्य कलापों तथा बृहद्काय घटना रूपी विशाल वृक्ष की मोटी-मोटी शाखाओ पर मनोविज्ञान का छोटा अश्वत्थ वृक्षांकुर उगा देना नहीं है जो अपने विस्तार की पूरी स्वतंत्रता न पाकर अपने दिव्य और नयनाभिराम गौरव को नहीं प्राप्त कर सकता। बनों में प्राय देखने मे

आता है कि किसी आम्रतरु या बेर इत्यादि वृक्षों की डालों पर एक वटवृक्ष या अश्वत्थ वृक्ष का अंकुर निकल पड़ता है और कुछ बढ़ता भी है पर अपनी वृद्धिव्याघातित वामन रूप की कदाकारिता में अपना वास्तविक वैभव का व्यंग बनकर करुणा का पात्र बन कर रह जाता है। आज के कुछ ही वर्ष पहले हिन्दी मे जो कुछ भी कहानियाँ थीं उन्हे बड़े डील डौल वाली, स्थूलाकार घटनाओ के भार को ढोने वाली कथक्कड़ी प्रवृत्ति, किस्सागोई की परम्परा उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई थी। प्रेमचन्द प्रमुख कथाकारों ने इस स्थूलहस्तावलेप को थोड़ा कम कर देने का प्रयत्न किया अवश्य था पर उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली थी। उनकी कहानियाँ कहानी भर होती थी। परन्तु अज्ञेय 'परम्परा' में संगृहीत अपनी 'अलिखित कहानी' नामक कहानी में कहते हैं 'जो कहानी केवल कहानी भर होती है, उसे ऐसे लिखना, कि वह सच जान पड़े, सुगम होता है। किन्तु जो कहानी जीवन के किसी गूढ़ रहस्यमय सत्य को दिखाने के लिये लिखी जाय, उसे ऐसा रूप देना कठिन नहीं असंभव ही है। जीवन के सत्य छिपे रहना ही पसंद करते हैं। प्रत्यक्ष नहीं करें, छिपा ही रहने दे, जो छायाओ और लक्षणो के आधार पर उसका आकर विशिष्ठ कर दें, और बस.........

इसलिये मै अपनी इस कहानी को ऐसे असंमान्य रूप में रखकर सुना रहा हूँ। इस आशा मे कि जो सत्य मैं कहना चाहता हूँ, वह शायद इस रूप में रखा जा सके, पाठक के आगे व्यक्त नही तो उसकी अनुभूति पर आरूढ़ किया जा सकता है।'[१६]

यह उद्धरण इस उद्देश्य से दिया गया है कि इसे हम अज्ञेय की प्रतिनिधिक कहानी कह सकते हैं और इसमें वे विशिष्टतायें पाई जाती है जो इनकी कहानी के मुलाधार हैं। प्रथमतः तो यह कि यह कहानी भर नहीं है। कहानी है भी तो वही जो बहुत पहले लिखी जा चुकी है अर्थात् स्त्री के प्रति आसक्ति तथा इस मोहासक्ति पर भर्त्सना पाकर स्त्री विमुख हो कर अपनी चित्तवृत्ति को भगवद्भक्ति मे केन्द्रित करना जैसे कि भक्त तुलसीदास ने की थी। चूँकि कहानी चिर परिचित है अतः कहानी के कथा भाग की ओर पाठक की दिलचस्पी भी नही रहती। वह कहानी की ओर न देख कर कथानिबद्ध मनोविज्ञान को, पात्र के अन्तस्थ की धीर गुरु गभीर पर निश्चित गति से प्रवाहित होने वाली संघर्षोन्मुख दुर्द्धष धारा की ओर देखता है। इसमें पत्नी को लेकर पति के हृदय को मथती रहने वाली धारा का वर्णन है। पति और पत्नी के संघर्ष की कथा साहित्य के लिये नई वस्तु नहीं है पर जहाँ कहीं भी इस तरह के मनोमालिन्य की चर्चा हुई है वहाँ किसी समस्या को लेकर, एक (issue) को लेकर। पति कुछ चाहता है जो पत्नी के मनोनुकूल नहीं है और पत्नी की बातें पति को वांछनीय नहीं। बस दोनों मे ठन गई हैं और यदि उनके प्रांगण में स्थूल महाभारत का संस्करण नही हो सका है तो उनका मस्तिष्क तो अवश्य दो विरोधी भाव क्षेत्र के कुरुक्षेत्र का रूप

बन ही गया है। कौशिक की 'ताई' में संतान की बात लेकर आपस में मनोमालिन्य है। प्रेमचन्द के 'धोखा' में नारी के हृदय में इस बात को लेकर संघर्ष है कि वह अपने पति के प्रति पूर्ण रूपेण सतीत्व के भाव से समर्पित नहीं है। वह सोचती है कि वह तो उस सन्यासी को हृदय दे चुकी है, उसका मानसिक कौमार्य खडित हो चुका है कहीं इसका पता उसके पति को न चल जाय। इसलिये उनका मस्तिष्क संघर्ष का क्षेत्र बना रहा है। इस व्याकुलता का, इस बेचैनी का बोधगम्य कारण भी है। पढ़ कर पाठक के मस्तिष्क का ऊपरी सतह मानों साखी भरता, कहता है कि हाँ, ऐसा होना स्वाभाविक ही है। पर यह लड़ाई कैसी जो अकारण ही हो। इस कहानी का प्रारंभ देखिये 'मैं अपनी गृहलक्ष्मी से लड़कर, अपने पढ़ने के कमरे में आकर बैठा हुआ था और कुढ़ रहा था[७]।" पाठक मन में कहता है ठीक तो है, कोई समस्या होगी, कोई ऐसी बात होगी जिस पर मतभेद होगा। अतः लड़ाई हो तो हो मेरी बला से, ऐसी लड़ाइयाँ तो आये दिन होती रहती हैं। तब तक लेखक कहता है "लड़ाई मैंने नहीं की थी और निरपेक्ष दृष्टि से देखते कहना पड़ता है कि शायद उसने भी नहीं की थी। वह अपने आप ही हो गई या यों कह लीजिये कि जैसी परिस्थिति हमारी है, उसमे लड़ाई होना स्वाभाविक ही है, उसका न होना ही अचम्भे की बात है। इन पंक्तियों के पढ़ते ही पाठक के कान खड़े हो जाते हैं और वह समझ जाता है कि "ये चितवन कछु और जिहि बस होत सुजान'। यह मानसिक उद्वेग, उत्पीड़न, द्वन्द्व, कुछ निराला है। वैसा है जिस की अभिव्यक्ति आज तक नहीं हुई थी। यह अभिव्यक्ति की वस्तु है ही नहीं। यह तो मनुष्य जीवन की आन्तरिक अनुभूति के इतनी समीप है कि उसकी झंकार पाठक के हृदय मे सहानुभूतिमय प्रकम्पन (Sympathetic vibrations) की अनन्त लहर उत्पन्न कर देगी जिसकी ध्वनि अनन्तकाल तक गूँजती रहेगी, वह कभी भी समाप्त होने वाली नहीं है क्योंकि उसका आदि भी नहीं है। जिसका आदि नहीं उसका अन्त कैसा। वह मानव जीवन के साथ है जैसे ज्वाला के साथ उत्ताप, फूलों के साथ सुगन्ध। वह है, रहेगा, बस। जिस तरह कहानी का प्रारंभ मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है उसी तरह उसके अंत मे भी कम मनोवैज्ञानिकता का परिचय नहीं दिया गया है। अन्त की ये पंक्तियाँ देखिये। "तभी मैंने न जाने क्यों घूम कर देखा, पीछे मेरी पत्नी खड़ी है। और कुछ नहीं है। मुझे घूमते देखकर उसने नीरस स्वर में कहा "चलो रोटी खाओ"

मैंने देखा उस स्वर में क्रोध नहीं है तो प्रेम भी नहीं। वह बिलकुल नीरस है। गृहलक्ष्मी ने लड़ाई को भुला दिया है, किन्तु साथ ही सुलह करने का आनन्द भी खो चुकी है। और मैंने देखा मेरी कहानी भी नष्ट हो गई है।[८]

मैंने एक छोटा सा निःश्वास छोड़कर कहा, चलो मैं आया। इसी तरह की मद

मद आँच, एक प्रबल आवेग से धधक पड़ने वाली नहीं परन्तु धीरे धीरे सदा बनी रहने तथा अहर्निश जलती रहने वाली चिनगारी अज्ञेय की अधिकांश कहानियों के उपजीव्य हैं। उनके पात्र विशुद्ध मानव हैं, भाव है, विचार है, सूक्ष्म है, शरीर नहीं स्थूल नहीं, जहाँ कहीं स्थूलता भी है वहाँ मानसिकता के अवगुण्ठन से आच्छादित है।

'रोज' नामक कहानी

'रोज' नामक कहानी में भी इसी तरह के मनोविज्ञान का चित्रण है। मालती का एक मित्र उसके विवाह के चार वर्षों के बाद जाकर देखता है और उसके दाम्पत्य जीवन के संघर्ष से उत्पन्न उस मानसिक लहर की झलक पाता है जो उमड़ घुमड़ कर, छटपटा कर सारी क्रियाशीलता से परे हो गई हो। मर तो गई हो पर मर कर अमर हो गई हो, अधिक शक्ति सम्पन्न और चोट करने वाली हो गई हो, मानो चढ़ी हुई प्रत्यंचा हो, भरी हुई बंदूक हो, पारा भस्म होकर और भी तीव्र-प्रभाव बन गया हो, अंगूर में रखी हुई दो चार बूंदें खिंच कर तलवार बन गई हो। 'मैंने देखा सचमुच उस परिवार मे, उस कुटुम्ब मे कोई गहरी भयकर छाया घर कर गई हो, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गई है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गई है कि उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि मे घिरे चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं मैंने उस छाया को देख भी लिया।[१] 'इन्दु की बेटी' यद्यपि एक व्यक्ति के अतृप्त वात्सल्य की कहानी है पर इस कहानी के प्रारभिक अंश मे दाम्पत्य जीवन की मनस्थिति को इस अनिवर्चनीय स्तर पर ले जाकर चित्रित किया गया है।

प्रेमचन्द आदि के मानसिक संघर्ष में स्थूलता

प्रेमचन्द तथा अन्य कथाकारों में मानसिक लहर, बेचैनी, व्याकुलता या संघर्ष का वर्णन अवश्य हुआ है और पर्याप्त सजीवता के साथ हुआ है पर कुछ देर तक संघर्ष चलते रहने के पश्चात वह समाप्त भी हो जाता है और समाप्त भी होता है तो कुछ इस तरह कि उसका जरा सा भी चिन्ह नहीं रह जाता। वातावरण ऐसा सुनसान हो जाता है कि मानो वहाँ कुछ हुआ ही नहीं हो। उन कहानियों में एक विशेष समस्या रहती है, वे एक निश्चित issue को लेकर चलती है, उन्हें दो बिछड़े प्रेमियों को मिलाना रहता है, दुष्ट, दुराचारी और मतिमंद खलो को अप्रतिष्ठ, पराजित और विफल-मनोरथ दिखलाने का उत्तरदायित्व रहता है, किसी रहस्य के उद्घाटन का एक ध्येय उनके सामने रहता है। चाहे अभ्यन्तर जगत का हो चाहे बाह्य जगत का हो। पर उनकी मूल कल्पना ही बाह्य उत्तेजक पदार्थ (stumulus) और प्रतिक्रिया (response) को लेकर चलती है, उनका मूलाधार ही इस भावना पर है कि मानसिक संघर्ष को किसी बाह्य स्थूल उत्तेजना (Stimulus) की प्रतिक्रिया के रूप में दिख

लाया जाय। इस निबन्ध में अन्यत्र यह दिखलाया जा चुका है कि बाह्य उत्तेजक पदार्थ (Stimulus) और प्रतिक्रिया (Response) के मध्य की जो अवस्था होती है उसकी अवधि को अपनी प्रतिभा के विपुलाकारक शीशे (Magnifying lense) से विपुलाकार बना कर जो कथाकार जितना ही विस्तृत विवृति में तल्लीन होगा वह उतनी ही मनोवैज्ञानिक कथाकार की प्रतिष्ठा का भागी होगा। अन्य कहानीकारों में बाह्य उत्तेजक पदार्थ और प्रतिक्रिया ये दोनों अपनी पूरी स्थूलता, पूरे वैभव और गौरव के साथ अपनी सत्ता की घोषणा करते हुए वर्तमान है, इनकी धूम धाम में मध्यस्थिति का अस्तित्व नगण्य हो जाता है। जो कुछ मानसिक संघर्ष हैं भी उसमें लेखक ने इतना जोश भरने का प्रयत्न किया है कि उन्हें बाह्य क्रियाओं की स्थूलता का रूप प्राप्त हो गया है। वे मानसिक न रह कर शारीरिक हो गये हैं, विचार न रह कर क्रियाओं की स्थूलता के नगरोपकंठ (Margin) पर विराजमान है।

'धोखा' नामक कहानी का उदाहरण

इस कथन का फलितार्थ प्रेमचन्द की एक कहानी से स्पष्ट हो जायेगा। प्रेमचन्द की एक कहानी है धोखा। यह उस समय की कहानी है जब प्रेमचन्द की कला अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इस कहानी का निर्माण बघौली के राव देवीचन्द्र की एकलौती कन्या प्रभा की एक मनोवैज्ञानिक संवेदना की नींव पर हुआ है। वह एक युवा संयासी की मधुर संगीत ध्वनि "कर गये थोड़े दिन की प्रीत" सुन कर उसके प्रति आकर्षित हो जाती है। नौगढ़ के राजकुमार के साथ पाणिग्रन्थन हो जाने पर उनके साथ आमोद प्रमोदमय जीवन व्यतीत करने पर भी लज्जित रहती और अपने को निर्मल और पवित्र प्रेम के योग्य नहीं पाती। एक दिन राजकुमार उसे अपनी चित्र शाला में ले जाता है और वहाँ अन्य चित्रों के साथ सन्यासी का भी चित्र उसे दिखलाई पड़ता है जिस पर वह अनुरक्त थी। इस प्रसंग पर प्रभा के हृदय की दशा का बहुत ही सजीव प्रदर्शन प्रेमचन्द ने किया है। राजकुमार ने पूछा इस व्यक्ति को तुमने कहीं देखा है। इस प्रश्न से प्रभा का हृदय कांप उठा। जिस तरह मृग शावक व्याधा के सामने व्याकुल हो इधर उधर देखता है उसी तरह प्रभा अपनी बड़ी बड़ी आँखों से दीवार की ओर ताकने लगी। सोचने लगी क्या उत्तर दूं। इसको कहाँ देखा है, उन्होंने यह प्रश्न मुझसे क्यों किया? कहीं ताड़ तो नहीं गये? हे नारायण, मेरी पत तुम्हारे हाथ है। क्योंकर इन्कार करूँ। मुँह पीला हो गया। सिर झुका, क्षीण स्वर मे बोली :—

हाँ, ध्यान आता है कि कहीं देखा है।

हरिश्चन्द्र ने कहा कहाँ देखा है।

प्रभा के सिर में चक्कर आने लगा। बोली शायद एक बार यह गाता हुआ मेरी वाटिका के सामने जा रहा था। उमा ने बुलाकर इसका गाना सुना था।

हरिश्चन्द्र ने पूछा कैसा गाना था।

प्रभा के होश उड़े हुए थे। सोचती थी, राजा के इन सवालों में जरूर कोई बात है। देखूँ आज लाज रहती है या नहीं। बोली उसका गाना ऐसा बुरा न था।

हरिश्चन्द्र ने मुस्करा कर पूछा क्या गाया था? प्रभा ने सोचा इस प्रश्न का उत्तर दे दूँ तो बाकी ही क्या रहता है। उसे विश्वास हो गया आज कुशल नहीं है। वह छत की ओर निरखती हुई बोली सूरदास का कोई पद था। हरिश्चन्द्र ने कहा यह तो नहीं "कर गये थोड़े दिन की प्रीत"

प्रभा की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। सिर घूमने लगा। वह खड़ी न रह सकी, बैठ गई और हताश होकर बोली हाँ, यही पद था। फिर उसने कलेजा मजबूत कर पूछा आपको कैसे मालूम हुआ।"

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त है कि हरिश्चन्द्र उस सन्यासी को अभी बुला लाया कहकर बाहर जाते हैं और दस मिनट पश्चात मस्ताने सुर के साथ योगी की रसीली तान सुनाई दी तो उसे देखकर उसकी आँखों का पर्दा हट गया और प्रेम विह्वल हो पति के चरणारविन्दों पर गिर पड़ी और गदगद कंठ से बोली प्यारे "प्रियतम"। इस तरह की कहानियों की समाप्ति पर पर्दा इतने जोर से गिरता है कि सारी चकमक करने वाली दीपावलियाँ एक साथ ही बुझ जाती हैं और अंधकार का साम्राज्य छा जाता है, जहाँ वातावरण जनसंकुल नगर चतुष्पाथ के यात्रियों के कोलाहल से पूर्ण था वहाँ शमशान भूमि की नीरवता छा जाती है। मेरी दादी जब मुझे कहानी सुनाने लगती थी तो कथा की समाप्ति पर कहती थी "कथा गईल बन में, समझ अपना मन में" और यह सुनते ही हम सन्तोष की सांस ले सोने चले जाते थे। इस तरह की कहानियाँ जिनका उल्लेख अभी किया गया है इसी दादी की कहानी के आधुनिक संस्करण हैं जिनमें घटनाओं का संयोग, उनकी आकस्मिकता की मगरूरता ही सर्वोपरि सरताने खड़ी रहती है। पर अज्ञेय की अलिखित कहानी तथा रोज की टाइप की कहानियों की समाप्ति हो जाने पर भी एक चिनगारी जलती रहती है, पर्दा गिरता तो है पर एक दम निरीह और स्वाभाविक रूप में और मानसिक ज्योति की लौ भी कभी नहीं बुझती। उनकी कहानियाँ जिस मनोविज्ञान की ज्योति से जगमग रहती हैं वह समाप्त होने पर भी बुझती नहीं, झलमलाती रहती है, मजार के दीप की तरह, जहाँ अन्धकार की फौज अन्य कहानीकारों की कृतियों के किरण समूह को निगल जाती है वहा अज्ञेय के मनोविज्ञान की पतली किरण उससे लड़ती रहती है। जहाँ कहीं भी ऐसा अवसर आया है, मतलब ऐसे धड़ाके से होने

वाले अन्त का जो समूल समाप्त कर दें उसको अज्ञेय की कला ने बड़े ही कौशल से टाला है। उनकी कहानी "कविता और जीवन एक कहानी"१० में इस अमनोवैज्ञानिक प्रसंग के जाल से कैंची की तरह पार करते निकल जाना अज्ञेय की कला और सतर्कता की घोषणा है। शिवसुन्दर कविता की खोज में कलकत्ते को छोड़कर हरिद्वार में गुरूकुल के किनारे एकान्त में एक कमरे में रहने लगा। एकान्त निशीथ वेला में नुपुरों की ध्वनि सुनाई पड़ी मानों कोई स्त्री सभ्रान्त गति से चल रही हो। वह उसका अनुसरण करता है। इस प्रसंग को लेकर उसके मानस में जो विक्षुब्धता आई है उसके वर्णन का तो उचित अवसर था ही और लेखक ने उसे पूरा लाभ उठाया भी है पर असल बात जो ध्यान देने की है वह यह कि अन्ततोगत्वा पता चलता है कि वह एक छोटे से बीज भरे पत्ते की करामात थी जो हवा के झोंके में कांप कर बोलता था खनन्। वास्तव में कहानी यहीं समाप्त हो जाती है। शायद अन्य लेखक करते भी यही। पर इसके बाद भी अज्ञेय शिवसुन्दर को गुरूकुल के एकान्त वातावरण से हटा कर हैरपैंडी के जन संकुल वातावरण में प्रतिष्ठित कर उससे कविता या जीवन की मांग का विश्लेषण कराता है। लेकिन शिवसुन्दर वहाँ जाकर भी समझ नहीं पाता कि वह क्या मांगता है। वह इतना ही जानता है कि यह नहीं है जो कुछ उसने मांगा था। वह इतना ही जानता है कि वह क्षुद्र हो गया है, अपनी आँखों से गिर गया है जबकि उसे आशा थी बड़े हो जाने की, स्वामित्व की। अज्ञेय के कहानी साहित्य में अधिकतर उसी मानसिक स्तर के भावों की उसी गहराई का आग्रह है जहाँ पर आकर वे शब्दातीत व अबौद्धिक रूप धारण कर लेते हैं, वे मात्र अनुभूति संवेद्य हो जाते हैं। उन्हें दो चार शब्दों के 'इदमित्थम्' की सीमा में आबद्ध रहना कठिन हो जाता है।

अकलंक

मेरा ध्यान अज्ञेय की एक और कहानी 'अकलंक' की ओर जाता है। जिन उपादानों को लेकर और जिस ढंग से इस कहानी का निर्माण हुआ है वे सब प्रेमचन्द सस्थान के लेखकों के ही हैं। शत्रुओं को आक्रमण में विफल मनोरथ करने के लिये चीनी प्रजातन्त्र के लोग अपने घरों को नष्ट कर इस प्रदेश का परित्याग कर चले जाने का निश्चय करते हैं। पर मार्टिन नमह का एक सैनिक अपने विशाल भवन को नष्ट करने के लिए अपनी प्रेमिका के अनुनय पर भी तैयार नहीं होता। उसका भवन इतना बड़ा है कि उसमें सारा गाँव आश्रय पा सकता है इस लिए उसको नष्ट कर देना अत्यन्तावश्यक है। वह पकड़ा जाता है। उसे प्राणदंड की सजा होती है। परन्तु शत्रु सेना उस प्रदेश पर अधिकार कर मार्टिन के भवन में आश्रय ले विजयोल्लास में मग्न है तब तक एक भयानक धड़ाका होता है और वह विशाल भवन सारे निवासियों के साथ भूतल से उड़ जाता है। यह सब मार्टिन की व्यवस्था थी जिसके रहस्य को वह

सफलतापूर्वक सम्पादित होने के लिए बताने से असमर्थ था। क्रिस्टावेल क्षमा पत्र प्राप्त कर मार्टिन की प्राणरक्षा करने के लिए दौड़ती है। पर सब व्यर्थ। मार्टिन की छाती गोलियों से छिद गई थी। यह कहानी अज्ञेय के प्रारम्भिक काल की कला का उदाहरण है और उनके प्रथम कहानी संग्रह विपथगा में संग्रहीत है। तब तक उनकी कला में पूरी प्रौढ़ता नहीं आई थी। पर उसके बीज तो वहाँ भी वर्त्तमान थे और उसके विकास का दिशा निर्देश कर रहे थे। मार्टिन अपने अन्तिम पत्र में अपनी प्रेमिका को लिखता है "तुम्हें प्रमाण भी मिल जावेंगे कि मैं कायर नहीं हूँ" इसी से कहता हूँ कि अगर अब तुम किसी से प्रेम करो तो ऐसा व्यक्ति चुनना, जिसका तुम अकारण विश्वास कर सको"[११] : यही अकारणता, अहेतुता आगे चलकर मंद मंद आँच पर पकने वाले अन्न के रूप में प्रगट हुई है जिसे हमने one way traffic कहा है।

अज्ञेय की कहानी में आधुनिक मनोविज्ञान की बातें।

इस दृष्टि से अज्ञेय आज हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ मनोविज्ञानक कथाकार हैं जैनेन्द्र ने भी अपनी कहानियों में मनोविज्ञान को अपनाया है पर उनकी दार्शनिक प्रवृत्ति पर्याप्त दूर तक उन्हें अभिभूत किये हुए है, इलाचन्द्र में अवश्य मनोवैज्ञानिक आग्रह बढ़ा चढ़ा है पर उनकी कथा शैली वही पुरानी है। पर अज्ञेय विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कथाकार है। वर्ण्य वस्तु और उसके विन्यास में। 'अलिखित कहानी' की एक विशेषता और भी है कि यह कहानी एक स्वप्न के रूप में कही गई है अर्थात् ऐसे संकेत स्पष्ट हैं जिनसे पता चलता है कि यह पात्र के देखे हुए स्वप्न की ही अवतारणा है। फ्रायड प्रमुख आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि स्वप्न और कला कृति दोनों अपने मूल रूप में इच्छा पूर्ति (wish Fullfilment) है। दूसरी बात की इस कहानी में आधुनिक मनोविज्ञान की दो प्रमुख धारणाओं की चर्चा की गई है। एक तो प्रोक्षेपण की और दूसरे उदात्तीकरण (Sublimation) की। प्रथम का अभिधान तो स्पष्ट शब्दों में किया गया है, प्रोजेक्शन शब्द का ही प्रयोग किया है। उदात्तीकरण (Sublimation) जैसा शब्द नहीं आया है पर लेखक का संकेत किस ओर है इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। "पता नहीं क्यों में चौंककर उठ बैठा। मैंने जाना, मैं वह सब पढ़ नहीं रहा था, वह स्वप्न में ही मेरी कल्पना दौड़ रही थी, वह मेरे जाग्रत विचारों का एक प्रक्षेपण (Projection) मात्र था।"[१२] उसने देखा स्त्री ही समाज की सबसे बड़ी शक्ति है, स्त्री का प्रेम ही संसार की सब से बड़ी प्रेरणा...... जब वह स्त्री से विमुख होता है, तब भी उसकी शक्ति नष्ट नहीं होती, परिवर्तित हो जाती है और कार्यों में लग जाती है। यह हिन्दी कथा साहित्य के लिये नई चीज है, सतर्क होकर मनोविश्लेषण की शब्दावलियों का प्रयोग अज्ञेय की एक विशेषता है।

पहाड़ी जीवन : नाम की कहानी

पहाड़ी जीवन नामक कहानी में[१३] लेखक एक स्थान पर कहता है; उसका (गिरीश नामक पात्र) का चेतन मन उस स्त्री की बात पर विचार कर रहा था और स्वल्प चेतन (Sub conscious) मन निश्चय कर रहा था कि करुणा को पत्र लिखना है। दिगनेलर की कुछ पंक्तियों में आधुनिक मनोविज्ञान की ध्वनि कितनी स्पष्ट है? दुबला लम्बा शरीर बड़ी बड़ी आँखें, लम्बे किन्तु सिर से रुखाई से लटकते बाल, अन्यों से प्राब्लेम चाइल्ड की सी सूरत......बच्चा जब माँ को माँगता है और पाता है केवल एक स्त्री जो किसी दूसरे की पत्नी है, तब उसकी आत्मा दूसरे रास्ते में पड़ कर वह कमी पूरी करना या छिपाना चाहती है संगीत द्वारा, शारीरिक परिश्रम द्वारा आत्म-इपीन द्वारा और सबसे बढ़ कर दिवा-स्वप्नों द्वारा, उस अमोघ अस्त्र रोमांस के द्वारा।[१४] मनोवैज्ञानिकों की शिशु कालीन इडिपस परिस्थिति तथा तज्जन्य ग्रन्थि का मानव जीवन पर पड़े विविध प्रभाव की दृष्टि से इन पंक्तियों का अध्ययन विशेष मनोरंजक होगा।

पुरुष के भाग्य

"पुरुष के भाग्य"[१५] नामक कहानी भी मनोवैज्ञानिक विषय निर्वाचन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। एक स्त्री अपने पैर धूल में उगे हुए दो गीले बालपदचिन्हों की छाप पर पड़ जाने से इतना व्याकुल हो जाती है कि उसका सारा पिन्जर काँप जाता है, वह लड़खड़ाने लगती है फिर सम्हल कर आगे कहती है। यह ऐसा क्यों हुआ, इसी मनोवैज्ञानिक रहस्योद्घाटन के रूप में यह कहानी कही गई है। उसके क्रान्तिकारी पति को प्राणदंड की सजा दी जाती है। स्त्री भी बाद में गिरफ्तार हो सात वर्ष की सजा काटती है। इसी बीच उसे एक पुत्र पैदा होता है जो प्रारम्भिक वर्षों में तो उसके साथ रहने दिया जाता है पर बाद में उसे अलग कर दिया जाता है। वह कदाचित निकलते समय जेल की सीढ़ियों पर गिर कर प्राण त्याग भी कर देता है। ये सब बातें माँ के मन में ग्रन्थि की सृष्टि करती हैं जो जेल से बाहर आने पर उसके जीवन में अनेक विक्षिप्त व्यापार के रूप में प्रकट होते हैं। इस निबन्ध के द्वितीय परिच्छेद में मनोविश्लेषण की प्रथम केस हिस्ट्री दी गई है और अन्ना के कुछ ऐसे ही विवशतापूर्ण अर्द्ध विक्षिप्त व्यापारों का उल्लेख दिया गया है। इस कहानी के स्त्री चरित्र के व्यापारों में और अन्ना के व्यापारों में बहुत साम्य मिलेगा। "ऐनी बोलन की बतखें, चिड़िया घर" इसी श्रेणी की कहानियाँ हैं।

एनीबोलन की बतखे, चिड़िया घर

चिड़ियाघर में[१६] चिड़ियाघर की आत्मा गाइड के रूप में अन्य पशुओं की आत्मा को पढ़ती हुई जब चिड़ियाघर के साहम वाले अंश पर जाती है तो उसका स्वर एक

की कहानियों का इतिहास कथा भाग के निरन्तर ह्रास का इतिहास है। फिर भी 'विपथगा' की कहानियों में भी आत्मनिष्ठता ही अधिक परिस्फुट है। ऊपर (close up) और (slow up) की चर्चा हुई है। "विपथगा" की कहानी "शेखर और तितलियाँ" की कहानी कलागत सब्जेक्टिव क्लोज अप का श्रेष्ठ उदाहरण है। शेखर की मा की मृत्यु हो जाती है और श्मसान भूमि में चिता पर उसकी दाहक्रिया होती है। कहानी इतनी सी है पर यह शेखर की मानसिक स्थिति की विस्तृत विवृति के लिये अवसर प्रदान करती है यही उसका महत्व है। "वे दूसरे" "एकांकी" इत्यादि कहानियाँ इस दृष्टि से दर्शनीय है।

स्वकथोपकथन

कहानियों में मनोवैज्ञानिकता के कारण, मनुष्य की विशुद्ध चेतना की, बिना किसी प्रकार के मिश्रण से विकृत अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के कारण अज्ञेय की कला मे 'स्व-वार्त्तालाप' स्वकथोपकथन की प्रवृत्ति अधिक बलवती दिखलाई पड़ती है। कथाओं में पारस्परिक कथोपकथन के सहारे कथा सूत्र को विकसित करने तथा पात्रों की मानसिक अवस्था को चित्रित करने का काम सदा से लिया जाता रहा है पर ये कथोपकथन दो भिन्न व्यक्तियो के बीच होते थे। अतः किसी पात्र की मनोभूमि में प्रवेश करने के लिए किसी दूसरे का सहारा लेना पड़ता था। अतः किसी अन्य माध्यम के थ्रू वहाँ के दृश्यों के देखने के कारण वे अपने वास्तविक और शुद्ध रूप में दृष्टिगोचर नहीं हो सकते थे, उन पर माध्यम के गुण दोषों का आवरण चढ़ा रहता था जिसके कारण, उनमे स्वल्प ही सही, पर कुछ विकृति आ जाती अवश्य थी। विज्ञान के विद्यार्थी प्रयोगशाला में एक साधारण प्रयोग करते हैं। जलपूरित कांच के गिलास में लकड़ी का वह अंश जो पानी के भीतर है कुछ तिरछा सा दिखलाई पड़ेगा। इसी को वैज्ञानिक शब्दावली में (refraction) कहते हैं। प्रत्येक तरल माध्यम मे वस्तुओं को थोड़ा (refract) कर, थोड़ा वक्र कर देने की स्वाभाविक क्षमता होती है। इसी वक्री-करण-क्षमता के कारण वस्तुओ की रूपाभिव्यक्ति मे थोड़ी वक्रता आ जाती है अर्थात् उनका रूप थोड़ा विकृत होकर सामने आता है। अलाउद्दीन जैसा भोला प्रेमी पद्मिनी के दर्पणगत प्रतिबिम्ब पर भले ही संतोष कर ले पर आज के प्रबुद्ध मनोवैज्ञानिक पाठक को तसल्ली इस तरह गुड़ के मलीदे से नहीं हो सकती। आज का पाठक मनोभूमि के किसी गुह्यतम कन्दरे में रहनेवाली पद्मिनी को शुद्ध निरावरण और निरलंकृत रूप मे देखना चाहता है। प्रत्येक युग की अपनी प्रवृत्ति होती है जो मन्दिर के शीर्ष स्थान पर भी खड़े होकर अपना जयोच्चार करती रहती है, अपने अस्तित्व की घोषणा करती रहती है। यह भी उसी प्रवृत्ति की सत्ता का प्रतीतात्मक ज्ञापन है।

इस प्रवृत्ति का समर्थन अज्ञेय की कहानियों में इस तरह से हुआ कि उनके पात्र अपने आवेश में आकर दूसरों से बातें न कर स्वयं अपने से ही कथोपकथन में प्रवृत्त हो जाते हैं। ये कथोपकथन दो व्यक्तियों में न होकर अपने आप से है। यहाँ वक्ता और श्रोता एक ही है। अथवा ज्यादा से ज्यादा यही कह सकते हैं कि व्यक्तित्व के दो खंड है। इस तरह के स्वकथोपकथन की प्रवृत्ति तो 'विपथगा' में ही प्रारंभ हो गई है पर 'कोठरी की बात' में आकर इसका रंग और भी गहरा हो गया है और परम्परा में आते आते यह अज्ञेय की कला का प्रधान साधन ही बन गई है। 'पैगोडा वृक्ष' नामक कहानी में सुखदा के पास एक व्यक्ति निशीथ बेला में उपस्थित हो आश्रय-प्रार्थी होता है। उसके रंग ढंग संदेहजनक हैं। कदाचित वह क्रान्तिकारी दल का कोई व्यक्ति हो। सुखदा की कुछ बातें सुनिये।

कहीं यह व्यक्ति चोर या हत्यारा तो नहीं है ?

इसे जगा कर बाहर निकाल दिया जाय ?

आश्रय दिया जाय ?

रोटी पानी ?

धमकाने पर यदि वार कर बैठे ?

पर इतना भोला क्यों मालूम होता है ?

बाढ़ में यमुना तैर कर आया है ?

कपड़े अभी गीले ही हैं ?

फिर भी सो ही रहा है !

पागल है : [१९]

परम्परा की कहानी नम्बर दस का कुछ अंश देखिये।

"क्यों रतन दम्भ करे कि उसकी ही बहन बचने की ज्यादा अधिकारिणी है। क्यों नहीं करे दम्भ ! उसकी बहन है ! दूसरों के भी जो भाई हैं वे उसके लिए दम्भ करें।

लेकिन जिनका कोई नहीं है............

सरकार !लेकिन सरकार ने किसी के रुपये की रक्षा का दम्भ तो किया हो है तब तो सरकार ठीक है और वह, वह भी ठीक है।

लेकिन मैं ठीक हूँ तो सरकार भी ठीक है। मैं नहीं हूँ तो सरकार भी नहीं। यानी मैं चोर नहीं हूँ, तो चोर हूँ और चोर हूँ, तो नहीं हूँ। पागल हूँ मैं। जेल ने दिमाग खराब कर दिया है।

लेकिन पागल कहने से छुट्टी मिल जाती है। मैंने सबेरे वे रुपये क्यों नहीं लिये ? जिस ममता की बात सोच रहा हूँ, उसकी रक्षा क्या इस तरह नहीं होती।

यशोदा शायद जीती है। शायद राह देख रही हो उसने दिन गिने होंगे और आज शायद और उस बेवकूफ ने रुपये नहीं लिये और.........

इस तरह स्वकथोपकथन अज्ञेय की अनेक कहानियों में पाये जाते हैं और विशुद्ध चेतना के चित्रण में इसे बहुत सहायता मिली है। अन्य किसी कहानीकार में इस तरह के कथोपकथन का आग्रह नहीं दीख पड़ता।

'जयदोल' कहानी संग्रह में मनोवैज्ञानिक चमत्कार

'जयदोल' नामक संग्रह की कहानियों के अध्ययन से यह पता चल जाता है कि आत्मनिष्ठा, सब्जेक्टिविटि अर्थात् चेतना के विशुद्ध प्रवाह को शब्द में बाँध लेने की प्रवृत्ति घटनाओं की क्या दुर्गति कर दे सकती है, उन्हें क्या बना दे सकती है, घटनाओं की पदार्थता और घनता को वह मानसिक उबाल बिन्दु Boiling Point के तापमान में स्थापित कर उसे तरल और वाष्पीय अवस्था में परिणत कर देती है और इस अवस्था में उनमें कुछ ऐसा गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है कि घटनायें न रह कर एक मानस की लहर बन जाती हैं। वैज्ञानिकों के लिए ध्वनि तरंगों तथा चुम्बकीय तरंगों को विद्युत्तरंगों में परिवर्तित कर उन्हें अभीष्ट सिद्धि में नियोजित करना सहज है, वे आज एक अर्द्धशताब्दी से इस कला का चमत्कार दिखलाते आ रहे हैं। पर बाह्य, ठोस दृढ़ पदार्थों एवं संसार के रंगमंच पर अपनी पिण्डी भूत सत्ता के प्रदर्शननिरत घटनाओं को मानस की लहरों में परिवर्त्तित करने का काम अभी हाल से ही साहित्य के क्षेत्र में होने लगा है। आधुनिक हिंदी कथा साहित्य में इस वर्ग के मनोवैज्ञानिकों का नेतृत्व अज्ञेय के हाथ में है। उन्होंने सतर्क होकर चेष्टापूर्वक कहीं न कहीं मनोविश्लेषण की मान्यताओं को अपने साहित्य में स्थान दिया है। जहाँ ऐसा नहीं हो सका है वहाँ उन्होंने अति साधारण सी घटनाओं को ही अपनी प्रतिभा की आँच से गला कर हमारी मानसिक तरलता के समान-धर्मी बताकर उस से संयोजनीय बना दिया है 'जयदोल' में ११ कहानियाँ हैं। ११ न कह कर ९ ही कहना चाहिये। कारण कि 'कवि-प्रिया' तो एकांकी नाटक की तरह है और 'ग्रेगीन' रोज नामक कहानी के रूप में 'विपथगा' में भी पाई जाती है।[२०] दूसरे में एक व्यक्ति के अपनी पत्नी के सम्बन्ध विच्छेद के अवसर पर विदा माँगने की कथा है। 'जयदोल'[२१] में एक सैनिक के स्वप्न की कथा है। हेली बोन की बतखें[२२] में कथा इतनी है कि एक लोमड़ी बतख को खा जाती थी। अतः उसे गोली से मार दिया गया पर मरणासन्न लोमड़ी पर उसके बच्चे और स्त्री की करुणायुक्त अवस्था से हेली बोन इतनी प्रभावित होती है कि वह अपने बतखों को मार डालती है।" मेजर चौधरी की वापसी[२३] में इतनी सी कहानी है कि मेजर चौधरी को युद्ध कार्य के लिये अक्षम, हो जाने के कारण

घर पेंशन देकर भेजा जा रहा है। 'नंगा पर्वत की एक घटना' में भी एक छोटी सी घटना का ही उल्लेख है। इन कहानियों में किसी बाहरी अति क्षुद्र घटनाओं की अकिंचनता जो पात्रों के मानस सागर का मंथन कर अभ्रंलिह लहरें पैदा कर देती है, चाय की प्याली में जो तूफान उठता सा दीख पड़ता है उसमें से होकर आने वाली ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। वह मानो हमसे कहती है कि मानव मस्तिष्क को तरंगायमान करने के लिये किसी बाहरी घटना की आवश्यकता ही क्यों हो। शान्त सरोवर में लहरें उठाने के लिए बाहर की कंकड़ी की अपेक्षा ही क्यों की जाय। क्यों न उसका हृदय अपनी ही इच्छा से लहरा कर चंचल हो उठे। द्वितीयतः, यदि किसी बाह्य घटना (जिसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहिये स्टुमलस (Stimulus)) आये ही तो स्टुमलस और उसके प्रतिक्रिया के सानुपातिक महत्व को ही क्यों स्वीकार किया जाय? क्या आवश्यकता है कि मानव हृदय की प्रतिक्रियाओं की विशालता उग्रता, त्वरा, सकुलता बाह्य (Stimulus) के गौरव की अनुपातिकता का अनुसरण करें। क्यों नहीं बाहर से दीख पड़ने वाली नगण्य और क्षुद्र घटना मानव मस्तिष्क में या उसके अन्तःकरण में एक ऐसी लहर की सृष्टि करे जिसकी ध्वनि और प्रतिध्वनि जीवन पर्यन्त गुंजारित होती रहे। 'पठार का धीरज'[२४] नामक कहानी मे लेखक कहता है, लेकिन यथार्थता के स्तर है स्थूल वास्तव फिर सूक्ष्म वास्तव जिसमे हमारे भाव का भी आरोप है। फिर क्या और भी कोटियाँ नहीं हैं जहाँ भाव ही प्रधान हो जहाँ तथ्य नहीं पहचाना जाय। जहाँ वह व्यक्ति जीवन के प्रसार में गहरी लीकें काट गया हो, नहीं तो और पहचानने का कोई उपाय न हो। क्योंकि व्यक्ति जीवन के क्षण का स्पन्दन इतना तीव्र हो कि सब कुछ उसी की गूंज रही हो और कोई ध्वनि न सुनी जा सके।[२५] इस तरह की मनोवैज्ञानिक छान बीन अज्ञेय की कहानियों की अपनी विशेषता है। अपने पात्रों को एक ही समय दो या तीन मानसिक स्तर पर जीवित तथा प्रतिक्रिया करने की ओर इतनी दृढ़ता के साथ किसी दूसरे कथाकार का ध्यान नहीं गया है शायद जैनेन्द्र का भी नहीं।

पाद टिप्पणियाँ

(1) Supernatural in Fiction by Peter Penzoldt Peter Nevill P 18 (२) वही पृ० १६ (३) श्री मद्भगवद् गीता का प्रथम श्लोक (४) आकाशदीप, जयशंकर प्रसाद द्वितीय संस्करण सं० १६६६ पृ० १५ (५) कृत्रिम उपायों से जिनमें समय के पूर्व ही फल उगाया जाता। (६) परम्परा, द्वितीय संस्करण १६४६ पृ० २६ 'अलिखित कहानी' (७) वही। (८) वही (९) विपथगा प्रथम संस्करण संवत् १६६२ भारती भण्डार लीडर

प्रेस, प्रयाग पृ० १४१ (१०) परम्परा की १६ वीं कहानी (११) विपथगा, प्रथम संस्करण सं० १९९५ पृ० १६६ (१२) परम्परा, पृ० २३, द्वितीय संस्करण अप्रैल १९४६ (१३) परम्परा की तीसरी कहानी पृ० ३२ (१४) परम्परा की १४ वीं कहानी पृ० १३१ (१५) परम्परा की २१ वीं कहानी (१६) परम्परा की २० वीं कहानी पृ० १७० (१७) परम्परा की १७ वीं कहानी (१८) परम्परा की १६ वीं कहानी (१९) विपथगा, प्रथम संस्करण पृ० ४६ (२०) जयदोल की छठीं कहानी (२१) जयदोल की ११ वीं कहानी (२२) जयदोल की ५ वीं कहानी (२३) जयदोल की १० वीं कहानी (२४) जयदोल की १ ली कहानी (२५) जयदोल, प्रथम संस्करण, पृ० ११

दशम अध्याय

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास और मनोविज्ञान

प्राक्कथन

इस अध्याय में हम इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों का अध्ययन इस दृष्टि से करेंगे कि कहाँ तक उनमें नूतन मनोविज्ञान का प्रभाव पड़ा है। जोशी जी आज के औपन्यासिकों मे अग्रगण्य हैं। उनका अध्ययन विस्तृत है, भारतीय और विदेशी साहित्य दोनों का। आधुनिक युग के मनोविज्ञान के भिन्न भिन्न सिद्धान्तों का इन्हें पूर्ण परिचय है और आपने मनोविज्ञान पर एक पुस्तक भी लिखी है। हाल ही में हिंदी साहित्य सम्मेलन के द्वारा प्रकाशित 'विवेचना' नामक लेख संग्रह में हिन्दी उपन्यासों पर उनके कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण लेख संग्रहीत हुए हैं जिनके अध्ययन से उनके दृष्टि कोण का पता चल सकता है। उन्होंने लिखा है कि

"शराब खोरी और वेश्यागामिता के झुकाव का कारण खोजने के लिये वह उपन्यासकार केवल बाहरी सामाजिक कारणों को ही नहीं खोजेगा बल्कि उसके विकृत अहं के प्रत्येक स्तर को चीर चीर कर उसके भीतर से ही मूल कारण खोज निकालेगा। वह उनके यथार्थ भीतरी रूप को अनावृत रूप में जनता के आगे रख कर उनका भण्डाफोड़ करके समाज को उनके खतरे से बचते रहने के लिये सचेत करेगा।"[1]

अपने उपन्यासों की भूमिका में भी उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये हैं। इन सबसे स्पष्ट है कि उन्होंने आग्रहपूर्वक मनोविज्ञान को अपने उपन्यासों में स्थान दिया है, जान बूझ कर उसे अपनी रचनाओं का उपजीव्य बनाया है। वे उन उपन्यासकारों में नहीं हैं जिनकी रचनाओं मे स्वभावतः मनोवैज्ञानिकता का रंग आ जाता है। नहीं, उनमें रंग बड़ा ही गाढा है और उन्होंने गाढ़ी से गाढ़ी मनोवैज्ञानिक स्याही से अपनी पुस्तकें लिखी हैं। यद्यपि वाह्य दृष्टि से तो वे प्रेमचन्द्र जी की वर्णनात्मक शैली के ही अनुयायी मालूम पड़ते पर हैं पर दोनो मे बहुत ही अंतर है।

मनोविज्ञान और "प्रेत और छाया"

पं० इलाचन्द्र जोशी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है "प्रेत और छाया।" यह उपन्यास पर्याप्त बड़ा है और ४६ परिच्छेदों में समाप्त हुआ है। ग्रंथारम्भ के पूर्व एक लम्बी भूमिका है जिसमें लेखक ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उस भूमिका का मूल स्वर यही है कि :

सभी प्रकार के जीवन चक्रों की मूल परिचालिका शक्ति है विश्व मानव की अज्ञात चेतना...अंतर्जीवन और अज्ञात चेतना से सम्बन्धित रचनाओं की उपेक्षा करने से काम न चलेगा इत्यादि इत्यादि।

उन्होंने बड़े सशक्त और सजीव शब्दों में साहित्यिकों से अपील की है कि वे "इस अज्ञात और अर्द्ध-ज्ञात चेतना को अपनी क्रियात्मक प्रतिभा की किरणों के स्पर्श से चमत्कृत कर पाठकों के सामने रखें और उन्हें जीवन को मूल रूप से संचालित करने वाली वास्तविकता से परिचित करायें। क्योंकि शांति की स्थापना तब तक सम्भव नहीं जब तक मानव समाज अन्तर्जीवन को उतना ही बल्कि अधिक महत्व नहीं देता जितना कि बाह्य जीवन को। उन्हें दबा देने से काम नहीं चलेगा। इतिहास ने हमें स्पष्टतापूर्वक बता दिया है कि उन्हें अस्वीकार करना शतुर्मुर्ग वाली नीति से कुछ अधिक अच्छी न होगी जो आँख मूँद लेना ही खतरे को टाल देना समझती है। रह गई उनके आकस्मिक विस्फोट होने की बात। यह तो होकर ही रहेगा। पर क्या कोई भी व्यक्ति इस परिस्थिति को शांत चित्त से देख सकता है जिसमें एक पर एक आने वाले विस्फोट हमारे वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को जड़ से उन्मूलन कर देने की धमकी देते रहें। तब हमारे सामने अपनी समस्या के हल का एक ही उपाय रह जाता है और वह यह है कि हम उन प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण करें, उन्हें दबायें नहीं पर उन्हे अपने मनोनुकूल मार्ग की ओर प्रेरित करें"।[२]

इन्हीं बातों की आधार-शिला पर 'प्रेत और छाया' की विशाल इमारत की नींव रखी गई है। इस उपन्यास का नायक पारसनाथ नामक नवयुवक है। इसको लेकर लेखक ने फ्रायडियन मनोविज्ञान के कुछ तत्वों के निरूपण करने का प्रयत्न किया है। इसमें इडिपस ग्रन्थि की भी बात आ गई है क्योंकि इससे पिता के प्रति पुत्र के दुर्भाव की बात की प्रधानता है। माता और पिता से बालक के संघर्ष की भी चर्चा है। यह फ्रायड का ही प्रभाव था कि आंग्ल साहित्य में ऐसे कथाकारों का सम्प्रदाय हो गया है, जो अभी वर्तमान है, जिसने जीवन के संघर्ष को भी स्थूल और शाब्दिक अर्थों में लेने की कोशिश की है और विशेषतः स्त्री पुरुष की प्रतिद्वन्द्विता को आवांछित रूप में उभार कर दिखलाया है।

D. H Lawrence के उपन्यासों को पढ़िये तो उसमें दाम्पत्य जीवन का जो चित्र सामने आयेगा वह ऐसे दो प्राणियों का होगा, जो शत्रुओं का होगा जो निरन्तर पारस्परिक संघर्ष में निरत हैं, जो एक दूसरे को दबोच लेना चाहते हैं और कोई पराजय स्वीकार नहीं करता। मानो वे पति पत्नी न हो चूहे और बिल्ली हो अथवा साँप और नेवला। पति और पत्नी की बात छोड़ दीजिये। लारेन्स के उपन्यास ने पात्रों को मिथुनाचार से यद्यपि एक क्षणिक आनन्दोपलब्धि होती है पर साथ ही साथ उनमें

एक दुर्दान्त विकृत घृणा के भाव के विकास की भी नींव पड़ती है। प्रेम के पार्श्व में ही घृणा और वैर फुफकारते से दिखाई पड़ते हैं, प्रणय और प्रीति के गर्भ से जैसे घृणा और वैर भाव के बीज विकसित हो रहे हों मानो मानव तृप्ति की लालसा से विकल हो और उसी की खोज में अपने जीवन का कोना कोना झाँक आया हो। पर हाय, यह उसके भाग्य में नहीं लिखा है। उसे अपने अन्दर कभी भी गम्भीर तृप्ति प्राप्त नहीं हो सकती। उसे इसकी उपलब्धि अपने से बाहर ही हो सकती है और वह भी नारी के कोमल अंक में। "आत्मन्येवात्मना तुष्टा" वाला सिद्धान्त मनुष्य के लिए अपर्याप्त है उसे अपने से बाहर नारी के आश्रय की चाह करनी ही पड़ेगी। हाँ, नारी के अंक की क्योंकि नर का अंक तो प्रकारान्तर से उसी का अंक होगा न। अतः नर में नारी की और नारी में नर की तलाश बनी ही रहेगी। यह अखण्ड सत्य है पर यह भी उतना ही सत्य है कि वे एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते रहेंगे क्योंकि माना कि नर में नारी के आश्रय की उत्कट अभिलाषा है, उसके अभाव में उसका जीवन अत्यन्त अपूर्ण है पर साथ ही साथ नर मन ही मन अपनी इस पराधीनता और परा-मुखापेक्षिता पर लज्जित भी है। जिस व्यक्ति ने उसे इस तरह अधीनस्थ कर रखा है कि उसके बिना उसका जीवन खोखला यंत्र मात्र होकर रह गया है, उसे वह घोर जीवन व्यापी सघर्ष में निरत रहने की बाध्यता उत्पन्न कर देने वाली शक्ति के रूप में देखता है और उसे चूर चूर कर अपने जीवन से सदा के लिए कटंक को दूर कर देने का स्वप्न देखा करता है। लारेन्स के उपन्यास में नारियों को आनन्द की चरमोप-लब्धि तब होती है जब ये अपने प्रेमियों की खोपड़ी चूर चूर कर देने का प्रयत्न कर देती हैं। इस उपन्यास में भी प्रारम्भ में स्त्री के प्रति पुरुषपात्र घोर तिरस्कार, अविश्वास और एक कलुषित दृष्टि से देखते हैं। वे उन्हें व्यभिचारिणी, स्वैरिणी, कामुक, पर-पुरुषोपभोगलोलुप, स्वार्थी और दुष्टात्मा के रूप मे देखते हैं। पुत्र पिता को तिब्बती मानव के रूप में देखता है और उसी नाम से पुकारता है।

जब से एक बार पारसनाथ के पिता ने उसे यह बात बतलाई कि वह उसका असली पुत्र नहीं है। उसकी माता का गुप्त व्यभिचारिक सम्बन्ध किसी शिवशकर वैद्य से था और इस अवैध सम्बन्ध और उससे उत्पन्न जटिलताओं से बचने के लिये उसे कुलटा माँ के कारण ही में अपने गाँव की जमींदारी को छोड़ कर कालिम्पोंग आना पड़ा तब से उसके मन मे एक बड़ी ग्रन्थि बनकर रह गई है जिसने जन्म भर उसे बेताब बनाये रखा जब तक यह ग्रन्थि खुली नहीं। उस घटना के बाद से पारस-नाथ के भीतरी जीवन में एक भयकर परिवर्तन आ गया उसे ऐसा मालूम होने लगा कि जीवन के प्रभात में जो एक रहस्यपूर्ण प्रकाशमय निर्मल आकाश एक अज्ञात किंतु मनोहर छवि लेकर उसकी आँखों के आगे उतरा था उस पर किसी ने अपने दानवी

हाथ से केवल एक ही बार ब्रुश फेर कर एक ओर से दूसरे छोर तक गाढ़ कालिमा-मय कोलतार पोत दिया है। उस कोलतार की पुताई अब मृत्यु पर्यन्त नही मिटने की। यह ध्रुव विश्वास उसके मन मे जम गया। जिस मर्मघाती भयंकर घृणा और कुटिल प्रतिहिंसा की मुद्रा से वह भूकम्प और अग्नि विस्फोट पैदा करने वाली बात उसके पिता ने उससे कही थी वह आधीरात की एक विकराल भौतिक छाया के रूप मे उसके मस्तिष्क के भीतर प्रवेश कर गई और तब से सैकड़ो तरीकों से झाड़ फूंक करने पर भी वह छाया उसके भीतर से न हटी, बल्कि अधिकतर दृढ़ता से अपना आसन जमाती चली गई अर्थात् यह बात उसके मन में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, एक भयंकर ग्रन्थि के रूप में जम गई। सारी स्त्री जाति मात्र मे वह अपनी व्यभिचारिणी माता जारज संतान उत्पन्न करने वाली माता की छाया देखने लगा। जिस जाति के एक सदस्य ने उसे एक घृणित और समाज में तिरस्कृत जारज संतान का रूप दे दिया उसे वह कभी भी क्षमा नही कर सकता। जहाँ तक हो सकेगा वह अपने हृदय मे सुलगती ज्वाला से उसे जला कर भस्मीभूत और नेश्तनाबूद करेगा। यही कारण है कि चाहे काँची से, चाहे मंजरी से, चाहे नन्दनी से प्रारम्भ में वह कितना ही सहृदयता तथा स्नेह और उदारता का व्यवहार करता हो पर जब असली समय आता है अर्थात् विवाह का समय आता है वह उन्हें धुता देकर, धोखा देकर, उनका सर्वस्व अपहरण कर उन्हे दर दर की भिखारिणी बना कर चलता बनता है। हाँ, हीरा के साथ वह अवश्य दाम्पत्य के पवित्र सूत्र में विधिवत् आबद्ध होकर व्यवस्थित गृहस्थ का जीवन व्यतीत करने लगता है पर कब? जब अपने पिता के मुख से उसे यह बात मालूम होती है कि उसकी माँ सती साध्वी थी और उसने भूल से किसी गलतफहमी में पड़ कर उसके चरित्र पर दोषारोपण किया था। यह चमत्कार तभी सम्भव हो सका जब उसके हृदय का काँटा निकल गया उसके पूर्व नहीं अर्थात् जब तक उसके अन्तस्थल में पड़ी हुई ग्रंथि न खुली।

फ्रायडियन मनोविज्ञान में इस तरह की मनोग्रन्थियो का मनुष्य के जीवन मे बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। दूसरे अध्याय में इस बात की चर्चा हो चुकी है कि ये मनोग्रन्थियाँ किस आश्चर्यजनक, अप्रत्याशित और अकल्पित रूप में फूट पड़ती हैं। कभी कभी तो आपके प्रति स्नेह से भरे रहने वाले, अपने हृदय के रस से आपके जीवन वृक्ष के मूल को सींचने वाले, आपके लिये प्राणों का उत्सर्ग कर देने वाले व्यक्तियों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष और घातक ग्रन्थियों की गाँठ पड़ जाती है। ऐसा भी होता है कि आपसे शत्रुता करने वाले, आपके जीवन के घात में बैठे रहने वाले, पद-पद पर आपको सत्यानाश के मार्ग मे ढकेलने वाले व्यक्तियों के प्रति आपके हृदय मे बड़ी कोमल भावनायें जग जाती हैं, आप उनके प्रति बड़े ही कोमल भाव धारण किये

रहते हैं तथा आपके हृदय में उनके लिये बड़ी कोमल गाँठ पड़ी रहती है। उनमें से तो कुछ गाँठें छुड़ाई जा सकती हैं और कुछ का छुड़ाया जाना असम्भव है। मानव मस्तिष्क की किन क्रियाओं द्वारा यह सम्भव है यह द्वितीय परिच्छेद में बताया जा चुका है। यहाँ उनकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

किडनैप्ड कहानी में मनोविज्ञान

पं० इलाचन्द्र जोशी के कहानी संग्रह 'रोमान्टिक छाया' में एक कहानी है 'किडनेप्ड'। इस कहानी की नायिका सम्मोहिनी एक फिल्म में काम करने वाली नायिका है। वह एक नवयुवक को बबई अपने साथ भगा कर लाती है। कुछ दिनों तक उसके साथ बड़े ही घनिष्ट भाव से तथा प्रेमपूर्वक आनन्दोल्लास पूर्ण जीवन व्यतीत करती है पर जब नवयुवक की ओर से विवाह के द्वारा स्थायी सम्बन्ध में आबद्ध हो जाने का प्रस्ताव होता है तब वह उसे ठुकरा देती है और उसके बाद वह उसके प्रति उदासीन हो जाती है। तत्पश्चात् दो तीन पुरुषों के साथ यही क्रम चलता है जो आत्म हत्या कर लेते हैं। अन्त में एक प्रणयी से उसका विवाह हो जाता है जो शीघ्र ही उसके आभूषण धन इत्यादि का अपहरण करके उसे रुग्णावस्था मे छोड़ कर तिल तिल मरने के लिये छोड़ कर चम्पत हो जाता है। उसके प्रथम प्रणयी को जिसे वह भगा कर लाई थी जब सम्मोहिनी की इस विपन्नावस्था का पता चलता है तब वह उसके पास जाकर बड़ी तत्परता के साथ उसके रोग का उपचार करता है जिसके फलस्वरूप वह स्वस्थ हो जाती है। एक दिन अवसर देख कर वह नवयुवक सम्मोहिनी से अचानक प्रश्न कर बैठता है "तुम्हारे पति का कोई संवाद मिला इस समय है कहाँ बबई में या?...इसके उत्तर मे जिस घृणा और आक्रोश भरे शब्दों में वह उत्तर देती उससे फ्रायडियन मनोविज्ञान के अध्ययन की पर्याप्त सामग्री मिलेगी।

"पर भूल कर भी यह न समझना कि चूंकि तुमने अपनी सेवा टहल से मुझे मरने से बचाया इसलिये तुम्हारी कृतज्ञ रहूँगी। नहीं, तुमने कृतज्ञता के योग्य कोई भी काम नहीं किया है। मै खूब जानती हूँ कि तुमने मुझे मरने से क्यों बचाना चाहा। तुम्हारे त्याग और सेवा की भावना के नीचे मुझे स्वयं अपनी आँखों से लज्जित करने का उद्देश्य छिपा था...अपने छोटे जीवन मे पुरुषों की घोर हीनता और स्वार्थ से मिश्र घृणित वृत्तियों के सम्बन्ध मे जो अनुभव मुझे है उन्होंने जीवन और जगत के सम्बन्ध में एक बिल्कुल ही नयी दृष्टि दे दी है।.... मैने कोई भाई अपनी माँ की कोख से नहीं पाया। फल यह हुआ कि बचपन में अपने साथ की दूसरी लड़कियों को अपने भाइयों पर स्नेह बरसाते देखकर मेरी सहज आकांक्षा मचल मचल कर रह जाती थी.. जब लखनऊ में तुम्हे मेरा परिचय हुआ ..तो मेरा मातृ प्रेम पूरे वेग से उमड़ पड़ा...जब और भी दो दुर्घटनायें मेरी इस अनोखी और भोली स्नेह भावना

के कारण हुई तो अन्त में मेरी कुछ आँखें खुली। इसलिए जब अन्तिम व्यक्ति मेरे हृदय के उसी कोमल और करुण भावना का अधिकारी बनने के बाद एक दिन विवाह का प्रस्ताव कर बैठा तो मैंने केवल इस डर से प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया कि कहीं वह भी आत्मघाती काण्ड न कर बैठे...निश्चित परिणाम पर पहुँच गई हूँ कि स्त्री के संबंध में पुरुष की श्वान वृत्ति ही अधिक उमड़ी रहती है। इसलिये नमस्ते तुम अपने रास्ते जाओ और मैं अपने"।

इस विकलांग और कटे छटे उद्धरण से सम्मोहिनी की बातों के आवेग और वेगमयता के साथ पूरा न्याय तो नहीं हो सकता पर फिर भी भाई और बहिन का फ्रायडियन प्रेम तथा "अटपट गति से चलने वाली प्रगति का आभास मिल ही जायेगा।

आधुनिक और पूर्वकाल के उपन्यासों की प्रेम चर्चा में अन्तर

हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचन्द जी अथवा उसके पूर्व भी पति और पत्नी में मनोमालिन्य तथा संघर्ष की चर्चा ही नहीं थी सो बात नहीं। 'रंगभूमि' में इन्दु तथा महेन्द्रकुमार के चरित्र की ओर देखने से पता चलेगा कि दाम्पत्य जीवन में भी कलह और संघर्ष की विभीषिका की अग्नि की लपटों तरह फैल कर हरे भरे उद्यान को झुलसा दे सकती है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द जी ने दोनों व्यक्तियों को पाँच या छः बार पाठकों के सामने उपस्थित किया है और दोनों तने हुए, भरे हुए दिल में गुबार लिये हो मानो दोनो पति और पत्नी न होकर शाश्वतिक विरोधी हो। उपन्यास में हम सब से पहिले इन्दु को अपने पिता कुँवर भरतसिंह के यहाँ देखते हैं जहाँ सोफिया अग्निकांड से पीड़ित होकर चार महीनों खाट पर पड़ी पड़ी पड़ी स्वास्थ्य लाभ कर रही है। तत्पश्चात महेन्द्रकुमार जी के यहाँ से उनके लिये बुलावा आता है। वह मिस सोफिया को भी अपने साथ कुछ दिनों के लिये ले जाना चाहती है और इसके लिये उससे कह कह कर वचन भी ले लेती है। पर महेन्द्रकुमार जी के सामने इन्दु जब प्रस्ताव रखती है तो वे स्वीकार नहीं करते। महेन्द्रकुमार किसी तरह राजी न हुए। इन्दु रोई, अनुनय विनय की, पैरों पड़ी वे सभी मंत्र फूंके जो कभी निष्फल नहीं होते। पर पति का पाषाण हृदय न पसीजा। उन्हें अपना नाम संसार की सब वस्तुओं से प्रिय था - इधर इन्दु भी यह सोचती है "...उन्हें तो यह मंजूर है कि वह दिन भर अकेली बैठी अपने नाम को रोया करे। दिल में जलते होंगे कि सोफी के इसके साथ दिन भी आराम से गुजरेंगे। मुझे कैदियों की भाँति रखना चाहते हैं। उन्हें जिद करना आता है तो क्या मैं जिद नहीं कर सकती..."[3] दूसरा अवसर वह आता है जब सेवा समिति के सदस्य गढ़वाल जा रहे हैं और इन्दु उन्हें बिदा करने स्टेशन पर जा रही है। महेन्द्र कुमार जी इसे पसन्द नहीं करते क्योंकि वे हाकिम हुक्काम की नजरों में गिर जायेंगे राजा साहब

कहते हैं। "मालूम होता है हमारे और तुम्हारे ग्रहों में मौलिक विरोध है जो पग-पग पर अपना फल दिखलाता रहता है। इधर इन्दु भी सोचती है आह, क्या वस्तुतः हमारे ग्रहों में कोई मौलिक विभेद है जो पग-पग पर मेरी आकांक्षाओं को दलित करता रहता है। मैं कितना चाहती हूँ कि उनकी इच्छा के विरुद्ध एक भी कदम न चलूँ पर यह प्रकृति विरोध मुझे हमेशा नीचे दिखाता है[४]।

उसी तरह सेवा सदन, प्रेमाश्रम, गोदान इत्यादि उपन्यासों में भी दाम्पत्य जीवन के भीषण संघर्ष की कमी नहीं। गोदान के होरी और धनिया प्रेमाश्रम के दम्पति श्रद्धा और प्रेमशंकर और सेवा सदन के पात्र गजाधर और सुमन मेरी बातों के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। प्रेमचंद जी के बाद के उपन्यासों तथा कहानियों में भी स्त्री और पुरुष के संघर्ष का चित्रण होता है, उनके जीवन को निरन्तर मौलिक विरोधी तत्वों को समर-स्थली के रूप में चित्रण करने का प्रयास किया गया है। पर किसी भी साहित्य और जीवन के निरीक्षक से एक बात छिपी न होगी। वह यह कि यद्यपि दोनों वर्गों के लेखक एक ही चीज का वर्णन और चित्रण करते हैं पर वे मूलतः भिन्न हैं उनमें मौलिक विभिन्नता है। उनके दृष्टिकोण में विभिन्नता है जो उनके खींचे चित्रों में स्पष्ट रूप से झलक पड़ती है। इन दोनों चित्रों में क्या अन्तर है उसे हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। कल्पना कीजिये दो चित्रकार हैं और दोनो एक सिंह का चित्र खींचना चाहते हैं। एक ने ऐसे सिंह का चित्रण किया है जो मंदिर में प्रतिष्ठित है तथा ऐसे सिंह का जो बुद्धदेव की करुणा और मैत्री के उपदेशों को उद्ग्रीव हो भाव-मग्न हो श्रवण कर रहा है, उसकी गर्दन झुकी हुई है, आँखें मूंदी हुई हैं, जटायें लटी हुई हैं। दूसरे ने एक ऐसे सिंह का अंकन किया है जो जंगल का राजा है, जिसकी दहाड़ से वन के सारे पशु लोक में तहलका उत्पन्न हो जाता है, दुनिया थर्रा उठती है और जो अपनी गुफा से अपनी पूँछ पटकता शिकार की खोज में निकला है। दोनों सिंह के ही चित्र हैं, दोनो में सिंहत्व है, दोनों गुर्रा सकते हैं, दोनो तड़प सकते हैं पर प्रथम चित्र द्वितीय चित्र की तरह हृदय में आतंक उत्पन्न नहीं कर सकता। सब कुछ होते हुए भी हम प्रथम सिंह को पास से देख सकते हैं, उससे यथा संभव लाभ भी उठा सकते हैं तथा अपने परिवार का (दूरस्थ ही सही) सदस्य समझ सकते हैं पर दूसरे के पास फटकने की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। उसकी मूर्ति हमारे हृदय में भय का संचार कर देगी और एक ऐसे जीवन की मूर्ति हमारे सामने आयेगी जो सदा हमें निगलने को तैयार हो। प्रथम चित्र के चित्रकार प्रेमचंद तथा उनके पूर्ववर्ती कलाकार हैं द्वितीय के चित्रकार आधुनिक कथाकार हैं। एक सिंह को सिंह कहेगा, Spade को Spade कहेगा, उसे सारी पारिपार्श्विक परिस्थितियों को तोड़ कर देखेगा, मौलिक रूप में देखेगा, चीर फाड़ कर देखेगा। दूसरा कहेगा माना सिंह,

सिंह है, हिंसक जीव है पर हिंसकता तो उपाधि है, वह सिंह होने के पहिले जीव है उसका सिंहत्व उसके जीवन पर हावी नहीं हो सकता। उसका भी आदिस्रोत वही है जो सबका है; वहाँ पर कल्याण है, मंगल है, मैत्री है, हिंसा और विरोध नहीं; वही चिन्मय मौलिक तत्व सत् है, शेष असत् है। वही सत् सर्वप्रबल है उसे ही खोजो। यहाँ जो संघर्ष दिखलाई पड़ता है वह इसलिये है कि वह सत् और चित् को निखार कर हमारे सामने लाता है और उसे स्पष्ट रूप में हमारे सामने रखता है। एक इस जीवन की विविधता, विचित्रता और विभिन्नता (Diversity) के घटाटोप में भी मौलिक एकता (unity) को पकड़े रहेगा। दूसरा एकता को जानते हुए भी विविधता और विभिन्नता पर जोर देगा और कहेगा कि इस नित्यप्रति आँखों के सामने टकराने वाली ऐसी विभिन्नता के सामने वायव्य सूक्ष्मता को पीछे फिदा होना दीवानों का काम है। हम जीवन को चीर फाड़ कर देखेंगे। उस चीर फाड़ में जो हमारे हाथ लगे उसे ही हम अपने जीवन व्यापार का आधार स्तम्भ समझेंगे। हमारा दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक है और तुम्हारा संश्लेषणात्मक। आज का मनोविज्ञान भी तो विश्लेषणात्मक है। हम उसे ही क्यों न ठीक समझें? हम प्रेमचंद तथा उनके पूर्ववर्त्ती युग को पीछे छोड़ आये हैं। हम आधुनिक मनोवैज्ञानिक कथाकार हैं।

पं० इलाचन्द जोशी के 'प्रेत और छाया' नामक उपन्यास का पारसनाथ नन्दिनी का निमंत्रण पा उसके पास पहुँचता है तो नन्दिनी के पति भुजेरिया जी वहाँ दिखलाई नहीं पड़ते। पारसनाथ की इस जिज्ञासा पर कि उनकी अनुपस्थिति का क्या कारण है वह धर्म-पत्नी अपने पति महोदय के सम्बन्ध में ऐसे विशेषणों का प्रयोग करती है कि सभ्यता बिचारी त्राहि त्राहि कर उठे। यहाँ तक कि पारसनाथ सोचने लगता है कि असन्तुष्ट होने पर भी कोई पत्नी किसी गैर शख्स के आगे खुले शब्दों में ऐसी कटुता के साथ अपने पति के गुप्त रहस्यों का भण्डा फोड़ करके सान पर चढ़ी हुई छुरी की धार से भी तीखी आलोचना कैसे कर सकती है? यह बात उसकी कल्पना के अतीत थी। एक बार अपने पति के सम्बन्ध में बातें करती हुई वह कह उठती है "आप नहीं जानते यह महाशय कितने बड़े अर्थ पिशाच हैं? रुपयों के लिये यह क्या नहीं कर सकते? ऐसा कोई दुष्कर्म नहीं है। रुपये की खातिर, अब आप से क्या छिपाऊँ, यह मेरी इज्जत तक उतारने में उतारू हो गये थे। जिन राजा साहब का जिक्र मैंने अभी आपसे किया है उन्हीं के साथ कुछ दिनों के लिये मुझे बेचने की बात तय कर चुके थे ... श्मशान के चण्डाल के साथ रहना पड़ता है। वह इस घात में बैठा है कि कब मैं मरूँ और कब वह मेरा कफन उतार कर उसे बेच कर जो कुछ भी रुपया मिले उससे लाभ उठाये।"[५] मैं यह कहना चाहता हूँ कि आधुनिक मनोविज्ञान के प्रभाव में आकर आधुनिक कथाकारों ने पति पत्नी को निरंतर

संघर्ष-रत तथा शाश्वतिक विरोध में संलग्न प्राणी के रूप में चित्रित किया है। यह बात प्रेमचन्द तथा उनके पूर्ववर्ती कथाकारो के लिये कल्पनातीत थी। फ्रायड की अनेक मान्यताओ में से एक मान्यता है परस्पर विरोधी भाव प्रवणता (ambivalence) की। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य में दो तरह की परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियाँ पास ही पास प्रवाहित होती रहती हैं। यदि हम किसी से प्रेम करते हैं तो साथ ही घृणा के भाव भी लगे रहते हैं। यदि व्यक्ति घृणित है तो उतनी ही मात्रा मे प्रिय भी है। यदि वह हमें दूर फेंकता तो एक ओर खींचता भी रहता है, यदि उसमें आकर्षण है तो विकर्षण भी है। Love and hate are basically the same kind of response अर्थात् प्रेम और घृणा, आकर्षण और विकर्षण, खिचाव और तनाव दोनों विपरीत से लगने वाले भावों में मूलगत एकता है। फ्रायडियन मनोविज्ञान का जो अध्ययन द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है उसे पढ़ कर मन में यह धारणा बँधती है कि उसका प्रमुख उद्देश्य यह है कि हम मनुष्य के क्रिया कलापों के रहस्य को समझें, उसके परस्पर विरोधी असम्भव, असंगत तथा उटपटांग से लगने वाले व्यवहारों की युक्तियुक्त व्याख्या कर सकें। देखने में आता है कि निरीह सीधा सादा शांत प्रकृति का व्यक्ति जिसके लिये एक तृण को तोड़ना भी कठिन है, जो पशु पक्षियों के साथ भी बड़ी सहृदयता और कोमलता का व्यवहार करता है, जो अपने ऊपर किये गये बड़े से बड़े अत्याचार को सहन कर लेगा परन्तु दूसरों का हृदय उसकी वाणी से छिद न जाय इसका खयाल रखेगा। वह कभी बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के अथवा एक तुच्छ कारण से ही अपने को ऐसे अकाण्ड तांडव में रत कर देता है जिसकी उससे कभी भी आशा नहीं की जा सकती। सीता भी जब बन जाने का हठ करने लगी तो कौशल्या जी ने कहा

सो सिय बन बसहि केहि भाँति
चित्र लिखित कपि देख डराती

वह सीता जो चित्र में लिखित कपि को भी देख कर डर जाती हो वह भला बन में अनेक विकराल और भयंकर हिंस्र पशुओं और राक्षसों के बीच कैसे रह सकेगी ! पर मनुष्य में इस तरह के परस्पर और आपाततः स्वभाव-विरोधी अबोध-गम्य व्यापारों को देख कर चकित हो जाना पड़ता है। फ्रायड युंग इत्यादि मनोवैज्ञानिकों ने हमें कुछ ऐसे सूत्र दिये हैं जिनके सहारे बोधातीत क्रियाओं तथा गतिविधियों का रहस्योद्‌घाटन हो सकता है। उन्होंने बतलाया है कि बाह्य दृष्टि से निरीह, सरल भावापन्न निर्दोष तथा अनपकारक सी दीख पड़ने वाली मानवीय क्रिया-चेष्टाओं में अनन्त ग्रन्थियाँ भरी रहती हैं। बूँद में बाडव का दाह छिपा रहता है, हिमाच्छादित पर्वतमाला के गर्भ में विशुवियस की लावा दहकती रहती है। कहीं ऐसा भी होता है कि

बाहरी तड़क भड़क, बाहरी विभीषिका, बाहरी आतंकपूर्ण हिंसात्मकता की नींव खोखली हो, वह केवल सतही (Skin Deep) हो। वह मनुष्य की निष्क्रियता तथा अक्षमता एवं निस्सहायता का ही प्रतिबिंब हो। दूसरे शब्दों में, मनोविज्ञान ने बताया है कि मनुष्य इतना सीधा सादा प्राणी नहीं है जितना वह ऊपर से देखने में लगता है। उसके प्रत्येक छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े क्रिया-कलापों के रहस्य को समझने के लिये सतर्कता की आवश्यकता है।

फ्रायड द्वारा एक नारी का विश्लेषण

एक उदाहरण लीजिये। एक नवयुवक सरकारी कर्मचारी फ्रायड के पास आया और अपनी सास की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की प्रार्थना की। वह महिला तिरपन वर्ष की थी, उसका स्वभाव भी कोई बुरा नहीं था, हँसमुख स्वभाव वाली, आनन्द और विनोद प्रिय नारी थी। पर कुछ दिनों से अपने पति के चरित्र के सम्बन्ध में उसके हृदय में शंका के कीटाणु प्रवेश कर गये थे और इसी कारण उसने अपने कटु व्यवहारों से अपने घर के व्यक्तियों का जीवन नारकीय बना रखा था। उसका पति सहृदय विवेकशील तथा समझदार व्यक्ति था। आज तक पति पत्नी में कभी कलह नहीं देखा गया। उनकी दो संतानें थीं जो अब वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रहीं थीं। पर न जाने क्यों एक तुच्छ तथा तथ्यहीन आधार पर इस महिला का हृदय अपने पति के इतनी दीर्घ अवधि में ठोक पीट कर, बजाकर परीक्षित सच्चरित्रता के प्रति हिंसात्मक रूप में अविश्वस्त हो उठा कि वह विक्षिप्त सी होकर अनेक अशोभन व्यापार करने लगी जो निश्चय ही उसके स्वभाव से मेल नहीं खाते थे। वह संभ्रान्त महिला अपनी नौकरानी से यों ही वार्तालाप किया करती थी कि एक दिन उनके घर पर एक सज्जन आये जिनके बारे में यह बात प्रख्यात थी कि उन्होंने अपनी पत्नी को त्याग दिया है और किसी दूसरी नारी के साथ आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। बातचीत के क्रम में उसके मुख से यह वाक्य अनायास ही निकल पड़ा कि यदि मै अपने पति के सम्बन्ध मे ऐसी बात सुन पाऊँ तो मेरी दशा भयकर हो उठे। एक ही दिन बाद उस महिला को गुमनाम पत्र मिला जिसमें उसके पति पर चरित्र सम्बन्धी लांछन लगाये गये थे। यद्यपि पत्रप्रेषक के नाम का उल्लेख उस पत्र में नहीं था पर कुछ तो लिखावट तथा अन्य कारणों से यह निश्चित हो गया कि इस असत्यपूर्ण पत्र को इर्ष्यावश उस नौकरानी ने ही लिखा है। उस नौकरानी का उस महिला से जिससे रोगिणी के पति के साथ अवांछनीय के लांछन लगाने को चेष्टा की गई थी इर्ष्या होना स्वाभाविक था। ये दोनों साथ ही रहती थी, दोनों की समाजिक स्थिति एक थी पर यह क्रमशः उन्नति करती गई और समाज में उसकी प्रतिष्ठा अधिक होने लगी। सबको उसका कपट ज्ञात हो गया और वह नौकरी से हटा दी गई पर इसका

का जो विष उस महिला के हृदय में प्रविष्ट हो गया था निकला नहीं और वह अनेक अप्रत्याशित कटु व्यवहारों के रूप में प्रकट होने लगा।

यह रोगिणी विक्षिप्तावस्था में फ्रायड के पास चिकित्सा के लिये आई। फ्रायड ने मुक्त आसंग (Free association) पद्धति के द्वारा उसके रोग के निदान की चेष्टा की। इस पद्धति द्वारा जाँच के सिलसिले में रोगिणी के मुख से अनायास कुछ ऐसे वाक्य निकल पड़े जिनके सूत्र को पकड़ कर वह इस परिणाम पर पहुँचा कि इस तरह की विक्षिप्तावस्था उस रोगिणी के लिये एक मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता (Necessity) थी। वास्तव में अपने पति के चरित्र में शङ्का के भाव की अवस्थिति के कारण उसके हृदय को संतोष मिलता था। फ्रायड ने रोगिणी के निदान में कहा कि वह महिला स्वयं एक नवयुवक के प्रति आकर्षित थी। वह नवयुवक और कोई नहीं बल्कि वही जमाता था जो उसे फ्रायड के पास चिकित्सार्थ ले आया था। इतनी बात से उस महिला के सारे विक्षिप्त व्यवहार समझ में आ सकते हैं। अपने जमाता के लिये हृदय में प्रेम के भावों का पोषण करना सामाजिक दृष्टि से घोर अपराध है और निंदनीय कर्म है। सास और जमाता का सम्बन्ध ही ऐसा है जिसमें वास्तविक काम भावना को वात्सल्य स्नेह के निर्दोष एवं अहानिकर रूप को धारण कर बाहर आने की पूर्ण सुविधा है। पर चेतन मस्तिष्क में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह इस विकट सत्य की ज्वाला को सहन कर सके। अतः यह भावना निर्मम रूप से दबा दी गई और अर्द्ध-चेतन में जाकर वहाँ से सारे मानस और मानसिक व्यापार को प्रभावित करने लगी। इस भावना का दबाव इस मानस पर इस तरह पड़ने लगा कि परिस्थिति असह्य हो गई। कहीं से कुछ सहायता तो मिलनी ही चाहिये। कोई तो ऐसा उपाय हो जिससे कुछ क्षण के लिये बोझ हल्का हो सके और जान में जान आये। हाँ, एक उपाय तो है। इस तथाकथित पाप कर्म में लिप्त वह अकेली नहीं है जो इस वृद्धावस्था में भी एक नवयुवक के प्रति काम भाव से आकृष्ट होती है। उसका पति भी तो इतना प्रतिष्ठित होकर समाज में आदर और सत्कार का भाजन होकर भी दूध का धोया नहीं है, वह भी तो एक इस वार्द्धक्य में एक नवयुवती के प्रणय स्पर्श की चाह रखता ही है। तब वही क्यों अपनी आत्म-भर्त्सना के सौ-सौ डंकों की यंत्रणा भोगती रहे। फ्रायड के शब्दों में "अपने पति की असच्चरित्रता की कल्पना ने उसके जलते हुए घाव पर हिम शीतल लेप का काम किया।" जीवन में इस तरह की मनोवृत्ति के उदाहरण पग-पग पर देखने को मिलते हैं। यदि कोई विद्यार्थी परीक्षा में असफल हो जाता है तो दूसरे विद्यार्थियों की असफलता उसकी परिस्थिति को सह्य बना देती है। शायद बुद्ध ने भी अपने पुत्र के वियोग में विह्वल माता को इसी शर्त पर पुत्र को पुनर्जीवित कर देने की प्रतिज्ञा की थी यदि वह इतना सा कर सके कि थोड़ी सी आग उस परिवार से

माँग कर ला दे जिसमे आज तक कोई मृत्यु नहीं हुई है। जब शोक विह्वल माता ने देखा कि संसार में प्रत्येक प्राणी के हृदय में कोई न कोई वियोगजन्य घाव है जो सदा दुखता रहता है तो उसके हृदय में पुत्र वियोग की पीड़ा की वेदना इतनी तीव्र न रह गई। फ्रायड ने रोगिणी की विक्षिप्त दशा की जो व्याख्या की है उससे यह बात समझने मे सहायता मिलती है कि विक्षिप्तता के मूल में प्रायः अन्तर्द्वन्द्व होता है। नैतिक प्रबल भावनाओं के दमन के परिणाम-स्वरूप मनुष्य में आत्म ग्लानि उत्पन्न हो जाती है। जब मनुष्य अपनी आत्म-स्मृति को भुलाने की चेष्टा करता है तो वह विक्षिप्तता का कारण बन जाती है। आत्म ग्लानि का भाव प्रबल होने पर चेतना की रुकावट को अलग करके बाहर आ जाता है यही विक्षिप्तता की अवस्था है।

एक दूसरा उदाहरण फ्रायड की प्रसिद्ध पुस्तक Psycho-pathology of every day life से लिया जाय। इस मनोरंजक पुस्तक में यह दिखाने की कोशिश की गई है कि मनुष्य के दैनिक जीवन में जो प्रायः निर्दोष सी, अकारण सी लगने वाली भूलें होती है अथवा निरर्थक चेष्टायें होती है उनके पीछे कोई न कोई उद्देश्य होता है जो सांकेतिक रूप में मनुष्य के व्यक्तित्व की गहराई में पैठे हुए रहस्य की कथा कहता है। फ्रायड ने इस पुस्तक में अनेक घटनाओं की मनोवैश्लेषणिक व्याख्या दी है। कुछ घटनायें तो दूसरों के जीवन से ली गई हैं और कुछ अपने जीवन से। अपने जीवन की एक घटना का उल्लेख करते हुए उसने यह लिखा है कि एक बार ऐसा हुआ कि उसके हाथ के एक झटके से उसकी एक सुन्दर दावात टेबुल पर से गिरकर चूर-चूर हो गई। फ्रायड बड़ा ही सावधान व्यक्ति था। कभी भी असावधानता के कारण उससे उस दिन तक कोई चीज नहीं टूटी हालांकि वह कक्ष अनेक विविध वस्तुओं से ठसाठस भरा रहता था कि किसी भी वस्तु का थोड़ी सी भी असावधानता के कारण फूट जाना सहज था। पर अभी तक कोई ऐसी घटना न हो पाई थी। प्रश्न यह होता है कि उस दिन ही उस बहुमूल्य मसि पात्र को फ्रायड ने गिराकर चकनाचूर क्यों कर दिया? इसका कारण बतलाते हुए उसने कहा है कि इस दुर्घटना के कुछ घन्टे पूर्व ही उसकी बहिन उसके अध्ययन गृह को देखने आई थी। फ्रायड ने उसे बड़े गौरव और आनन्द से अपने संग्रहालय के अति परिश्रम से एकत्र किये गये बहुमूल्य पदार्थों को दिखलाया था। उसकी बहिन ने इन सब पदार्थों को देखने पर अपने हर्ष के भाव प्रकट किये थे। केवल उसी मसि पात्र के बारे में कहा था कि यदि वह उस टेबुल पर न रखा जाकर दूसरी जगह रख दिया जाय तो अच्छा रहे क्योंकि अन्य पदार्थों के साथ वहाँ वह उतना शोभनीय नहीं जँचता। अपनी बहिन के साथ कुछ देर बाद टहल कर वापिस आया तभी यह दुर्घटना घटित हुई। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि मसि पात्र गिरकर नहीं टूटा बल्कि फ्रायड ने गिरा कर उसे चूर चूर कर दिया क्यों-

कि उसकी तद्स्थानावस्थिति उसकी अभद्र कलात्मक रुचि की परिचायक थी। जो वस्तु हमारी न्यूनता की द्योतक हो वह सह्य कैसे हो सकती है ?

आधुनिक उपन्यास में व्याख्यात्मकता

ऊपर जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है उससे फ्रायड द्वारा निर्धारित मनोविज्ञान सम्बन्धी धारणाओं की गति विधि का पता चलता है। फ्रायड ने जितनी पुस्तकें लिखी है वे अधिकांश व्याख्यात्मक है अर्थात् उनमें रोगग्रस्त मानव तथा स्वस्थ मानव के बाहरी क्रियात्मक चेष्टाओं को आन्तरिक अचेतन मनोवृत्तियों के आधार पर व्याख्या की गई है। मानो यह व्याख्या ही मुख्य वस्तु है और इसके यथोचित ज्ञान के अभाव में मनुष्य के वास्तविक रूप को पहिचाना नहीं जा सकता। इस व्याख्यात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव आधुनिक कथा साहित्य पर स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है। प्रथमतः तो यह धारणा सी हो चली है कि जिसे हम मनुष्य की साधारण, सुस्थ और परिचित बोधगम्यावस्था कहते हैं, दैनिक जीवन व्यापार में संलग्न जिस रूप में व्यवहार करते देखते हैं, अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के प्रति उनके सुख में आनन्दोल्लास को प्रकट करते हुये दुख में समव्यथित्व के भावों से पूर्ण देखते हैं वह उसका वास्तविक रूप नहीं है। वह हँसता भी है तो उसके पीछे आँसुओं का इतिहास है, उसके रुदन में हास्य का रहस्य है, उसके समव्यथित्व का भाव- प्रदर्शन ईर्ष्या और द्वेष का प्रच्छन्न रूप है अर्थात सारी मानवता अपने मुख पर अवगुन्ठन डाले, मास्क ओढ़े हुए विचरण कर रही है। इस पर्दे को उठा कर उसके भीतर झाँक कर देखने से ही उसका वास्तविक रूप देखा जा सकता है। विक्षिप्तावस्था की चेष्टायें, स्वप्नावस्था में देखी गई स्वप्न मूर्तियाँ, असतर्क अवस्था मे हमारी अंग संचालन-गति विधि अथवा हमारे मुख-निस्सृत शब्दोच्चार ऐसे स्थल हैं जिनसे झाँक कर हम बुद्धि पूर्वक मनुष्य के व्यक्तित्व का वास्तविक रहस्योद्घाटन कर सकते हैं। अर्थात् मनुष्य के वास्तविक व्यक्तित्व के उभरते हुए दबाव के कारण इस वस्त्रावरण में यत्र तत्र जो दरार पड़ जाते हैं वे ही पेचदार और चक्करदार गलियो में अपने नेतृत्व में ले जा कर आपको वास्तविक और सच्चे दृश्यो का दर्शन करायेंगे, फटे हुए वस्त्रों के रूपक में बात को समझाने का प्रयत्न करेंगे। यहाँ पर संस्कृत अलंकार शास्त्रियों की प्रसिद्ध उक्ति की स्मृति हो आती है

प्रौढि-प्रकर्षेण पुराण रीतिः व्यतिक्रम श्लाघ्यतमः पदानाम्
अत्युन्नति-स्फुटित-कंचुकानि वंद्यानि नारिकुच-मंडलानि

अलंकारियों के सामने प्रश्न यह था कि पुराने पड़े, जन भाव प्रवाह में पड़कर घिसे हुए शब्दों को जो पुराने हो गये हैं, निरादृत से हो गये हैं उन्हें किस तरह से उपयोग में लाया जाय। उत्तर में कहा है कि मनुष्य की प्रतिभा सब कुछ कर सकती

है। वह छू दे तो प्रस्तर और लौह खण्ड भी सोना बनकर चमक उठे। उसी तरह पुरानी रीति तथा पुराने शब्द प्रयोग कवि की प्रतिभा और कौशल से युक्त होकर और भी अभिनन्दनीय और भाववाहक हो उठते हैं। अन्दर की उमगती हुई उठान से कंचुकी में तनाव डालकर कुचमण्डल और भी सुन्दर नहीं उठते क्या, और भी अधिक वास्तविक सौंदर्य को प्रकट नहीं करते क्या? अवश्य करते हैं। उसी तरह मनुष्य के ऊपर पड़े अनेक पर्तों की दरार रूपी विक्षिप्तता, मनोविकार हिस्टिरिया इत्यादि रोगों के द्वारा मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का परिचय मिल सकता है। अतः विक्षिप्त और विकृत मस्तिष्क वाले व्यक्ति हमें मानव के सच्चे स्वरूप को समझाने मे अधिक सहायक हो सकते हैं। कुछ इसी तरह की धारणा लोगों में विशेषतः मनोविज्ञान के पठन पाठन से सम्बन्धित शिक्षित वर्ग में हो चली है जिसके सदस्य हिंदी के कथाकार हैं। परिणाम यह हुआ कि उपन्यास के क्षेत्र पर मनोविकारग्रस्त हिस्टीरिक और अहवादी पात्रों ने बड़ी प्रबलता से आक्रमण किया है और ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं जिनमें काम दमन (Sex repression) जनित असाधारण कार्य कलाप, मानसिक ग्रन्थियों के वैचित्र्य पूर्ण ढंग, शैशवास्था की काम चेष्टायें, स्वलैङ्गिकता (Homo-sexuality) की निस्संकोच चर्चा, एवं हीनता-ग्रस्त मानव वर्ग की आत्मलीनता की कहानियों से कथा साहित्य पाट सा गया। यह अवश्य है कि उपन्यास साहित्य में मानस शास्त्र के इस विजय अभियान मे अनेक सामाजिक और राजनैतिक हलचलों ने भी योग दिया है। पर फ्रायड, एडलर जुंग जैसे मनोविश्लेषकों के मानस सम्बन्धी सिद्धान्तों की प्रेरणा ही सबसे बलवती थी। मार्क्स की साम्यवादी विचार धारा ने जिस प्रकार साहित्य के स्वर्ण सिंहासन पर आसीन प्राचीन युग के धीरोदात्त और सर्वगुणसम्पन्न नायकों के राजमुकुट को छीनकर शोषित और पीड़ित पद दलित मानव को प्रतिष्ठित किया, कल- निनादी मुरली माधुरी को हटा कर हंसिया और हथौड़े के प्रचण्डाघातों का जयोच्चार किया, भूख की ज्वाला की लपटों को साहित्यिक क्षेत्र में उठाकर ही दम लिया ठीक उसी तरह मनोविश्लेषणवादी मनोविज्ञान ने पूरे उपन्यास क्षेत्र को अनेक मानसिक ग्रन्थियों और विकृतियों से ग्रसित मानव मूर्तियों का चिकित्सालय बना डाला। चेतन, अर्द्ध चेतन और अचेतन पर्दों की छान बीन प्रारम्भ हुई, निरीह अंगसंचालन में, मुखमुद्रा में, भाव भंगियों में, रहन सहन के रंग ढंग में पद पद पर कोई अचेतन प्रभाव का दर्शन किया जाने लगा। जिसे हम साधारण और सुस्थ मानव कह कर जानते और समझते हैं उनके भी उद्दीप्त और उत्तेजित भावावेश के क्षणों को हिस्टीरिक उन्माद (fits) के रूप में देखने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। इसके साथ ही साथ दूसरा प्रभाव भी कथा साहित्य पर पड़ा जब कि सिद्धान्त के रूप में यह बात स्वीकृत कर ली गई कि

मनुष्य के बाह्य क्रियाकलाप स्वतः इतने महत्वपूर्ण नहीं है, वे तो केवल संकेत है जिनके आवरण में व्यक्ति के मानसिक स्तरों विशेषतः अचेतन का आलोडन और प्रतिलोडन, धूर्णन और प्रतिधूर्णन, वात्याचक्र और प्रतिवात्याचक्र की सारी कथा छिपी है तब किसी मानव जीवन के व्याख्याकार औपन्यासिक के लिये आवश्यक हो जाता है कि वह घटनाओं के वर्णन से अधिक उन घटनाओं की व्याख्या (explanations) में अधिक-समय लगाये। दूसरे शब्दों में कथा में घटना (events) से अधिक उनके व्याख्या (explanations) महत्वपूर्ण हो गई। यों तो दृश्यकाव्य नाटक तथा श्रव्य काव्य उपन्यासों में एक साधारण अन्तर यह बतलाया जाता है कि पात्रों की कार्य शृंखला तथा व्यापारों पर टिप्पणी करने की जितनी स्वतंत्रता औपन्यासिक को रहती है उतनी नाटककार को नहीं। नाटककार की कल्पना को रंगमंचीय प्रतिबन्धनों के कारण उड़ान लेने की स्वतन्त्रता नहीं पर औपन्यासिक की कल्पना निर्बाध हो कर उड़ सकती है। प्रेमचंद जी के पूर्व तक के उपन्यासों को देखने से इस बात का पता चलता है कि वहाँ पर घटनाओं का ही बोलबाला है। वे स्वतः अपनी कथा कह रही हैं वे अपने में पूर्ण हैं; उनकी विशालता, उनकी गौरव मंडित ऊँचाई तथा उनकी उद्दीप्त तेजोमयी मूर्ति पाठक के ध्यान को कुछ इस तरह अपने ऊपरी केन्द्रीभूत कर लेती हैं कि उनके सिवाय अगल बगल इधर उधर अथवा उनके परे देखने की प्रवृत्ति ही नहीं होती। मस्तक तान कर खड़ी घटनाओं के ऐन्द्रिजालिक चक्र के अभिमंत्रित और संघुटित परिधि के बाहर पाठक जा ही नहीं सकता। देवकीनन्दन खत्री के ऐय्यारों के साहसिक पूर्ण कार्य, उनके उपन्यासों की हैरत-अंगेज सनसनी-खेज घटनायें जिनके बीच से पात्र कैंची की तरह मार करते इस प्रकार निकल जाते हैं कि पाठकों की आलोचना शक्ति के उठे हुए फन मन्त्र मुग्ध सर्प की तरह शांत हो जाते हैं। जिन पात्रों को लेकर घटनाओं के स्वरूप का निर्माण हुआ है उनके मस्तिष्क का चिंताप्रवाह साफ है, उनमें किसी तरह का दमन नहीं, किसी तरह की ग्रन्थि नहीं, किसी तरह की कुंठा नहीं, किसी तरह की घुमडन नहीं, कोई ऐसी सड़ांद नहीं जो हमारे जीवन व्यापारस्रोत के मूल में विकृति का विष घोल दे जिसे देखकर हमे आश्चर्य चकित होने का अवसर प्राप्त हो।

ऐसी हालत में किसी घटना या होनी की तूलतबील, चक्करदार और बहुयत्न-कल्पित व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं होती कारण वहाँ व्याख्या जैसी कोई चीज ही नहीं। जो कुछ है साफ है, स्पष्ट है, एक राज मार्ग जिससे होकर कोई भी पगडंडी निकलती ही नहीं। यदि वह है भी तो जरा सिर मोड़ देने से दीख जायेगी। यही कारण है कि घटनाओं और चरित्र चित्रण पर औपन्यासिक का विशेष अधिकार रहते हुये भी उसने उसका प्रयोग बहुत ही कम किया है। जहाँ

उसका प्रयोग हुआ भी है वहाँ ऐसा मालूम पड़ता है कि लेखक को इस प्रयोग में कोई उल्लास नहीं कोई, गौरवानुभूति नहीं, जरूरत तो-कोई-खास-नहीं-थी-पर-हाँ चलो-अच्छा-ही-है-इसका-प्रयोग-कर-देखलो-वाली मनोवृत्ति बनी सी दीखती है। कल्पना कीजिये कि पाठक का सिर कथाकार के हाथ में है और वह अपने इच्छानुसार अपने मनोनुकूल उद्देश्य-सिद्धि के लिये जिस तरह चाहे उसे घुमा सकता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमचंद के पूर्ववर्ती औपन्यासिक प्रथमतः पाठक के सिर को छूते भर ही हैं, (वह तो सदा उनके हाथ में हैं) पर घुमाते भी हैं तो नाम मात्र को ही। कह लीजिये पाँच और दस डिग्री का कोण बनाते हुए। प्रेमचंद के हाथों में पड़ कर पाठकों का सिर अधिक डिग्री का (८० डिग्री का) कोण बनाने लग गया है। पर आधुनिक औपन्यासिक पाठकों के सिर को इस तरह चक्कर खिलाने लगे हैं कि १८० डिग्री का कोण क्या ३६० डिग्री का कोण बनना प्रारम्भ हो गया है। तिसपर वे पाठको के सिर को निर्ममता से क्षीतिज (Horizontal) और लंब (Vertical) रूप में भी झकझोरने लगे हैं। जो कुछ हो आधुनिक औपन्यासिकों की कला पर अन्य सामाजिक अथवा राजनैतिक प्रवृतियों का जो कुछ भी असर पड़ा हो पर इतना तो निर्विवाद है कि मनोविश्लेषण शास्त्रियों की मानव व्यक्तित्व की चीर फाड़, स्वप्नों की चक्करदार और वैचित्र्य पूर्ण विवृति और व्याख्या, हमारे वाह्य कार्य-कलापों के पीछे छिप कर कर डोर हिलाने वाली प्रवृत्ति की खोज ढूँढ़ने उपन्यासों को व्याख्यात्मक बनाया है। आज जो घटनाओं को विशेष रूप में घटित होने की व्याख्या मूलकता का प्रभाव उपन्यासों में उमड़ता दीख पड़ता है वह स्पष्टतया मनोविश्लेषण मनोविज्ञान का प्रभाव है।

मै अपने कथन की पुष्टि के लिये पं० इलाचन्द जोशी के उपन्यास 'निर्वासित' का एक अंश लूँगा! कथा यों है कि नीलिमा नाम की एक उच्च शिक्षा प्राप्त और सुरुचि सम्पन्न कुमारी, वयः प्राप्त विवेकशील कन्या अपनी माता से एक छोटी सी बात पर कि चाय में एक चम्मच चीनी से अधिक डाल दी गई घर छोड़ कर भाग जाती है और अपने महीप नामक पूर्व परिचित व्यक्ति के साथ कानपुर जाने की तैयारी कर लेती है। रेलवे पुलिस कर्मचारियो को उनके अस्वाभाविक व्यवहार को देख कर शंका हो जाती है और वे उनसे पूछताछ करने लगते हैं। इसी सिलसिले में नीलिमा कहती है कि महीप जी मेरे हसबैंड है। फिर भी पुलिस वालों की शंका की निवृति नहीं होती और वे उन दोनों को पकड़ कर नीलिमा की माँ के पास पहुँचा ही देते हैं। घर पर आकर नीलिमा के मनोव्यापार में आमूल परिवर्तन हो जाता है और वह महीप को भूलकर पुनः माँ के आज्ञानुसार ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह से विवाह करने के लिये तैयार हो जाती है इस मानसिक क्रान्ति की व्याख्या देने के लिये तथा बीच

बीच में होते रहते छोटे मोटे अप्रत्याशित व्यापार की व्याख्या के लिये जोशी जी ने एक लम्बा चौड़ा Explanation दिया है, व्याख्या दी है जिसे पढ़ कर फ्रायड की पुस्तकों मे दी गई केस हिस्ट्री (वृत्त तिहास) के विश्लेषण की याद हो आती है। ऐसा मालूम होता है कि फ्रायड ने मनोविश्लेषण के कारणो की अन्तः प्रकाशिनी शक्ति का रहस्य बतला दिया है और औपन्यासिक इसी मनोविश्लेषण किरणों के सहारे मानव मन के स्तर पर स्तर और गाँठ पर गाँठ खोल कर देखने का उपक्रम कर रहा है। निम्नलिखित उद्धरण से पता चलेगा कि इस घटना के मूल रूप में कारण शृंखला की जटिलता की व्याख्या करते हुए लेखक ने कितने मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर प्रकाश डालता है—

"उसकी माँ ने उस रात उसे एकान्त में ले जाकर न जाने क्या मंत्र पढ़ाया जिससे उसकी उस दिन की और रात की स्टेशन में अपने अस्वाभाविक व्यवहार की समस्त ग्लानि को चीनी मिट्टी तश्तरी में लगी हुई राख की तरह धोकर इस तरह साफ कर दिया कि उसका लेशमात्र दाग भी उसके हृदय में रह नहीं पाया। वास्तव में माँ के स्नेह के सुमधुर पीड़न को अठगुने रूप में वापस पाने के इरादे से ही जैसे उसके अन्तर्मन नें यह जाल रचा था जिससे तनिक सी बात का बहाना पकड़ कर उसे माँ की तरफ से विद्रोही बना डाला था। यही कारण था कि जब वह महीप के पास गई थी तब फिर उस रात माँ के पास लौटने की प्रवृत्ति उसके मन में किसी प्रकार नहीं जग पाती थी। यही कारण था कि महीप के व्यक्तित्व का ऐसा जादू उस रात पार्क में उसके ऊपर चल गया था कि वह अपने को उसके प्रति पूर्णतया समर्पित करने की सीमा तक पहुँचा चुकी थी, उसका अन्तर्मन उसके साथ एक विचित्र नृशंसतापूर्ण और साथ ही कौतुकप्रद खेल खेल रहा था जो उसके साथ के दूसरे व्यक्ति को पूर्णतया ले डूबने के लिये उतारु हो उठा था। अज्ञात में जिस निद्राविचरण की सी अवस्था मे वह महीप के साथ स्टेशन तक गई थी उसमें उसे अपनी अन्तश्चेतना की उस कूट और क्रूर क्रीड़ा का कोई भान नहीं हो पाया था। स्टेशन पहुँचने तक उसकी मानसिकता इस स्थिति में थी कि उसे लगता था जैसे अन्तकाल तक, असीम देश तक बराबर इसी प्रकार महीप के साथ चलती रहेगी। निर्द्वन्द्व और निर्मुक्त भाव से बिना किसी भी पारिवारिक सामाजिक अथवा मानसिक बन्धन का अनुभव रंच मात्र भी किये हुए समस्त विश्व में समग्र काल में जैसे महीप ही उसके जीवन का एक मात्रा सहयात्री, एक एक मात्र नियंता और एक मात्र आत्मीय है यह विश्वास उस समय उसके मन को उस असाधारण अवस्था में ऐसी प्रबलता से जमा हुआ था कि लगता था जैसे वह जीवन में किसी भी काल में टल नहीं सकता।

"पर स्टेशन पर पहुँचते ही जब ताँगे की गति रुकी तब सहसा निलीमा के मन की अति सूक्ष्म प्राकृत दशा की गति भी स्थगित हो गई उसका जो

व्यक्तित्व कुछ अजीब से मनोवैज्ञानिक कारणों से उस दिन उभर उठा था वह बड़ी तीव्र गति से विलीन होने लगा जैसे कोई विमान आकाश में मीलों ऊपर स्ट्राटस्फेयर में उड़ान भरने के बाद सहसा नीचे उतर आने को बाध्य हुआ हो। और सहसा उस प्रदेश से बड़ी तेजी से गोता खाता चला आ रहा हो। उस गोताखोरी की मध्यावस्था में उसके मन की आँखें जिन अजीब ढंग से बदलते हुए संप्रेक्षणों में वास्तविक तथा काल्पनिक दृश्यों को देख रही थी उसकी अनुभूति निलीमा को विचित्र और विभ्रामक लग रही थी। जब महीप टिकट खरीदने गया और निलीमा व्यस्त यात्रियों की भीड़ के बीच में एक स्थान पर खड़ी रही तब निलीमा को अचानक ऐसा लगा कि उसका जो विमान कुछ ही क्षण पहिले स्ट्राटेसफेयर में उड़ान भर रहा था वह पृथ्वी पर टकरा कर चकनाचूर हो गया। उसकी माँ ने कौन टेलीपेथी की किस चुम्बक शक्ति से राकेट से भी तीव्र गति से चलने वाला कौन अस्त्र उसके उस मनोविज्ञान पर फेंका था। क्योंकि उस दिन सन्ध्या से ही उसका जो दूसरा व्यक्तित्व उभरा हुआ था वह जब एक विस्फोट के साथ सहसा विलीन हो गया। तब तत्काल बिजली की तरह उसकी आँखो के सामने माँ का ही रूप विभासित हो उठा और एक मात्र माँ की चिन्ता ने सजीव रूप धारण करके उसके सारे मन को चारों ओर से तूफानी बादलों की तरह छा दिया। यही कारण था कि जब महीप टिकट खरीद कर उसके पास पहुँचा तब वह चीख मार उठी, उसका प्रतिदिन के जीवन का वही साधारण व्यक्तित्व कराह उठा जिसमें एक पल-पल के लिये माँ के स्नेह बंधन से मुक्त होने का साहस कभी नहीं हुआ। कभी इच्छा ही नहीं हुई। उसकी सारी आत्मा फुफकार मार उठी माँ, माँ, माँ। जिस माँ से पहली बार भयंकर विद्रोह करके वह चली आई थी उसके सहस्त्र कर अपने को चारो ओर फैला कर विह्वल और विकल अनुभव के साथ कह रहे थे "आ जा बेटी, आजा, तेरे लिये एक मात्र इन्हीं हाथों में आश्रय है। एक मात्र माँ की गोद एक ऐसा स्थान है जहाँ नाना विरोधी और विषम चक्रों से भरे इस जीवन में तू अपने चिर दिन के अभ्यास के अनुसार सहूलियत से बैठ सकती है और आराम से करवट ले सकती है। उसे छोड़कर इतनी देर तू व्यर्थ में किन भ्रामक स्वप्नों महत्त्वाकांक्षा की किन मरीचिका से भरे लोक में भटकती रही। आजा, बेटी आजा"।

निलीमा उस एकान्त आग्रह पूर्ण आह्वान की उपेक्षा नहीं कर सकी। जब महीप ने टिकट खरीदने के बाद उसे प्लेटफार्म के भीतर चलने के लिये कहा तब उसके मन की ठीक वही दशा हो रही थी जैसे चंद महीने के बच्चे की नींद टूटने पर किसी अस्पष्ट छाया लोक का स्वप्न भंग होने पर होती है और वह कुछ समय के लिये जागरण लोक की नई परिस्थिति से अपने मन का ठीक संयोजन न कर पाने के कारण अर्द्ध चेतनावस्था में माँ के स्पर्श की अज्ञात लालसा से बिलखने लगता है। यही कारण था

कि उस क्षण के लिये वास्तविकता के दृष्टिकोण से महीप की परिस्थिति को और साथ ही इतने आदमियों की भीड़ में स्वयं अपनी यथार्थ स्थिति को समझने की समर्थता नहीं थी। उसने चिल्ला कर और रोकर महीप को जिस अस्वाभाविक और भावना-पूर्ण परिस्थिति में डाल दिया था वह जान बूझ कर नहीं बल्कि अर्द्ध चेतना की प्रति-क्रियात्मक प्रकृतिवश। बाद में जब पुलिस कर्मचारी ने टोका तब निलीमा के मन की प्रतिक्रिया ने दूसरी दिशा पकड़ ली। महीप की तौहीनी का यथार्थ रूप उसके सामने आ गया और पूर्णतया सचेत हो उठी। उस सचेत अवस्था में उसने तात्कालिक विपत्ति से छुटकारा पाने के उद्देश्य से ही महीप को अपना husband बताया था इसमें संदेह नहीं। पर बाद में (Husband) शब्द का जादू उसके मन पर कुछ दूसरा ही प्रभाव डालने लगा। अपने मन की सचेतनावस्था में भी उसने यह संकल्प किया था कि वह अपनी माँ के आगे भी सच्चे हृदय से यह स्वीकार कर लेगी कि महीप को उसने अपना (Husband) मान लिया है। और अपने इस संकल्प को वह कार्य रूप में परिणत करके रहेगी। पर माँ से जब वह मिली और जब उन्होंने अपने मातृ हृदय की आकुलता विह्वलता से जब अपनी अन्तर्वेदना उसके आगे आँसुओं से पिघलते हुए शब्दों में व्यक्त की तब वह स्वयं फिर एक बार पिघल उठी। वास्तव में उसका अन्तर्मन पहिले से ही पिघलने के लिये तैयार बैठा था, केवल उसके लये अधिकसे अधिक विह्वलतापूर्ण वातावरण तैयार करने का कुचक्र रच रहा था। अपना यह मनोविश्लेषण निलीमा ने दूसरे दिन रात में सोने के पूर्व पलंग पर लेटे-लेटे स्वयं किसी हद तक कर लिया था। उसके बाद जब दूसरे दिन ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह कई दिनों के बाद उससे मिले थे तब उसने आश्चर्य के साथ इस बात पर जोर दिया था कि केवल कुछ ही दिनों की अनुपस्थिति में ठाकुर साहब में एक आश्चर्य जनक परिवर्तन हो गया है। ऐसा परिवर्तन जो पहली ही दृष्टि में अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रह सकता। उसकी मार्मिक रूप से अनुभूतिशील आँखों ने देखा कि ठाकुर साहब की आँखों की अभिव्यक्ति में एक अस्पष्ट व्यंग और क्रूरता का जो भाव हर समय उनके सहज मुस्कान के क्षणों में भी वर्तमान रहता था उसके स्थान पर एक करुण कोमल स्निग्ध भाव की छाया सहज रूप से भासमान हो रही है। इतने वर्ष से ठाकुर साहब के प्रति जिस अज्ञान खिंचाव के विरुद्ध वह भीतर ही भीतर लड़ाई लड़ती जाती थी वह आज पहली बार प्रगति करने लगी और उसे उसने सहज स्वाभाविक रूप में ग्रहण किया। आज ठाकुर साहब को देखते ही उसे अपना वह व्यक्तित्व अत्यन्त उपेक्षणीय तुच्छ और हास्यापद लगा जो पार्क में महीप के प्रति पूर्णतया आत्म समर्पण के लिये प्रायः तैयार हो उठा था। सच तो यह है कि उसके सचेत मन में अपने व्यक्तित्व के उस स्वरूप की स्मृति ही नहीं रही। अपने अनजान में ही उसने ठाकुर साहब के इस

बार के व्यक्तित्व की तुलना महीप के व्यक्तित्व से की तो उसका महीप का अकालपक्व रूप से शिशु रूप का उत्पन्न रूप हास्यापद लगने लगा। पार्क मे महीप ने हिमालय के जिस देवदारू वन की रूप मयी कल्पना के जादू से निलीमा के भीतर एक निराले रहस्यलोक का द्वार उद्घाटित करके अपने व्यक्तित्व के गहन और व्यापक रूप का परिचय दिया था। ठाकुर साहब से भेंट होने पर उसकी स्मृति न उसके अन्तर्मन में जगी और न सचेत मन में। पार्क में जो अगाध रहस्यमय क्षण उसने उस रात महीप के साथ बिताये थे उनमें किसी अनन्त व्यापी मोह महिमा युक्त जगत की प्रतिछवि भासमान हो उठी थी संदेह नही, पर वे क्षण अनन्त की उस सम्पूर्ण प्रतिच्छवि के साथ ही उसी रात पूर्ण रूप से न जाने कहाँ विलीन हो गये थे। और निलीमा अपने सचेत व्यक्तित्व में अपनी सुसुप्तावस्था या स्वप्नावस्था के उन क्षणों का कोई भी छाया भास तनिक सा भी दाग नहीं पा रही थी। उसके भीतर वह धारणा जग ही नहीं पाती थी कि उसके उस रात के असाधारण अवस्था में महीप के अन्तर्मन मे सम्भवतः ऐसा गहरा प्रभाव छोड़ दिया हो जिसका चिंतन सुखकर अथवा अप्रीतिकर जैसा भी हो उसकी मृत्यु तक मिटने न पाये।"[१६]

ऊपर कहा जा चुका है कि जोशी जी के उपन्यास 'प्रेत और छाया' में इसी तरह मन में बैठी ग्रन्थि मनुष्य के जीवन सूत्र को किस विचित्र ढंग से हिलाती रहती है और उसे किस तरह नाच नचाती रहती है, किन-किन घृणित और नारकीय कार्यों की ओर प्रेरित करती रहती है और अप्रत्याशित विडम्बनायें उपस्थित करती रहती है यही इस उपन्यास का मूल कंठ स्वर है। चूँकि इस उपन्यास में घटित होने वाली जितनी घटनायें हैं उनका जन्म एक साधारण और मामूली सी लगने वाली बात से है अतः इस उपन्यास का रूप व्याख्यापरक हो गया है। कथाकार पद पद पर इस बात के लिये सचेष्ट दीखता है कि पाठक के लिये कोई भी बात अनहोनी सी न लगे, ऐसी कोई बात न हो जिसके प्रति पाठक के हृदय में थोड़ी सी भी शंका हो, वह उनकी ओर मशकूक नजरों से देखे और शंका का कोट उसके हृदय में पैठ कर सारे उपन्यास के स्वारस्य को ही चर जाय। उदाहरण के लिये इस उपन्यास के नायक पारसनाथ के पिता बैजनाथ बाबा का व्यवहार अपने पुत्र के प्रति बड़ा कठोर हो रहा था, वे उससे कभी भी सीधे मुँह बात नहीं करते थे और सदा छोकरा कह कर ही उसे पुकारते थे। पर आगे चल कर उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और जब कलकत्ते में पारसनाथ से रुग्णावस्था में भेंट होती है तो मानो वे अपने पुत्र के आगे अपने हृदय को खोल कर रख देते हैं और अपने कटु व्यवहारों की एक अति विस्तृत व्याख्या देते हुए अपनी सफाई देते हैं। इस सफाई और स्वीकारोक्ति में ४२ वाँ परिच्छेद का अर्द्धांश और ४३ वाँ परिच्छेद का पूरा समाप्त किया जाता है। यह निश्चय ही कथाकार की उक्त

मनोवृत्ति का परिणाम है जिसने यह सुझाया है कि जीवन में घटित होने वाली घटनायें तो सांकेतिक होती है, अपने में उनका कुछ भी महत्त्व नहीं। मनुष्य के मनोव्यापार (Mental process) जिनके वे दृष्टिगोचर परिणाम हैं अत्यधिक महत्वपूर्ण है और वहीं पर मानवता का वास्तविक रहस्योद्‌घाटन हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लेखक की इस मनोवृत्ति के उत्पादन में फ्रायड तथा अन्य आधुनिक मनोविदों का कितना जबरदस्त हाथ है। इस प्रसंग में लम्बे चौड़े प्रसंग का उद्धरण देना लेख के कलेवर में अवांछनीय वृद्धि करना है फिर भी कुछ पंक्तियाँ देखिये जिनमें मनोविज्ञान का कंठ स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है—

"मैं भली भाँति जानता था कि तुम्हारी मां के रक्त की एक-एक बूंद में सतीत्व की भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी। शायद इसी की प्रतिक्रिया के फल स मेरे विरत मन को यह विश्वास करने की इच्छा हुई कि वह घोर असती है। जिस दिन कालीपाग में मैने तुम्हारा तिरस्कार करते हुए तुमसे कहा था कि तुम मेरे बेटे नहीं हो उस दिन तुम्हारे प्रति मेरे मन मे सबसे अधिक स्नेह भावना उमड़ी थी।"* केवल सुख और शांति और अभावहीन संतोष पूर्ण जीवन में किस तरह उसके अन्दर से ही सुख संतोष और वैभव को जलाकर राख में परिणत करने वाली चिनगारी फूट पड़ती है इस मनोव्यापार पर काफी प्रकाश डाला गया है।

मेरे कहने का अर्थ यह नहीं कि प्रेमचन्द तथा उनके पूर्ववर्ती अन्य कथाकारों में सारी बातों को खोलकर रखने की प्रवृति नहीं पाई जाती। नहीं, प्रेमचन्द जी की यह भी विशिष्टता है कि उनके कथा साहित्य में मन की बातें विस्तार पूर्वक सीधे सादे रूप से रखी गई हैं। पर कथाकार ने मानव मन के जिस स्थल पर अपने विश्लेषण का कारबार छाना है वह चौराहा है जहाँ सब लोग आते-जाते हैं अपनी साज सज्जा से युक्त बने-ठने हुए, वहां के पात्र सदा एक आवरण से पूर्ण छद्‌मवेश धारी सज्जन के रूप में उपस्थित नहीं होते हैं मौलिक और स्वाभाविक रूप में होते हैं। कथाकार बेचारा इन लोगों की चमड़ी उधेड़कर नग्नरूप में रखने से संकोच करता है। यही कारण है कि आज हिन्दी में एक प्रबुद्ध पाठक वर्ग ऐसा है जिसे इन उपन्यासों तथा कथाओं में जीवन का सच्चा प्रतिबिंब नहीं प्राप्त होता। वे कहेंगे कि सरदार पूर्णसिंह ने कहा है जिस समय बुद्धदेव ने स्वयं अपने हाथों हाफिज शीराजी का सीना उलटकर उसे मौन आचरण का दर्शन कराया उस समय फारस में से बौद्धो को निर्वाण के दर्शन हुए। "पर हमारे बुद्धदेव रूपी उपन्यासकार तो अपने हाथों हाफज शिराजी रूपी पात्रों का सीना उलट कर उनके मौन आचरण का दर्शन तो कराते नहीं तब फारस में निर्वाण का दर्शन किस तरह से हो सकें। हाँ, इस ओर आधुनिकतम उपन्यासकारों का ध्यान गया है और वे इस ओर प्रवृत्त भी हुए हैं। धीरे-धीरे आधुनिक उपन्यासकारों के मस्तिष्क

पर यह चेतना स्पष्टतर होती जा रही है कि घटनायें चेष्टायें तथा क्रियायें चाहे देखने में नगण्य तुच्छ सी क्यों न जॅचतीं हों पर वे उतनी नगण्य या तुच्छ नहीं जितनी वे ऊपर से देखने में मालूम पड़ती हैं। उनके पीछे एक चैतन्य मानव सत्ता है एक सजीव आत्मा है जो अपने अन्दर चिन्मय चिनगारी छिपाई हुई है।

'प्रेत और छाया' में मंजरी अपनी मां को बेहद प्यार करती है इतना प्यार करती है कि वह उसकी देख-रेख और पालन पोषण के लिये होटल में नवयुवकों की दिलवस्तगी के पेशे के द्वारा द्रव्योपार्जन के जीवन तक को स्वीकार कर लेती है।माँ भी अपनी पुत्री को अपने नेत्रों की पुतली बनाकर रखती है पर इतना होने पर भी उपन्यास में उन दोनों के चरित्र स्वभाव का चित्रण जिस ढंग से किया गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि कहीं न कहीं दाल में काला अवश्य है। मा की मृत्यु के कुछ ही दिन पश्चात् पारसनाथ के सामने मंजरी जिन शब्दों में अपने मां की मातृप्रेम से सब कुछ सोखनेवाली प्यास का जिन शब्दों में वर्णन किया है उससे स्पष्ट ही एलेक्ट्रा ग्रन्थि की झलक सामने आ जाती है।

"माँ चाहती भी यही थी कि मैं अगर सब समय उसके निकट भी न रह पाऊँ तो कम से कम उसके पीछे, उसकी चिन्ता में घुलती अवश्य रहूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी कालिज की साथिनों से जिन्हें उसने कभी एक दिन के लिये भी नहीं देखा था वह मन ही मन भयंकर घृणा करने लगी। इत्यादि"[८]

अपनी मां की मृत्यु के ऊपर विचार करते कोई उसके कानों में फुसफुसा उठता ही है "स्नेह के जिस कठोर बंधन में वह तुम्हें बान्धे हुए थी वह तुम्हारे जीवन की गति को चारों ओर रोके हुए था। और भीतर-ही-भीतर तुम्हारे अनजान में तुम्हारी अन्तरात्मा का रस सोख सोखकर तुम्हें निष्प्राण सूखे झाड़ में परिणत करने पर तुला हुआ था। पर अच्छा ही हुआ कि उसकी मृत्यु ऐसे समय में हो गई जब तुम्हारे भीतर थोड़ी सी हरियाली शेष थी।"[९]

'पर्दे की रानी' में मनोविज्ञान

जोशी जी का एक और उपन्यास है 'पर्दे की रानी'। इस उन्पयास की रचना प्रथम पुरुष वाली पद्धति पर हुई है अर्थात् इसमें दो स्त्री पात्रों ने शीला और निरंजना ने अपनी आत्म कहानी के रूप में अपने जीवन की कथा का वर्णन किया है। जोशी जी मनोवैज्ञानिक कथाकार हैं ही। इनके उपन्यासों को पढ़ने से किसी को भी ज्ञात हो जायेगा कि उन्होंने मनुष्य के अन्तस् में बैठी मूलगत प्रवृत्तियों को ही पकड़ने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक कथा वस्तु के संगठन सौष्ठव और चुस्ती दुरुस्ती का सम्बन्ध है वे प्रेमचन्द जी के ही स्कूल में आते हैं, कथा की श्रृङ्खला की कड़ियाँ इतनी बारीकी सूक्ष्मता सतर्कता और कौशल के साथ जोड़ी गई है कि कहीं भी किसी ओर से भी किसी प्रकार

की अव्यवस्था वा शिथिलता दृष्टिगोचर नहीं होती। पर दोनों कथाकारों में मूलगत विभेद है और दोनों में बाहरी सादृश्य विधि को देखकर उन्हे एक ही श्रेणी में रखना सत्य का अपलाप है। प्रेमचन्द घटनाओं के स्रष्टा है, उनके चित्रण हठात् आकर्षित कर लेने वाले जगत व्यापर चक्र की स्थापना कर पाठक को ऐसे जादू के नगर में लाकर बैठा देते हैं कि पाठक वहाँ से टस से मस भी होना नहीं चाहता। उसके सामने एक एक तिलस्मी दुनियाँ खड़ी हो जाती है कि वह उसकी सुन्दरता में तल्लीन हो जाता है और इधर-उधर आँख उठाकर देखने की प्रवृत्ति भी नहीं होती। पर जोशी के घटना-चक्र के ऊपर भी मानव की मूलगत प्रवृत्तियों की ही विजय ध्वजा फहराती रहती है। ऐसा मालूम होता है कि घटनायें लाख सुन्दर हों, लाख आकर्षक हों पर उनकी सार्थकता इतनी ही भर है कि वे अपने जन्म देने वाली मूल प्रवृत्तियों के स्वरूप को पहिचानने में सहायक होती हैं। 'पर्दे की रानी' चूँकि पात्रमुखोद्गीरित आत्मकथा के रूप में कही गई है अतः उसमें पात्रान्तस्थ मूल प्रवृत्तियों को उभार कर दिखलाने की क्षमता भी है। जब कभी अवसर आता है इस उपन्यास के पात्र या तो आत्म विश्लेषण करने में प्रवृत्त हो जाते हैं या वे अपने सहयोगी के मानस का विश्लेषण करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि लेखक ने पात्रों द्वारा मनोविश्लेषण का अवसर देने के लिये ही घटना चक्र को उस रूप में संगठित किया है। निरञ्जना के व्यक्तित्व में अन्तर्निहित जो एक विध्वंशकारी प्रवृत्ति है, पुरुष को अपनी सम्मोहक शक्ति के प्रयोग से आकर्षित कर उसे विनाश के गह्वर में ढकेल देने की जो एक प्रवृत्ति काम कर रही है वह पुरुष जाति के प्रति ही नहीं स्त्री जाति के प्रति भी हिंसक वृत्ति से प्रेरित हो रही है। अपनी सखी शीला की हत्या का कारण भी वही होती है उसके सारे कार्य निद्रा-विचरण-ग्रस्त व्यक्ति के कार्य की तरह हो रहे हैं। इन्द्रमोहन को अपने वाग्बाणों से छेद कर उसे डाक गाड़ी के नीचे गिरकर आत्महत्या करने के लिये वही बाध्यता उत्पन्न कर देती है पर साथ ही साथ उसके प्रति उसके हृदय में प्रेम के भाव भी चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुये है। ऐसा क्यों है? इन्हीं उलझनों की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए अन्त में उपन्यासकार ने गुरूजी को उपस्थित किया है जिन्होंने निरञ्जना की इस मूल विकृति के रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न किया है। लेखक शायद अपने हृदय की तह में महसूस करता था कि इस तरह की व्याख्या के अभाव में उपन्यास का पूर्ण स्वरूप ही खड़ा नहीं हो सकता। अतः उसकी योजना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा यदि कथा कहना ही ध्येय होता तो इन्द्रमोहन की मृत्यु के साथ ही वह तो समाप्त हो चुकी थी। आगे के पाँच छः पन्नों की कोई विशेष आवश्यकता तो न थी।

एक स्थान पर निरञ्जना की मानसिक स्थिति की व्याख्या इस प्रकार हुई है

निरञ्जना किसी तरह उस होटल से जहाँ पर इन्द्रमोहन ने कपट से ले जाकर कौमार्य खण्डित करने की चेष्टा की थी निकल भागती है। वह इसी प्रसङ्ग पर गुरूजी से बातें कर रही है। गुरू जी के समझ में नहीं आता कि निरञ्जना ने ही इन्द्रमोहन को ढीठ बनने को प्रोत्साहन दिया, प्रत्येक रङ्ग और प्रत्येक ढङ्ग से उस चरम स्थिति को निकट लाने मे सहायक हुई। पर जब वह चरम अवसर आ गया तो वह निकल क्यो भागती है, उस अवसर से लाभ क्यो नहीं उठाती? गुरूजी कहते हैं कि-तुम्हारी प्रकृति के भीतर अत्यन्त विरोधाभास वर्तमान है नीरा! निरञ्जना कहती है: इसलिए तो मुझे पागल होने का डर है गुरूजी! केवल एक ही नहीं मेरे भीतर कई विरोधाभास वर्तमान है। मुझे ऐसा लगता है कभी कभी मुझे यह अनुभव होने लगता है कि मेरे मन के मूल केन्द्र के ऊपर बहुत से विचित्र विचित्र संस्कारों के स्तर एक के ऊपर एक इस सिलसिले से जमे हुये हैं और उनमे से प्रत्येक स्तर के तत्व किसी दूसरे स्तर के तत्वों से मेल नहीं खाते। उन सब स्तरों के नीचे मेरा मूल भाव भयङ्कर रूप से दबा पड़ा है। बीच में जब मेरे भीतर परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के कारण भयङ्कर भूकम्प मच उठता है तो उन सब बज्र पाषाणो के समान कठिन स्तरों को डगमगा कर उन्हें भेद करती हुई मेरी वास्तविक प्रकृति प्रबल वेग से बाहर उमड़ पड़ती है। मेरी वह मूल प्रवृत्ति कभी कभी भीषण ज्वालामुखी के समान आग के फव्वारें छोड़ती है और कभी स्निग्ध शीतल जल धारा बरसाती है पर न पहिले का कारण जानती हूँ, न दूसरे का। मैं अपने भीतर तक के विचित्र संस्कारों की क्रिया प्रतिक्रिया की कठपुतली मात्र हूँ। न अपने जीवन का कोई विशेष लक्ष्य दीख पड़ता है न अपने अस्तित्व की कोई उपयोगिता ही समझ में आती है मैं स्वयं अपने लिए पहेली हूँ गुरूजी! क्या कभी इस पहेली को रञ्चमात्र भी सुलझाने में समर्थ हो पाऊँगा"?[१०]

इस तरह सारा उपन्यास इस पहेली बुझौवल से भरा है। प्रत्येक पहेली की जो व्याख्या दी गई है वह पहेली से कम आश्चर्य में डालने वाली नहीं है। साधारणतः हम किसी घटना का अर्थ साधारण और सीधे सादे अर्थ में ही लगने के अभ्यस्त होते हैं! हम जान बूझ कर उसे जटिल बनाना नहीं चाहते। हम किसी को रोते देखते हैं अनुमान करते हैं उसे कोई पीड़ा हुई होगी, किसी को हँसते देख कर हमारे हृदय मे अनुमान हुआ कि उसके हृदय में कोई आनन्द विधायक परिस्थिति उत्पन्न हुई होगी या कल्पना जगी होगी। ऐसा नहीं सोचते कि कोई आँसू को लेकर हँसता हो और खिलखिला कर रोता हो। पीड़ापूर्वक हँसी अथवा आनन्दमूलक रुदन को देखने सुनने के अभ्यस्त हम नहीं होते। पर आधुनिक उपन्यासकार ऐसे पात्रों की अवतारणा करने लगे है। जिनकी टुरङ्गी चाल तथा दोहरे तिहरे व्यक्तित्व को देखकर दङ्ग हो जाना पड़ता है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट होगी । प्रायः देखा जाता है कि कोई पुरुष किसी नारी को प्यार करता है और जब उस प्यार का यथोचित प्रतिदान नहीं मिलता, उसे नैराश्य ही हाथ लगता है तब उसके हाथ कुछ ही उपाय रह जाते हैं। या तो नैराश्य के निर्मम थपेड़ों से ताड़ित होकर आत्महत्या कर ले, मदिरा की घूँटों के सहारे गम को गलत करे अथवा किसी दूसरी नारी की सुखद अञ्चल की शीतल छाया के अन्दर विश्राम करे अथवा कठिन से कठिन साधना द्वारा आजन्म अविवाहित रह कर दीपशिखा की लौ की तरह निरन्तर प्रज्वलित होता रहे। पुराणों तथा कथाओं के नायक सदा से यही करते आये हैं। नायिकाओं की बात दूर रहे। सीता सावित्री दमयती इत्यादि नारियां इस व्रत के कारण ही जन हृदय मे आज तक प्रतिष्ठित हैं। पर यह शायद ही कभी सुनने में आया हो कि नारी से निरादृत होकर—निरादृत होकर ही नहीं, निराश होकर वह किसी दूसरी नारी से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करे। ईर्ष्या की भावना से नहीं, किसी निराशा की प्रतिक्रिया से प्रेरित होकर नहीं, प्रतिहिंसा की भावना से नहीं परन्तु इस भावना से कि दूसरी नारी के सम्पर्क में आकर उसके चरित्र के वे ऊबड़ खाबड़ कोण (angularity) दूर हो जायेंगे जिनके कारण प्रथम प्रेमिका की प्रणय प्राप्ति में बाधा उपस्थित हुई थी। पर ऐसी बात हो इस उपन्यास में घटित हुई है। निरञ्जना से निराश होकर नायक शीला से विवाह कर लेता है। वह कहता है।

"मैंने विवाह क्यों किया यदि इसका यथार्थ कारण मैं आपको बताऊँ तो क्या आप विश्वास करेंगी निरजना देवी......मैंने विवाह केवल इस आशा से किया था कि इस बात से आपके मन पर मेरे सम्बन्ध मे अच्छी धारणा जम जायेगी। मेरे भीतर जो एक आवारागर्दी का भाव मुझे सब समय शैतान की कलाबाजियों के चक्कर में डाले रहता था उससे मुक्ति पाकर मै अपना स्थिर गम्भीर रूप आपके सामने रखना चाहता था। वह स्थिरता मुझे केवल वैवाहिक जीवन से ही प्राप्त हो सकती थी। मै अपने अज्ञात में यह आशा रखता था कि जीवन के किसी चरम अवसर पर कहीं न फिर एक बार आपसे भेंट होगी। उस महत्वपूर्ण मिलन की तैयारी के उद्देश्य से ही मैं अपने जीवन का गठन एक विशेष आदर्श के अनुसार करने पर तुला हुआ था। मेरे लिये विवाह की यही सार्थकता थी।"[११]

अपने स्वभाव में परिवर्तन लाने के लिये तथा अपनी प्रेयसी पर अधिकार प्राप्त करने के लिये दूसरी स्त्री से विवाह कर लेना एक विचित्र उपाय है जिसकी कल्पना प्रेमचन्द युग के कथा साहित्य के पात्र नहीं कर सकते थे। वे विक्टोरियन युग के सीधे सादे से जीवन के राजमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति थे। उनमें किसी तरह की मानसिक कुण्ठा नहीं थी। कोई घुमड़न नहीं थी, कोई मानसिक गाँठ नहीं थी। उनके आत्म सम्मान की भावना को ठेस लगी, तलवार म्यान से निकल पड़ी, सर लेकर या देकर

समस्या का निपटारा हो गया। किसी नारी के प्रति प्रेम हो गया उसके लिये कठिन से कठिन परीक्षा में अपने को डाल दिया। सागर को बाँध डाला, हिमगिरि को अपने सर पर उठा लिया, प्राण ले लिये प्राण दे दिये पर कहीं भी मनोवृत्ति की पेचीदगी, जटिलता एवं मानसिक कुण्ठा का दर्शन नहीं होता। उनके व्यक्तित्व की स्थूलता ही हमारे सामने आती है। उनकी सूक्ष्मता, बारीकी जटिलता कहीं भी दृष्टिपथ में नहीं आती।

'प्रेत और छाया' का एक पात्र नन्दनी को भगा कर ले जाता है। यह कोई नई बात नहीं है। पहिले से भी पात्र ऐसा करते आये हैं, कहीं तो तलवार के बल पर दिन दहाड़े सीनाजोरी कर और कहीं लुक छिपकर चोरी से। पर पारसनाथ को नन्दनी को भगाकर ले चलने में इस बात का अत्यधिक आनन्द है कि वह एक सती साध्वी विवाहिता नारी को पति से छुड़ा कर दूर ले जा रहा है। इसमें उसको एक विकृत रसोपभोग का सुख मिलता है जिसका रसास्वादन एक कुमारी तथा असहाय अथवा एक वेश्या समाज की कन्या को भगाने मे नही मिलता है। वह कहता है

"एक विवाहित नारी को भगाने में जो सुख है वह किसी अविवाहित स्त्री के साथ भागने में किसी भी हालत में प्राप्त नहीं हो सकता। किसी गुणवती और शीलवती सुन्दरी स्त्री का पतिव्रत खंडित करने से हम नरक के कीड़ों की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा की पूर्ति होती है। इसलिये आज मेरे नारकीय जीवन की चरम सफलता का दिन है।"[१२]

इस तरह की मनोवृत्ति हिन्दी उपन्यास के लिये नई वस्तु है और नई है क्रिया कलापों की मनोवैज्ञानिक रूप (Terms) में व्याख्या।

वेश्यायें हमारे समाज तथा हमारे साहित्य के लिये नई चीज नहीं है। प्राचीन कथा साहित्य तथा बीसवीं सदी के हिन्दी कथा साहित्य में उनका साधिकार प्रवेश है। प्रेमचंद के सेवासदन में वेश्या जीवन तथा उसके समाज का पर्याप्त विवरण दिया गया है पर उन्हें विलासियों और ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्तियों के क्षणिक आमोद प्रमोद से कहीं अधिक रूप में कहीं देखने दिखाने की चेष्टा नहीं की गई है। एक सस्ती बाजारू हुस्न परस्ती तथा नाचीज वेश्यापरस्ती वाली ऐयाशी मनोवृत्ति को किसी उदात्त मनोवृत्ति से सम्बन्धित करके अध्ययन नहीं किया गया है। मान लिया गया है कि वेश्यायें हमारे सामाजिक जीवन की मोरियाँ हैं और इनसे मेल जोल रखने वाले लोग इस नरक के बिलबिलाते कीड़े हैं जिन्हें गन्दगी में ही आनन्द मिलता है। वे घृणा के पात्र हैं और समाज को इस कोढ़ से जितना दूर रखा जाय उतना ही अच्छा है। पर क्या आपने कभी यह भी सुना है कि वेश्याओं के बाजार में घूमने वाला कोई व्यक्ति ऐसा भी सहृदय हो सकता है जो वेश्या के अन्तस्थल में जो नारीत्व का मगलमय प्रकाश है उसका पतंग बनने की आकांक्षा रखता हो। यदि ऐसा है तो वह उसे वेश्या की नारकीय अवस्था

से हटाकर अपने हृदय मंदिर में स्थापित कर अपनी एक निराली दुनिया में बसा लेगा। ऐसा नहीं कि वह वेश्या को वेश्या बनाये रखकर ही उसमें नारीत्व का मंगल प्रकाश ढूँढ़ने की चेष्टा करे। पर आज तक जो श्रवणातीत था, साधारणतः अगम्य, था कल्पनातीत था वही उपन्यासों में प्रत्यक्ष होकर सामने आने लगा है। 'प्रेत और छाया' की बात है। जिस समय नन्दनी भुजौरिया जी को छोड़कर पुनः अपने समाज में आकर अपने वेश्यापने का जीवन प्रारम्भ करती है उस समय एक रईसाने मिजाज के ठाकुर का आना जाना वहाँ प्रारम्भ हो जाता है। वे एक बार तरंग में अपने कृतियों की आलोचना करते हुए कहते हैं—

"तिस पर भी वह अपने अन्तर के अगम मंदिर में शुभ्र नारीत्व का कभी न बुझने वाला दीपक जलाये हुए हैं। मैं इसी दीपक का पतंग बनने की इच्छा रखता हूँ। सूर्य के प्रकाश में दीपक का कोई महत्व नहीं रह जाता। चूँकि समाज द्वारा सम्मानित नारी का चरित्र बाहर से शुभ्र निष्कलंक और प्रकाशमय होता है इसलिये उसके भीतर का वह दीपक सब समय निस्तेज पड़ा रहता है। मुझे सूर्य के प्रकाश की अपेक्षा अगम अन्धकार में जले दीपक की लौ अधिक सुन्दर लगती है। यही कारण है कि मैं घोर सामाजिक अन्धकार में डूबे हुए वेश्या हृदय की गहनता में जलने वाले प्रकाश का बड़ा प्रेमी हूँ......मैं यह कहना चाहता था कि नंदनी बाई चाहे हजार वर्ष तक वेश्या का जीवन बिताती रहें पर उनके अन्तर का मगलमय प्रकाश कभी भी धीमा नहीं पड़ेगा।"[१३]

'सन्यासी' से जटिल मनोवृत्ति का उदाहरण

इसी तरह की एक जटिल अनेक अतर्कीय विचित्रताओं एवं रहस्यों से पूर्ण मनोवृत्ति का उदाहरण पं० इलाचन्द जोशी के सन्यासी नामक उपन्यास से लिया जा सकता है। पात्रों मे जटिलता तो है ही जो पूर्व काल के उपन्यासो में भी रहती थी। पर उन जटिलताओं के प्रति पाठको का ध्यान आकर्षित करना एवं पात्रो के व्यक्तित्व को चीर फाड़ कर उनके मूल तत्वों का प्रदर्शन करना आधुनिक कथाकरों की प्रमुख विशेषता है। प्रश्न है कि शांति के साथ कुछ दिनो तक स्वच्छन्द प्रणय क्रिया का जीवन बिताकर अपने भाई के सहज प्रभाव में आकर नन्दकिशोर जयन्ती से विवाह के प्रस्ताव का इस तरह घोर विरोध करता है कि लोगों को इसकी सफलता में निराश हो जाना पड़ता है पर साथ ही साथ इस सम्बन्ध के लिये अपने व्यवहारों से तथा स्पष्ट शब्दों से प्रोत्साहन भी देता है। एक तरह उसी की प्रेरणा पर यह टूटता हुआ सा सम्बन्ध पुनः जुड़ता है और जयन्ती से उसका पाणिबंधन हो जाता है। पर फिर भी विवाहोपरान्त उसके अन्दर कोई ऐसी चीज वर्तमान है जो सारी सुव्यवस्था के बावजूद भी दोनों को चैन की

साँस नहीं लेने देती। छोटी छोटी सी बातों पर "क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः" वाले जीवन के भार से वह ऊब उठता है। न जाने क्या बात है कि कोई साधारण सी बात होती है इसका अर्थ वे दूसरे ही प्रकार से लगाते हैं। नन्दकिशोर कहता है—

"जयन्ती! आज तुम अति सुन्दर मालूम पड़ती हो" जयन्ती न जाने किस कल्पना के संसार मे पहुँच जाती है और मुँह फुला कर कहती है "तो इसका अर्थ यह कि मै सदा आज तक आपको असुन्दर प्रतीत होती रही हूँ......और इसी तरह मानसिक जुगाली करती मन ही मन विष घोलती रहती है। इन दोनों के जीवन का निर्माण न जानें किन विनाशकारी एव विध्वंसक तत्वों को लेकर हुआ है कि उनके जीवन में एकतूफानी अशान्ति ही छाई रहती है। सर्वत्र विशाल निराशा और विध्वंश के बादल मॅडराते नजर आते हैं। इसी बात का विश्लेषण करते हुए एक समय नन्दकिशोर स्वयं पता लगा कर कहता है 'मेरे मनोभावों की विकृति की इस विचित्रता पर गौर कीजिये कि जयन्ती से मै विवाह नही करने जा रहा था कि मैं अपने एकांगी जवन की अपूर्णता को पूर्ण करूँ बल्कि इसलिये कि मुझे इस तेजस्वनी नारी के स्वभाव में एक शांत और सयत तथापि दुर्दमनीय गर्व का जो भाव दिखाई दिया था उसे अकारण ही चूर चूर करने की एक प्रतिहिंसा पूर्ण भावना मेरे मन में समा गई थी।"[१४]

जो व्यक्ति इस तरह की भावना से प्रेरित होकर विवाह करने को तैयार हो वह वैवाहिक जीवन मे सुख की आशा ही कैसे कर सकता है? उस आत्मघाती जीव के लिये अपने अन्तर के ही विनाश के बीजों से पल पल दग्ध होकर पीड़ित होते रहने के सिवाय चारा ही क्या है। उत्कट प्रेम के भावों से प्रेरित होकर नारी के बाह्य सौन्दर्य पर रीझ कर उसके शारीरिक सुखोपभोग की लालसा की दृष्टि से विवाह द्वारा माल प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि और आर्थिक लाभ को ध्यान में रखकर पात्रों को वैवाहिक बन्धन की ओर अग्रसर होते सुना गया था, रोमान्स की बातें सुनी गई थी, हम जानते थे कि किसी विपत्ति काल में पड़ी असहाय सुन्दरी से करुणा के भावोद्रेक के कारण उद्धारकर्ता प्रेम करने लगे। आगे चल कर उससे विवाह भी करले। पर गर्व चूर करने के लिये, प्रतिहिंसा के लिये विवाह करना यह न देखा न सुना। यह उपन्यास के क्षेत्र में एक नूतन दृष्टिकोण का साधिकार प्रवेश है। यह इस बात का द्योतक है कि आज के मानव में महान् परिवर्तन आ गया हैं, पाठक बदल गया है, कथाकार बदल गया है और साथ ही बदल गई है उसकी औपन्यासिक अभिव्यक्ति। यदि हमें जीवन की सच्ची व्याख्या करनी है, मानवता की समस्याओ का सच्चा हल पाना है तो उसके अन्दर पैठना होगा और उसके आन्तरिक स्वरूप के सामञ्जस्य में उसके वाह्य क्रिया कलापों को देखना सुनना होगा।

जोशी जी के अन्दर का कथाकार इस बात को खूब समझ रहा है कि नन्द-

किशोर और जयन्ती के वैवाहिक संबंध में जो मूल प्रेरक भाव हैं वह लोगो को आश्चर्य में डाल देने वाला सिद्ध होगा। इसे सुनकर लोग एक बार अवश्य चौकेंगे। इसके सत्य को संदेहात्मक दृष्टि से देखेंगे और कहेंगे भला यह भी कोई बात है? गर्व चूर करने के लिये विवाह! नहीं कभी नहीं!! अतः लेख कहता है।

"जिस विचित्र प्रकार की प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर विवाह के तैयार होने की बात मैंने लिखी है उसे पढ़कर बहुत से पाठक अविश्वास पूर्वक मुँह बिचकाते हुए यह कहेंगे कि इस तरह की अस्वाभाविक मनोवृत्ति वास्तविक जगत के मनुष्यों में कभी नही आ सकती। पर जो लोग अनुभवी है, जिन्होंने यौवन की गहराई में पैठकर उसके विभिन्न दृष्टिकोणों का निरीक्षण करके उसके विविध पहलुओं का अध्ययन किया है उन्हे यह समझ लेने में देर न लगेगी कि एक विशेष श्रेणी के व्यक्तियों के भीतर जीवन की एक विशेषवस्था में इस तरह के मनोभाव का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं बल्कि पूर्णतया स्वाभाविक है।"[१५]

प्रेमचन्द और जोशी की तुलना

ऊपर की पक्तियों में जोशी जी के उपन्यासों के आधार पर आधुनिक कथा साहित्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की रूपरेखा उपस्थित करने की चेष्टा की जा रही है। आपाततः प्रेमचन्द जी के कथा साहित्य और जोशी जी के कथा साहित्य में अनेक साम्य दिखलाई पड़ते हैं। दोनों के पात्र हमारे दैनिक जीवन मे हिलने मिलने वाले हैं, हमारे दुख में दुखी और सुख में सुखी होने वाले हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि दोनो के उपन्यासों के कथा शरीर में अभूतपूर्व सौष्ठव है, सगठन है, कथा में किसी तरह की अनगढ़ता नहीं है, अव्यवस्था नही है। सारी घटनाये अंगूठी के नगीने की तरह यथासम्भव सतर्कता से बैठी हुई चमक रही है। पर इतने ही साम्य की बात पर दोनों को एक ही श्रेणी में बिठला देना और दोनों को एक श्रेणी का कथाकार मान लेना नितान्त भ्रामक होगा। यह भ्रम ठीक इसी तरह का होगा जिस तरह प्राचीन कथा और आख्यायिकों को आधुनिक उपन्यासों की श्रेणी में रखना। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लखनऊ विश्वविद्यालय के व्याख्यान माला के 'साहित्य का मर्म' शीर्षक व्याख्यान में कथा और आख्यायिका और आधुनिक उपन्यास की तुलना करते हुए कहा है दोनों में अभिव्यक्ति का माध्यम गद्य भले ही हो पर दोनो में सजातीयता, समानधार्मिता ढूँढना व्यर्थ है। उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसे ही उसे चित्रित करने का प्रयास प्रधान होता है। कथा आख्यायिका का लेखक पुराने कवि की भाँति कल्पना द्वारा एक रसमय लोक का निर्माण करता है। वस्तुतः कथा आख्यायिकायें काव्य के पास पड़ती हैं और उपन्यास तथ्य प्रधान जगत के पास।[१६] इन्हीं शब्दों के सहारे हम कह सकते हैं कि वस्तुत: प्रेमचन्द जी के उपन्यास तथ्य प्रधान जगत के पा

बहिर्जगत के पास, व्यावहारिक जगत के पास, राजनैतिक सामाजिक जगत के पास पड़ते हैं। जोशी जी के उपन्यास मनोविज्ञान प्रधान जगत के पास, सूक्ष्म जगत के पास अन्तर्जगत के पास, प्रवृत्यात्मक जगत के पास, व्यक्तित्वमूलक जगत के पास, पड़ते हैं। प्रेमचन्द जी कथा कहते हैं, कथा के सहारे कान्ता की तरह कुछ जीवनोपयोगी उपदेशों की उपलब्धि में सहायक होते हैं। जोशी जी कथा का आश्रय तो अवश्य लेते हैं पर हमारे अन्दर मानव की आन्तरिक मानसिक प्रक्रिया की अनुभूति जागृत करते हैं तथा परिचय में अभिवृद्धि करते हैं। हमें सम्पूर्ण गगनमंडल को अपनी विशालता से बढ़ कर आच्छादित करने वाले अश्वत्थ वृक्ष को न दिखला कर दृष्टिपथ से साधारणतः ओझल रहने वाले उस मूल भूत छोटे से बीज की ओर ध्यान खींचते हैं। प्रेमचन्द स्थूल जगत के चितेरे हैं इलाचन्द जी सूक्ष्म जगत के। एक कथाकार मात्र है दूसरा मनोवैज्ञानिक कथाकार।

मैंने प्रेमचद को कथाकार मात्र कहा है और जोशी जी को मनोवैज्ञानिक कथाकार। ऐसे कथन का आधार क्या है? दोनों में कथा का सौष्ठव वर्तमान है ही, प्रेमचंद के साहित्य में आन्तरिक जगत छुआ ही नहीं गया हो सो तो बात है नहीं, तब मनोवैज्ञानिक विशेषण से केवल जोशी जी को ही विभूषित करने की क्या सार्थकता है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि किसी कृति में आलोचक को बड़ी सूक्ष्मता से इस बात का पता लगाना चाहिये कि स्रष्टा की वैयक्तिक रुचि कैसी है। रचना का वाह्य कलेवर कैसा ही हो पर वे कौन से स्थल हैं, कौन से प्रसंग हैं, कौन सी बातें हैं जिन पर आते ही मानो लेखक की लेखनी चमत्कृत हो उठी है, मानो हृदय का बाँध टूट चुका हो और उसके भाव प्रवाह सहस्र मुखी धाराओं के रूप में उसे अभिसिंचित करने के लिये उन्मुख हो गये हों। ऐसे ही स्थल और उनके प्रति लेखक का आनन्दोद्वेग ही वह विभाजक रेखा है जो उसे अन्य कलाकारों से विभिन्न श्रेणी में प्रतिष्ठित करती है। माना कि कथा के भाग के संगठन और सानुपातिक विकास की ओर दोनों का ध्यान है और दोनों ने इसे सगुण और निर्दोष रूप में देखने की अधिकाधिक चेष्टा की है। पर जहाँ कहीं ऐसा अवसर आता है जहाँ पात्रों के मनोविज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन हो सके जोशी जी ऐसे अवसरों पर चूकते नहीं। उनसे भरपूर लाभ उठाते हैं और अपने वर्णन कौशल, भाषा शक्ति, अभिव्यञ्जनात्मक प्रणाली को केन्द्रीभूत कर देते हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि लेखक ऐसे ही अवसर की ताक में था, ताक में क्या था उसने प्रयत्न पूर्वक ऐसे ही अवसरों की योजना की है जहाँ पात्रों के अन्तर्जगत की गहराई में वह उतर सके, जहाँ की दुनिया निराली है, दृश्य निराले हैं और ऐसे हैं जिन पर लोगों को सहसा विश्वास न आये।

रस्किन ने अपनी पुस्तक मार्डन-पेन्टर्स के तीसरे अध्याय के ८वें पैरेग्राफ में

कुछ इसी से मिलता जुलता प्रश्न उठाया है। उसने कहा है कि चित्रकला के भिन्न भिन्न युगों के इतिहास से यह स्पष्ट है कि चित्रकार अपने चित्र के विषयाधार के निर्वाचन में कभी भी स्वतंत्र नहीं रहे हैं। मठाधीश या बड़े बड़े सामन्तों के निर्देशो पर उनके अभिलेख्य क्षेत्र का निर्द्धारण हुआ है चाहे उनके चित्र स्वर्गीय देवदूत की आत्मा से विकीर्ण ज्योतिर्मंडल से उद्‌भासित हो, चाहे उनमें रोमानी प्रेम की साहसिकता पूर्ण बलिदान गाथा अंकित की गई हो, चाहे देवालयो की दीवालों पर धार्मिक दन्त कथाओं के दृश्य अंकित किये गये हो सर्वत्र चित्रकार की अभिरुचि स्वतंत्र नहीं बल्कि वहाँ के प्रभुओं के संकेत की प्रधानता रही। पर इन बंधनों में जकड़े रहने पर भी कुछ भावावेग प्रकम्पित तथा आन्तरिक उमड़न से सृजित वक्र कम्पनशील उद्कन-भंगिमा चित्र के पीछे खड़ी रहते हमारा ध्यान आकर्षित कर ही लेती है और पुकार पुकार कर कहती है कि वे ही हैं ये स्थल जहाँ चित्रकार की मनोवृत्ति सबसे अधिक रमी है और जहाँ उसने आनन्दोत्सव मनाया है। पुष्पक विमान पर आरूढ़ सीता के सहित आकाश मार्ग से अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हुए लंका विजयी राम की तरह चित्र के अन्दर से कोई उठी हुई आवाज कहती है। 'सैषा स्थली'[१७]। धार्मिक भावना प्रवण युग के प्राणी होने के नाते चित्रकार मानस में धार्मिक भावों की प्रतिष्ठा अवश्य है और उसने (Pisa) के मठों की दीवालों को धर्म भावापन्न चित्रों से सुसज्जित किया है पर उन चित्रो को देखने पर यह स्पष्ट प्रतिबिंबित हो जाता है कि गार्हस्थ्य जीवन के छोटे छोटे चित्र खंड, सुकुमार प्रकृति तथा जगमगाते वस्त्राभूषणाभरण के लिये उसकी प्रतिभा में अधिक पक्षपात है। उसका वास्तविक क्षेत्र वही है। ORCAGNA के उदात्त और अवदात्त चित्रो में जिस औदार्य गम्भीरता और महनीयता का बोध होता है वह साधारण लौकिक विषयो के सम्पर्क में आते ही न जाने कैसे छू मन्तर हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि वह सर्वश्रेष्ठ देवदूतो और धर्म गुरु गम्भीर वातावरण में विचरण करने वाला प्राणी था। 'नवरमाल वन विहरण शील प्राणी' भले ही 'कानन कठिन करीलों' में जाने के लिए बाध्य हो गया हो पर वहाँ शोभा नहीं पा सकता। CORREGIO के विचित्र संतों की वक्र भंगिमा, कृत्रिम हास्य रेखा तथा एक धूमिल अवसन्नता इस बात की सूचना देती है कि वह यदि इस रूप के चित्रण के प्रचलित फैशन की बाध्यता नहीं रहती तो उसकी चित्रकला अपनी अभिव्यक्ति के लिये कोई दूसरा ही क्षेत्र ढूँढ़ती और वहीं से अपने विषयो का निर्वाचन करती।

ठीक यही बात जोशी जी में है। मनोवैज्ञानिक स्थलों को चुन लेने में सतर्कता पूर्वक उनके संयोजन कर लेने का जो इनकी उपन्यास कला में तत्परत्व दिखलाई पड़ता है, छोटी छोटी बातो के तृण ओट में जो पर्वतोच्च विशाल मानसिक प्रवाह छिपा है, उसे देखने और दिखाने की जो प्रवृत्ति पायी जाती है वह जोशी जी के

मनोवैज्ञानिक क्षेत्र को स्पष्ट कर देती है। छोटी छोटी बातों की लम्बी जो व्याख्यायें दी गई है वे इसी बात की द्योतक हैं कि छोटी छोटी बातें ही है जो मानव के व्यक्तित्व की मिट्टी से सीधे अव्यवहित रूप से उपजती है। अतः उनमें चेतन सत्ता के ऐश्वर्य को, प्राणों के जीवंत आवेग को, प्राणों के सच्चे स्वरूप को साक्षात रूप से देखा जा सकता है। महान् घटनायें उन जीवनहीन पौधों की तरह है जो कभी छतों पर उपज जाती हैं पर उनसे जीवन का उच्छ्‌वास नहीं रहता। सन्यासी में एक जगह जयन्ती ने नन्दकिशोर के लिये गुच्छी की तरकारी बनाई और एक बार कैलाश के आगमन पर चाय के साथ मेवे इत्यादि लाकर दिये। बात सीधी सी है पर इसी के सहारे लेखक ने पाठकों का ध्यान न जाने कितनी मानसिक गुत्थियों की ओर आकर्षित किया है: "गुच्छी की तरकारी वाली बात का जो उल्लेख मैंने किया है उसे पढ़ कर विज्ञपाठक अवश्य ही यह मत प्रकट करना चाहेंगे कि ऐसी तुच्छ बात पर इतना महत्व आरोपित करना हास्यापद है। मैं जीवन में नाना चक्रों के फेर में पड़कर दीर्घ अनुभव के बाद इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि रात दिन के जीवन की छोटी से छोटी तुच्छ से तुच्छ बातों से मनुष्य की यथार्थ प्रकृति का वास्तविक परिचय प्राप्त होता है। बड़ी बातों से मानव चरित्र की ऊपरी सतह का परिचय मिलता है और छोटी बातें उसके मर्म में छिपी हुई विशेषताओं को प्रकाश में लाती हैं"।[१८]

जोशी जी का 'मुक्तिपथ'

मुक्तिपथ जोशी जी का इधर का नया उपन्यास है। इतना अवश्य है कि इसमें लेखक की कथा कहने की प्रवृति में वर्णनात्मकता, प्रेमचंदी रंग ढंग की अभिवृद्धि मालूम पड़ रही है। आधुनिक मनोविश्लेषण की गहरी छान बीन के द्वारा मानसिक स्तरों को उघाड़ कर दिखलाने की चेष्टा कम गई है। दैनिक जीवन की छोटी मोटी अर्थहीन सी लगने वाली क्रिया चेष्टाओं के द्वारा व्यक्तित्व की झाँकी नहीं दिखलाई गई है पर घटनाओं की व्याख्या करने तथा उनके इस अबोध गम्य रूप विधान की बोध-गम्य एवं युक्ति-युक्त व्याख्या करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। लेखक मानो हम से कह रहा है कि जीवन की चाहे किसी तरह की घटना क्यों न हो बड़ी से बड़ी या छोटी से छोटी (अणोरणीयान् महतो महीयान्') सबके मूल में मानव की कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ ही होती हैं। एक छोटे से परिवार की सेवा में दिन रात संतोष पूर्वक शांत चित्त से दत्त चित्त रहने वाली सुनन्दानामक नारी में राजीव नामक पुरुष एक विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित कर देता है, उसके अन्दर इन भावों को जगा देने में समर्थ होता है कि उसकी सार्थकता इसमें है कि वह अपनी विश्व विजयनी मूल प्रेरक शक्ति का उपयोग इस विशाल विश्व के विराट परिवार की सेवा में लगाये। उसकी वैषम्य और दैन्य पूर्ण स्थिति को दूर कर एक ऐसी योजना की स्थापना करे जिसके द्वारा जीवन

लिका बना देता है। पर इनमें और मुक्तिपथ में अन्तर है। दोनों कथाकारों ने पुरुष पात्रों में मानसिक गुत्थियाँ, पेचीदगी और जटिलताओं को समाविष्ट कर उनका विश्लेषण किया है पर मुक्ति पथ में जटिलता का आरोप मानवोचित दुर्बलता का प्रदर्शन पुरुष में न होकर नारी में है। राजीव का व्यक्तित्व एक ऐसे उच्च सिद्धांत के शिखर पर प्रतिष्ठित है कि जहाँ से खाड़ी की तलहटी की हरियाली की ओर दृष्टि जाती ही नहीं। ठीक उसी तरह मानो वृक्षों की फुलङ्गी पर बैठा हुआ मानव अपने शरीर में लगने वाली प्रचण्ड झंझावात और झुलसाती लुओं को ही जीवन का चिरन्तन सत्य समझ कर उन्हीं का स्वागत करने अथवा उन्हीं के अनुरूप अपने जीवन को मोड़ने में ही चरम उद्देश्य की सिद्धि समझे। पर वह स्नेह की धारा जो वृक्ष की जड़ों को सींचती है उसको भूल ही जाय। पर सुनन्दा ऐसी नहीं वह मानव की प्रवृत्ति की नींव पर ही जीवन की विशाल इमारत रखना चाहती है। यही कारण है कि वह अपने परिवार में भी सन्तुष्ट नहीं और मुक्ति निवेश के वृहद परिवार से भी सन्तुष्ट नहीं क्योंकि दोनो ही परिस्थितियों मे विश्वनारी को जो दमित आकांक्षायें हैं उन्हें उचित मार्ग प्रवाह नहीं मिलता।

वास्तव में देखा जाय तो मानसिक जटिलता के अधिक समावेश की बात नारी में जितनी सहज स्वाभाविक लगती है उतनी पुरुष जाति में नहीं। कारण मानव चेतना के विकास के साथ साथ नारी की भावनाओं को जितना दबाया गया है, नारी ने अपने भावों का जितना दमन किया है, उनको जितना भूल जाने का प्रयत्न किया है उतना पुरुष ने नहीं। उसका हाथ सदा ऊँचा रहा है। वह सदा से दबाता dominate करता आया है, जीवन में उसके पुरुषत्व के गौरव की स्वीकृति एक तरह से मान ली गई है। उसे विशेष कुछ करना नहीं। यही कारण है कि भारतीय परम्परा के अनुसार नारी ही भाव जगत में अधिक सक्रिय दिखलाई गई है। प्रेम की पीड़ा का दुर्वह-भार उसे ही ढोना पड़ रहा है। नारी अपने प्रिय पात्र और प्रेमी के प्रति अधिक प्रयत्नशील दिखलाई गई है। यह बात भले ही हो कि उसकी यह क्रियाशीलता अन्तर्जगत मे न होकर बहिर्जगत में ही अधिक सार्थकता दिखलाती हो। पगन में छाले पड़े प्राणन को लाले पड़े तउ-लाल लाले पड़े रावरे दरस को" भले ही पैरों के फफोले शीघ्र ही हमारी नजरों में आ जांय, प्राणों के लाले सहज ही दृष्टिपथ मे आ जाय पर इस बात का निर्णय करने का दावा कौन करेगा कि दिल पर और मन पर फफोले नहीं पड़ते, वहाँ पर कोई गाँठ, कोई जटिलता, कोई ग्रन्थि जम कर नहीं बैठ पाती और जीवन भर बेताब नहीं किये रहती। नारी के मत्थे क्रियाशीलता के आरोपण की भारतीय प्रवृत्ति चाहे भारतीय हो पर यह प्रस्ताव कि युग युग की नारी की पददलित भावनाओं में इस सक्रियता का मूल ढूँढा जाय यह यों ही टाल देने की वस्तु नहीं है। राजीव (पुरुष)

के सम्पर्क ने भले ही प्रथमतः सुनन्दा (प्रकृति) को सक्रिय किया हो पर एक बार सक्रिय हो जाने के बाद पुरुष का भी नियन्त्रण वह नहीं मानेगी। वह अपनी साधना की सिद्धि तक पहुँच कर ही रहेगी। बस इसी मूल मनोवैज्ञानिक तत्व को जोशी जी ने मुक्ति पथ में दिखलाने की कोशिश की है और मैं यह कहना चाहता हूँ कि वे इस तरह भारतीय परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

ऊपर की पंक्तियों में विशेषतः जोशी जी के उपन्यासों के आधार पर यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि मनोविज्ञान का प्रभाव कथा के क्षेत्र में यह परिलक्षित होता है कि कथायें वर्णनात्मकता का रंग ढंग छोड़कर व्याख्यात्मकता का रूप धारण करने लगी है, घटनाएँ, वर्णन, वस्तु व्यंजना गौण होने लगी है, उनकी प्रधानता घटने लगी है और अब वे अपने स्वतत्र रूप में उपन्यासतत्व के अधिकारी नहीं रह गये हैं। यह पद अब व्याख्याओं को, मानव मन के अनेकों पर्दों को फाड़कर देखने की प्रवृत्ति को दिया जाने लगा है। इसका एकमात्र नहीं तो प्रमुख कारण यह अवश्य है कि मनोविज्ञान ने इस छानबीन करने की, मानव मन की व्याख्या करने की आदत डाल कर हमारी कथा की धारा को भी उधर प्रवाहित किया है।

जोशी जी का नया उपन्यास जिप्सी

जिप्सी उपन्यास में आते-आते जोशी जी ने मनोविज्ञान के कुछ नूतन पहलुओं को भी अपनी कथा का आधार बनाया है और साथ ही कुछ ऐतिहासिक घटनाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या देने का प्रयत्न किया है। अब तक के जितने उपन्यास थे चाहें वे जोशी के लिखे हों अथवा किसी अन्य के किसी मे भी सम्मोहन (Hypnotism) को कथा सूत्र के विकास में सहायक के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया था। एक पात्र को दूसरे पात्र की उपस्थिति में प्रभाव ग्रहण करते भले ही चित्रित किया गया हो पर सम्मोहन कला को विधिवत् उपन्यास के क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार नहीं मिला था। सृजनात्मक प्रतिभा ने उसे अपने यहाँ स्थान नहीं दिया था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशाब्दों में तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दिनों में सम्मोहन ने अनेक मनोविदों का ध्यान आकर्षित किया था। Macdugal ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Abnormal Psychology में सम्मोहन सम्बन्धी अनेक मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक प्रयोगों का उल्लेख किया है। वास्तव में देखा जाय तो फ्रायड के अचेतन और उपचेतन वाले सिद्धान्त के आविष्कार के मूल में Hypnotism का मुख्य स्थान है। पर विचार तथा ज्ञान क्षेत्र की वस्तु को हमारे व्यक्तित्व को ऊपरी लहरों से छन कर उस गहराई तक पहुँचने में समय लगता है जहाँ से सृजनात्मक प्रक्रिया आरम्भ होती है। अतः आज तक उपन्यास साहित्य के क्षेत्र से सम्मोहन वर्जित ही रहा। अब जाकर

सृजनशील आन्तरिक गहराई तक पहुँचने लगा है और आशा है इस विषय को अनेक प्रतिभाओं इसका वरदान प्राप्त होगा।

जिप्सी उपन्यास का नायक नृपेन्द्र सम्मोहन कला का ज्ञाता है और वह अपनी यौगिक शक्तियो को पूर्ण रूप से जगाकर मनिया को उस सुषुप्तावस्था में ले जाता है जिसे अंग्रेजी मे हिफनोटिक-स्लीप, सम्मोहन निद्रा कहते हैं और उसी अवस्था में अपने आत्म विश्वास पूर्ण दृढ़ आदेशो एव संसूचनाओं द्वारा मनिया के विद्रोही भावों को जीतकर अपने प्रति आसक्त बनाता है. वह ठीक एक सम्मोहक (hypnotist) की तरह सुषुप्त मनिया से कहता है।

"तुम्हारा छुटकारा तभी मिलेगा जब मै चाहूँगा। मैं चाहे काल होऊं या कुछ और पर हर हालत में तुम्हारा प्यार चाहता हूँ......मुझे प्यार करो। उसी में डूब जाओ और उसमें अपनी सारी जिन्दगी खपा दी बोलो करोगी मुझे प्यार।"

हाँ

फिर बोलो प्यार करोगी और खुश रहोगी ?

हाँ, प्यार करूँगी और खुश रहूँगी

अब तो मैं काल की तरह नहीं लगता

नहीं

तब नींद से उठ बैठो[20]

इस बार के प्रयोग का अभाव मनिया पर यथेष्ट रूप से पड़ा पर आगे चलकर जब मनिया में ज्यों-ज्यों आत्म-विश्वास और स्वतन्त्र-चिंतन की मात्रा बढ़ती जाती है सम्मोहन हाइपनटिज्म का प्रभाव कम होता जाता है। १५ वें परिच्छेद में नृपेन्द्र ने इस कला का प्रयोग किया है और उसी के शब्दो में।

"यह स्पष्ट है कि मेरे हिफनोटिज्म का केवल आधा ही प्रभाव उसके अन्तर्मन पर पड़ा था"......इसी तरह के एक दो प्रयोग की असफलता के बाद नृपेन्द्र अपनी असफलता के कारणों का उल्लेख करता हुआ कहता है।

"तब मेरी सफलता का कारण यह था कि तब मैं मनिया की सच्ची मंगल कामना से प्रेरित होकर...सच्चा आत्मिक बल पाकर उसके मन को प्रभावित करने को उद्यत हुआ था पर आज मै उसकी वास्तविक कल्याण कामना से प्रेरित न होकर अपनी स्वार्थ हानि की आशंका से ईर्ष्यादग्ध होकर कृत्रिम मानसिक बल के प्रयोग से हिफनोटाइज करने चला था"[21]...

उपन्यास मनोविज्ञान का शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं है कि इसमें मनोवैज्ञानिक पहलुओं और समस्याओं की तर्क सम्मत मनोवैज्ञानिक व्याख्या की जाय। संभव है कि हाइपोनिटिज्म की सफलता और असफलता की व्याख्या मनोविज्ञान की पुस्तको में अन्य

प्रकार से की गई हो। Macdugal ने अपनी पुस्तक Outine of Abnormal Psychologyमें Hypnosis नामक चतुर्थ अध्याय में इस तरह के प्रयोग की सफलता और असफलता की चर्चा की है। एक सम्मोहक कुछ अध्यापकों और विद्यार्थियों के समूह में एक सभ्रात महिला को सम्मोहनावस्था में ले गया। उसके हाथ में कागज का बना हुआ एक छुरा दे दिया गया। अब आप उसे कोई आदेश दीजिये कहिये कि अमुक की हत्या करे। वह बड़ी तत्परता से आपकी आज्ञा का पालन करेगी। पर जब विद्यार्थियों ने उससे कहा कि तुम अपने अधोवस्त्र को उतार कर नग्न हो जाओ तो तुरन्त उसकी सम्मोहनावस्था जाती रही और वह नैतिक क्रोध के भाव प्रकाशित करती अपने घर चली गई। इस पर टिप्पणी करते हुए लेखक कहता है।

यह कथा इस सत्य का प्रतिपादन करती है कि सम्मोहक के लिए किसी को दृढ़ नैतिक भावना के विरोधी कर्म के लिये नियोजित करना आसान नहीं...[२२]

यह व्याख्या सम्मोहित व्यक्ति को दृष्टि में रख कर दी गई है और हो सकता है कि अधिक वैज्ञानिक हो। जिप्सी में जोशी ने सम्मोहित करने वाले व्यक्ति को दृष्टि में रखकर व्याख्या दी है। पर बात अपनी जगह ठीक है कि जोशी जी की मनोविज्ञान-प्रियता ने प्रेरणा दो है कि वे अपने उपन्यासों में रहस्यपूर्ण मनोवैज्ञानिकता को भी स्थान दें।

जिप्सी के दो महत्वपूर्ण स्थल

इस उपन्यास के दो और स्थल है जहाँ साधारण बुद्धि को चुनौती देने वाली मनोवैज्ञानिक व्याख्यायें दी गई हैं। प्रथम स्थल वह जहाँ फादर जरमिया ने ईसा के महान आत्म बलिदान की दारुण परिस्थितियों के प्रति सामर्थ्य रहते भी चुपचाप आत्म समर्पण के मनोविज्ञान का उद्घाटन किया है। दूसरा स्थल वह है जहाँ नृपेन्द्र द्वारा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की परिस्थिति मे रहने देने के लिये पूर्ण आश्वासन दिये जाने पर भी हजार दो हजार रुपये देकर उसे दूसरी दुकान खुलवा देने का वचन देने पर भी मनिया दुबारा दुकान खोलने पर तैयार नहीं होती है और कहती है: बाबा कोई इस गरीब लाचार को एक पैसा दे दो भगवान तुम्हारा भला करेगा[२३] कहती हुई भीख माँगतो फिरेगी। इस उपन्यास के पूरे दो परिच्छेद अठाइसवाँ और उनतीसवाँ ईसा की मृत्यु की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

The Story represents the truth, namely, that the patient cannot easily be induced to perform-any acion to which his moral character is decidedly opposed

के लिये दिये गये हैं और यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि ईसा की ऐसी दुर्गति दारुण मृत्यु मनसा नियत (Psychically determined) थी। ईसा के द्वारा हो (उनके अचेतन द्वारा कहना अच्छा होगा) इस तरह की परिस्थितियाँ उत्पन्न की गई है कि उन्हें काँटों का ताज पहिनना पड़े। लोग उनपर पत्थर फेंकें, थूकें और तालियाँ पीटें। इस महान् विद्रोही आत्मा की यह निश्चित योजना ही ऐसी थी कि उसको मृत्यु के पुंजीभूत उत्पीड़न को चरम मार्मिकता का रूप दिया जा सके। कुछ लेखक के शब्दों को लीजिये : : "वह जैसे अपने जीवन की सारी साधना उसी घोर अवमानना पूर्ण और साथ ही निदारुण रूप से कारुणिक मृत्यु की सिद्धि के लिये नियोजित किये चले जा रहे थे। क्योंकि उन्हें यह निश्चत विश्वास था कि (Vengence is mine, I will repay) प्रतिहिंसा मेरी है मैं बदला चुकाऊँगा और तभी यह बदला चुका सकते थे जब जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकें जिनके कारण उनकी मृत्यु अत्याचारियों के हाथों से हो और साथ ही अधिक से अधिक हृदय विदारक और अधिक से अधिक मर्मघाती रूप में हो अर्थात् ईसा एक ऐसी महाज्वाला अपने शिष्यों के पास थाती के रूप में दे जाना चाहते थे जो धधकती रहे और तत्कालीन सत्ताधारियों को भस्मसात् करदें। यहाँ तक कहा गया है : : पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह विनय, वह नम्रता, वह अहंभाव शून्यता वह आत्म समर्पणशीलता दमित अहम्-का ही परिपूर्ण प्रस्फुटन है यद्यपि उल्टी दिशा में[२४]। फ्रायड के मनोविज्ञान से परिचित व्यक्ति से कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह किसका कंठ स्वर है।

मनिया की विचित्र इच्छा, जिसको चर्चा ऊपर की गई है, उसकी मनोवैज्ञानिक रहस्य को बतलाते हुए कहा गया है कि वह भी विद्रोह का विकृत रूप था "बाबा कोई इस गरीब को एक पैसा दे दो की रट लगा कर दर दर ठोकरें खाकर अपनी अवमानना को चरम सीमा तक पहुँचाकर समाज तथा कथित प्रतिष्ठित व्यक्तियों की मार्मिक पीड़ा जगा कर विकृत प्रतिहिंसात्मक आत्म संतोष प्राप्त करने का यह परिवर्तित रूप था।

आधुनिक मनोविज्ञान के अन्वेषणो द्वारा सहबोधावस्था (Coconscious Personality) की अवस्थिति का पता स्पष्ट रूप से चला है। इसका अर्थ यह है कि विशेष प्रबल मानसिक क्रियाओं के कारण आदमी का व्यक्तित्व दो तीन चार खंडों में विभक्त हो सकता है और कभी कभी व्यक्तित्व का एक खण्ड दूसरे खण्ड से सर्वथा स्वतंत्र और अपरिचित रूप में काम कर सकता है। एक के कार्य व्यापार का दूसरे को कुछ भी ज्ञान नहीं रह सकता है। यह भी संभव है कि एक खण्ड दूसरे की स्थिति से परिचित रहे और कभी विरोधी कभी सहयोगी के रूप में क्रियाशील हो

इस तरह के व्यक्तिनिष्ठ एकाधिक व्यक्तित्व के रूप में मनिया का चित्रण कई स्थानों पर किया गया है। एक स्थान पर वह कहती है : : मुझे लगता है कि मनिया नाम की जो लड़की तुम्हारे साथ इस बँगले में रहती है.................वह मुझसे कोई भिन्न लड़की है। तब मैं प्रत्यक्ष अपने को मनिया से अलग देखने लगती हूँ......कभी उसे डाँटने की इच्छा होती है कभी उसे प्यार करने को जी चाहता है[२५] कुछ आगे बढ़कर जब नृपेन्द्र समझाता है "भिन्नता है वह तुम्हारे द्विधा विभक्त मन में है" तब वह कहती है "एक अनोखी अनुभूति मुझे धर दाबती है जैसे मैं मै ही नहीं रह गई हूँ और किसी दूसरे व्यक्ति की आत्मा मेरे भीतर प्रवेश पा गई है। जैसे मेरा शरीर और मेरा नाम केवल ये ही दो चीजें शेष रह गयी हैं।"

इस तरह इस उपन्यास में से अनेक प्रसंग उद्धृत किये जा सकते हैं, ऐसे विचार दिखलाये जा सकते हैं जो इस उपन्यास से अधिक मनोविज्ञान की पुस्तक के लिये अधिक उपयोगी हो सकते थे। इलाचंद जी हिन्दी के उन औपन्यासिकों से है जिनकी उपन्यास कला कथा में ही ढल कर अपने स्वरूप को प्रस्फुटित करती है पर विषय के निर्वाचन में उन्होंने दृढतापूर्वक मनोविज्ञान को अपनाया है। उनमें आधुनिक सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं के प्रति अवहेलना नहीं है। गाँधीवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद इत्यादि का मार्मिक विवेचन जितना इनके उपन्यासों में हुआ है उतना शायद ही अन्य किसी के उपन्यासों में हुआ हो पर सब कुछ हुआ है मानव के मनोवैज्ञानिक आधार पर, सब के मूल में रहने वाली मौलिक प्रवृत्तियों की ही छान बीन की गई है। इस सम्बन्ध में आइन्स्टाइन और फ्रायड के उस पत्र व्यवहार [२६] की याद आ जाती है जिसमें युद्ध के मनोवैज्ञानिक कारणों का फ्रायड ने विश्लेषण किया है। इसका प्रभाव इलाचंद जी पर अवश्य है जैसा कि प्रेत और छाया की भूमिका से स्पष्ट है।

एक बात का और उल्लेख कर इस प्रसंग को समाप्त करूँगा। जिप्सी की उपसंहार की पंक्तियाँ बड़ी ही प्रकाशवर्द्धिनी हैं। मैंने कहा है कि मनोविज्ञान का ही यह प्रभाव है कि आज के कथा साहित्य में असाधारण एवं विकृतमानस पात्रों की अवतारणा होने लगी है। यह बात जोशी जी अच्छी तरह पहिचानते हैं। कथा सुनने के बाद कहने वाला कहता है कि इस कथा में आपको उपन्यास का मसाला भले ही मिले पर एक कठिनाई आपको यह होगी कि आपका नायक दुर्बलप्रकृति चारित्रिक शक्ति से रहित बे पेंदे का लोटा सिद्ध होगा इस पर लेखक कहता है—

"मेरे लिये यही एक प्रलोभन है। वीर नायकों की गाथा लिखने वाले उपन्यासकारो की कमी नहीं है पर दुर्बल स्वभाव व्यक्तियो को कथानायक बनाने क सौभाग्य अकेले मुझे ही प्राप्त है"

पाद टिप्पणियां

(१) विवेचना, द्वितीय संस्करण, २००० पृ० १८०

(२) प्रेत और छाया की भूमिका (३) रंगभूमि पृ० २८८ (४) वही (५) प्रेत और छाया पृ० (६) निर्वासित, प्रथम संस्करण, सं० २००३, लीडर प्रेस प्रयाग, ४६ वां परिच्छेद पृ० २७५ से २८०

(७) प्रेत और छाया, द्वितीय संस्करण सं० २००४, पृ० ३८५

(८) वहीं पृ० ३६४ (९) वहीं

१०. पर्दे की रानी, द्वितीय संस्करण, लीडर प्रेस, प्रयाग पृ० ९८।

११. वही पृ० १७८। १२. प्रेत और छाया पृ० २९७; एक पात्र नन्दिनी को भगाकर ले जाता है पर जब उसे पता चलता है कि वह कुलीन गृहस्थ की विवाहिता स्त्री न होकर वेश्या थी तो उसे निराशा होती है। इस पर नन्दिनी कहती है "तो क्या अभी तक तुम यह समझे बैठे थे कि समाज के और पति के बंधन में बंधी हुई एक भले घर की बहू को फुसला कर भगाये लिये जा रहे हो? ठीक है, यही बात है। एक कुलीन घराने की विवाहिता स्त्री को भगाकर उसका धर्म नष्ट करने में तुम जैसे अधम पुरुषों को जो सुख मिलता है वह किसी वेश्या समाज की लड़की को, चाहे वह विवाहिता ही क्यों न हो, भगाने में कहाँ मिल सकता है" पृ० ३०३।

१३ प्रेत और छाया पृ० ३३२। १४. संन्यासी पृ० ३५२।

१५. वही पृ० ३५३। १६ साहित्य का मर्म, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, लखनऊ विश्वविद्यालय व्याख्यान माला, नं० १ पृ० ६३।

१७. सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्

रघुवंश त्रयोदश सर्गः २३ वाँ श्लोक

१८. संन्यासी, चतुर्थ संस्करण, भारती भंडार लीडर प्रेस प्रयाग पृ० ३६१।

१९ मुक्तिपथ, हिन्दी भवन इलाहाबाद २००६ पृ० ४२४।

२०. जिप्सी, प्रथम संस्करण परिच्छेद १५। २१. वही

२२. Outline of Abnormal Psychology by Macdugal 6th edition P. 91। २३ जिप्सी प्रथम संस्करण।

२४. वही। २५. वही। २६. Collected papers by Frued

एकादश अध्याय

जोशी जी की कहानियों में मनोविज्ञान

जोशी जी की कहानियो में मनोवैज्ञानिक विषय का आग्रह: चिट्ठी पत्री कहानी मे हीनता ग्रन्थि

मनोवैज्ञानिक विषय के निर्वाचन की दृष्टि से जोशी जी आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य के सर्वश्रेष्ठ लेखक है। इनकी कथाओं में चोर, जुआरी, लम्पट, मद्यप हत्याकारी पात्रों की भरमार है। इनमें किसी न किसी तरह की मनोविकृति है। इनकी मनोवृत्ति असाधारण है और ऐसा प्रतीत होता है कि इनके व्यक्तित्व का पूर्णरूपेण सगठित विकास नहीं हो सका है। उनके व्यक्तित्व का कोई न कोई एक अलग पिण्ड पड़ा सा है और वह घुलमिल कर जीवन रस के साथ तदाकार नहीं हो सका है। पूर्व के अध्याय में जोशी जो की "किडनेपड[1]" कहानी पर विचार हो चुका है। उनकी एक दूसरी कहानी है "चिट्ठी पत्री" जिसमें पत्रात्मक शैली के द्वारा प्रमीला नामक एक धीर गम्भीर नारी की दारूण मृत्यु की कथा है। प्रमीला जूनियर केम्ब्रिज पास लड़की है पर सुसराल जाने पर वहां की प्राचीन प्रथाओ की इस तरह पुजारिन हो जानी है कि वहाँ पर्दा प्रथा की उपयोगिता तक में विश्वास करने लगती है। अन्त में उसका पति किसी वे बात की बात पर उसे एक लात जमाता है। उसे सह लेती है पर उसे बुखार हो जाता है और आगे चल कर निमोनिया के रूप में परिणत होकर उसकी मृत्यु का कारण होता है। अपने रोगी जेठ की परिचर्या तथा सेवाओं में अतिरिक्त तत्परता दिखाने के कारण भी उसे लोगों की भर्त्सना सुननी पड़ी थी अर्थात् हर तरह से वह एक मनोवैज्ञानिक केस के रूप में उपस्थित होती है और उसकी प्रत्येक हरकत किसी छिपी आन्तरिक पीड़ा का संकेत है। कुछ क्रियाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयत्न तो लेखक की ओर से हुआ है। पर कुछ वाह्य आचरण तो इतने स्पष्ट है कि उनके आन्तारक कारण का पता पा लेना किसी मनोविज्ञान से परिचित पाठक के लिए कठिन नहीं। नई शिक्षा दीक्षा में पली केम्ब्रिज पास लड़की के लिये प्राचीन पंथी वातावरण से समझौता कर लेना, समझौता ही नहीं कर लेना पर उसकी वकालत भी करने लगना—इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के मूल में जो मनोवैज्ञानिक कारण क्रिया शील होते हैं उन्हें समझ लेना कठिन नहीं है। यह हमारे अन्तर्मन की वह क्रिया है जिसे मनोवैज्ञानिकों ने over compensation या reaction formation[2] कहा है।

डाक्टर कैलाश नाथ प्रमीला के रोग की चर्चा करते समय अपने मित्र के पास पत्र में लिखते हैं "एक मनोवैज्ञानिक डाक्टर की हैसियत से मैं यह कहूँगा कि उसका दीर्घ काल व्यापी मानसिक पीड़न पति की लात से चरमावस्था को पहुँच जाने के कारण उसके अज्ञात चेतन ने एक घातक रोग का आश्रय पकड़ लिया। तुम कहोगे कि इतनी घातक बीमारियों को छोड़कर उसने न्योमोनिया का ही आश्रय क्यों पकड़ा? मनोविज्ञान इसका भी, सन्तोषजनक उत्तर देने के लिये तैयार है पर चूँकि"[3]............ यद्यपि यहाँ मनोवैज्ञानिक कारण का उल्लेख नहीं किया गया है पर इस कहानी मे मनोवैज्ञानिकों की व्याख्या के लिये अति मनोरंजक सामग्री वर्तमान अवश्य है।

प्रमीला के मनोविज्ञान की जटिलता के प्रति भी लेखक पर्याप्त रूपेण सतर्क है। प्रमीला इतनी शिक्षिता होकर तथा आधुनिकता के रंग में रंगी होकर भी अपनी ससुराल वालों की प्राचीन पंथी प्रथाओं को स्वीकार कर लेती है। साधारणतः पाठक को प्रमीला के इस व्यवहार में उसकी सहिष्णुता, धैर्य और उदारता का ही दर्शन होता है। पर लेखक के लिये प्रमीला का मनोविज्ञान इतना सहज नहीं है। वह जानता है कि बाह्य दृष्टि से उज्ज्वल, परिमार्जित तथा सभ्य लगने वाले आचरण के मूल में कितनी मनोवैज्ञानिक कदर्थता या कुण्ठा रहती है। कमल का पुष्प बाहर से देखने में कितना ही नयनाभिराम क्यों न हो उसकी जड़ कुत्सित पंक में ही है। ऐडलर के मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के मूल में हीन भावना (Inferiority Complex) काम करती रहती है। वह अपने को हीन अनुभव करता है। और इस भावना से मुक्त होने के प्रयत्न में वह एक ऐसे पथ को चुन लेता है जहाँ उसकी प्रशंसा हो और उसके अहं को तुष्टि मिल सके। प्रमीला में भी यही बात दीख पड़ती है। उसकी एक सखी उसके पत्र के उत्तर में लिखती है "शायद तुम यह सोचती हो कि तुम्हारा हृदय सचमुच पर्दा प्रथा की महत्ता स्वीकार करने लगा है पर यह निरा ढोंग है। तुम्हारा अभिमानी हृदय मानों सांसारिक तथा सामाजिक चक्र में दलित और पिष्ट होकर अंत मे अपने आप को ठगना चाहता है और नम्रता, दैन्य और विनय की चरम सीमा को पहुँचकर अपने अभिमान के भाव की तुष्टि करना चाहता है"।[4]

मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण कथा में विवाहोपरान्त मानसिक हलचल के वर्णन का प्रारम्भ

कथाओं के पाठक से यह बात छिपी नहीं कि अभी हाल तक कथा-साहित्य में स्त्री और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण की कथा विवाह के विराम विन्दु पर आकर समाप्त हो जाती थी। ऐसा मालूम होता था कि व्यक्ति के मानस की सारी हलचलें, सारी तरंगें, उमंगें वैवाहिक सीमा का स्पर्श कर रिक्त हो जाती हैं और उनमें कोई

जीवन नहीं रह जाता कि वे स्पन्दित हो सकें। अतः दाम्पत्य जीवन के पश्चात् पात्रों के मानसिक जीवन को ब्लैक आउट कर दिया जाता था। पर जब से मनोविज्ञान ने कथा को प्रभावित करना आरम्भ किया है तब से विवाहोपरान्तीय जीवन में भी पात्रों की मानसिक साहसिकता ने अपना चमत्कार प्रदर्शित करना प्रारम्भ किया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि व्यक्ति की वास्तविक मानसिक साहसिकता विवाह परवर्ती युग में ही पूर्णरूपेण क्रियाशील होती हैं। जीवन में एक भिन्न लिङ्गी (नारी के लिये पुरुष और पुरुष के लिये नारी!) व्यक्ति के सामीप्य के कारण व्यक्ति के मानस में एक घोर विक्षोभ उत्पन्न होता है। प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष, शिशुकालीन जीवन की अनेक परिस्थितियाँ अचेतन रूप में हमें विचित्र ढङ्ग से प्रभावित करने लगती हैं। एडिपस परिस्थिति को इस परिवर्तित समय में अपने चमत्कार को अनेक रूपों में दिखलाने का अवसर मिलता है। इस मनोवैज्ञानिक धारणा का प्रभाव यह हुआ है कि जहाँ प्रेमचन्द तक कथा विवाह तक ही सीमित थी वहाँ अब उसका प्रारम्भ ही वैवाहिक जीवन से होता है। जैनेन्द्र, अज्ञेय और जोशी की कहानियाँ इसके प्रमाण हैं।

जोशी जी की कहानियों का लक्ष्यीभूत पाठक मनोविज्ञान का ज्ञाता है। वह इन कहानियों में मनोविज्ञान की अनेक बातें सहज ही पा लेगा। कुछ कहानियों का उदाहरण

जोशी जी की कहानी "क्रय विक्रय" में एक व्यक्ति की कथा है जो अपनी पत्नी को सम्पन्न व्यक्तियों के साथ सम्पर्क बढ़ाने के लिए तथा आर्थिक लाभ या नौकरी में उन्नति के पथ के साधक व्यक्तियों के मनोरञ्जन में योग देने के लिए प्रोत्साहित ही करता है। पर उसे सुरेन्द्र जैसे सरल स्वभाव निरीह पर गरीब नवयुवक से दो चार स्नेह की बातें करते देख उसकी "नपुंसक ईर्ष्या" जाग उठती है और वह उसका विरोध करने लगता है। उसमें यहाँ तक मनोविकृति है कि यह जानते हुये भी कि उसका पुत्र उसका पुत्र न होकर अवैध सन्तान है वह जरा भी विचलित नहीं होता और इस पाप को निगल जाने में बड़ी सहिष्णुता का परिचय देता है। पर सुरेन्द्र के प्रति उसमें न जाने इतनी कठोरता कहाँ से आ जाती है। एक दिन सुरेन्द्र से न मिलने के लिये पति की आज्ञा की अवहेलना कर भी पत्नी सज सँवर कर चोटी करने के बाद मचमचाती हुई बाहर चली गई।[६] राजेन्द्र बेवकूफों की तरह देखता रह गया..."अपत्नीक"[७] में भी जिस चन्द्रशेखर की कथा है वे किसी मनोवैज्ञानिक केस से कम नहीं है। वे न जाने क्यों विवाह की संस्था में विश्वास नहीं करते। उनका सिद्धान्त है कि स्त्रियां पुरुष से एक दम अलग रह कर अपना जीवन बितायें और पुरुष स्त्रियों से अलग रह कर। पर वे बीमार पड़ कर एक मित्र की पत्नी की सेवा और स्नेह प्राप्त करते हैं। बाद में एकदम लापता हो जाते हैं। यद्यपि लेखक ने अपनी ओर से इन विचित्र व्यापारों के

मनोवैज्ञानिक कारण नहीं बतलाये हैं पर कहानी की योजना इस ढङ्ग से की गई है कि वे पाठक को अपने मूल के भीतर झाँक कर देखने की प्रेरणा देती है। एक मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिये ये कहानियाँ बहुत ही महत्वपूर्ण विचार की सामग्री प्रस्तुत करती हैं। आलोचकों ने कहा है कि "प्रसाद जी के नाटकों का निवेदन एक उच्च संस्कृत और शिक्षित हृदय के प्रति होता है। उनका पाठक विशिष्ट होता है। साधारण नहीं।" उसी तरह यह तो नहीं कहा जा सकता कि जोशी का पाठक मनोविद् है। साधारण पाठक उसका आनन्द उठा ही नहीं सकता पर इतना अवश्य है कि एक मनोविज्ञान के ज्ञाता के लिए इन कहानियों में एक अतिरिक्त आनन्द प्रदान करने की क्षमता है। वह इनकी तह में वर्तमान मनोविज्ञान की धारा को पाकर प्रसन्न हो जायेगा जोशी जी की कहानियों का लक्ष्यीभूत पाठक मनोविज्ञान का ज्ञाता है। इस कहानी में एडिपस परिस्थिति से उत्पन्न मानसिक प्रवृत्तियों के मूल को पा लेना कठिन नहीं है। बालक के हृदय में अपनी माता पिता के लिये दो तरह के परस्पर विरोधी भावों का अवस्थान होता है। प्रेम का तथा घृणा का। आगे बढ़ कर एडिपस परिस्थितियों में वह माँ को प्यार करने लगता है पर उसको अपने पिता को सम्पति के रूप में देखकर अपनी इस अधिकार भावना के कारण कहीं उसमें परद्रव्यापहरण रूपी अपराधी भाव का उदय होता है। व्यक्ति के उचित विकास के लिए समय क्रमानुसार इन भावों को दूर हो जाना चाहिये। पर इस कथा के नायक तिवारी जी के व्यक्तित्व के अचेतन स्तर में यह ग्रन्थि के रूप में अटका हुआ भाव उन्हें असाधारण मनोभावोपपन्न बनाये रहता है। उनके लिये प्रत्येक नारी माँ है, माँ पिता की सम्पति है। अथक प्रयत्न करने पर भी अपने और माँ के मध्य में स्थित पिता रूप स्थित बाधा को दूर करने में वे सफल नहीं होते। अतः उनके अन्दर यदि मेरा-नहीं-तो-किसी-का नहीं वाली मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है (reaction formation) के रूप में और वे विवाह संस्था के विरोधी बन जाते है और एकांतप्रिय तथा आत्मतल्लीनता से ही उनके लिबिडो को तृप्ति प्राप्त होती है। रुग्णावस्था में एक नारी तिस पर भी-विवाहित नारी अर्थात् माँ की सेवा उनके अन्दर पुनः मातृ-प्रेम अर्थात् नारी प्रेम के भावोन्माद की सृष्टि करती है पर उनका अचेतन उन्हें इस परिस्थिति से मुक्त करने के लिए उन्हें उस स्थान को छोड़ कर भाग जाने के लिये प्रेरित करता है।

"रोमांटिक छाया"[८] नामक कहानी में भी एक अपाहिज, आलसी, बेकार, शराबी, मित्रों से माँग कर लोगों की जेब काट कर समाज विध्वंशक आचरण में निरत नवयुवक की कथा है। इस अवस्था में उसे लाने वाले जो मनोवैज्ञानिक कारण है उनकी व्याख्या की गई है। जोशी जी की अधकांश कहानियों में मनोवैज्ञानिकों के केस हिस्ट्री का रङ्ग है वे उसी जाति की वस्तु है और उनकी व्याख्याओं में मनोवैज्ञानिक कारणों के

अनुसंधित्सु मनोवैज्ञानिक की प्रति-ध्वनि । उनकी कहानियाँ जिस सुविधा से आलोचकों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के अनुरूप ढल जाती है उसे देखते हुये हम कह सकते हैं कि यह संयोग की बात नहीं । इसे काकतालीय न्याय का चमत्कार कह कर संतोष करने से ही काम नहीं चलेगा । नहीं, जोशी जी ने सतर्क होकर अपनी कथाओं में मनोवैज्ञानिकता का रंग भरना चाहा है । अपने मनोवैज्ञानिक पूर्व-ग्रह या पक्षपात की स्वचेतना जोशी जी में सदा वर्तमान रहती है जिसके अस्तित्व का पता उनकी कृतियो में यत्र तत्र बिखरें वाक्यों से मिलता रहता है । "किडनैप्ड" कहानी का एक पात्र कहता है "आप स्वभावतः यह सोचते होंगे कि मै सीधी सी बात बेकार के लिये इस तरह घुमा फिराकर कहना चाहता हूं । पर असल में मेरी मानसिक उलझनें कुछ ऐसी अनोखी रही हैं कि बिना मनोवैज्ञानिक व्याख्या के मेरे जीवन की किसी भी घटना का सच्चा स्वरूप आपको नही मिल सकता"[९] यह कथन उनकी अधिकांश कहानियो के संबंध में घटित होता है और एक मनोवैज्ञानिक पाठक को कथा-बाह्य साधनो के सहारे भी उसकी छानबीन के लिये प्रेरणा देता है । पाठक को इस तरह की प्रेरणा देने वाले कथा साहित्य के प्रणेताओं में जोशी जी का स्थान अद्वितीय है, अज्ञेय का नम्बर इनके बाद ही आता है । "प्रेम और घृणा[१०]" मे एक ऐसे लम्पट पुरुष की कथा है जिसका व्रत ही नारियों के कौमार्य के साथ खिलवाड़ करना है । "आत्महत्या या खून" मे एक मनुष्य शराब की तरंग में आकर एक ऐसे रहस्य का उद्घाटन करता है जिसे पता लगाने में पुलिस आज दश वर्षों से परेशान थी । वह मनुष्य स्वीकार करता है कि उस नारी ने आत्म हत्या नही की थी पर उस मनुष्य ने ही उसे दूसरे से प्यार करते देख उसकी हत्या कर डाली थी ।[११]

खंडहर की आत्मायें

ऊपर जिन कहानियों की चर्चा की गई वे सब रोमांटिक छाया नामक कहानी संग्रह से ली गई है । ये सब इतिवृत्तात्मक है और कथा के माध्यम से इन्होंने अपने स्वरूप को प्रगट किया है पर इनके मूल विषयाधार में जो विचित्रता है उसमें आधुनिक मनोवैज्ञानिकता का प्रभाव पूर्ण रूप से परिलक्षित होता है । जोशी जी के कहानी संग्रह[११] खंडहर की आत्मायें[१०] की कहानियाँ तो मानों उन मानसिक विकारो की बात को ही सामने रखकर लिखी गई है जिन्हें मनोविदों ने असाधारण मनोविज्ञान (abnormal psychology) कहा है । "पागल की सफाई" और विद्रोही इस संग्रह की इस दृष्टि से विशिष्ट कहानियाँ है । "पागल की सफाई" में एक पागल से दीख पड़ने वाले व्यक्ति के मुख से ही उसकी कुछ विचित्र खामख्यालियो, चेष्टाओं तथा हरकतों के वास्तविक रहस्यों की व्याख्या कराई गई है । उनके सांकेतिक महत्व का निर्देशन कराया गया है । नारायन भैया जैसे विद्वान् सज्जन उदार सहृदय व्यक्ति जो मनोविनोद के पुतले थे,

अपने व्यंगात्मक विनोदों से समाज के शोषकों और परोपजीवियों की धज्जियां उड़ा देते थे वे ही अब दीवारों को तोड़ते फिरते है ! किसी व्यापारी के मकान में निशीथ वेला में आग लगाने का नाट्य करते हैं । कभी किसी मकान या दुकान के आगे सहसा झाड़ू देने लगते हैं । रास्ते में पड़े पत्थरों को इधर उधर फेकने फिरते हैं । कहानी का एक पात्र प्रश्न करता है "उनके पागलपन ने तोड़ फोड़ की उस विशेष प्रवृत्ति को ही क्यों अपनाया है ? मस्तिष्क के विकार को प्रगट करने का और कोई दूसरा ढंग क्यों नहीं पकड़ा ?[१२] सारी कहानी का निर्माण इसी प्रश्न के उत्तर के रूप में है । कहानी के सारांश का उल्लेख करना हमारा उद्देश्य नहीं । इतना ही जान लेने से हमारे इष्ट की सिद्धि हो जायेगी कि नारायण भैया के सारे विकारग्रस्त आचरण सांकेतिक है उनकी मानसिक स्थिति के प्रतीक हैं । इन सारी चेष्टाओं की अपनी सार्थकता है और यह मानसिक मितोपयोजन (mental economy) हिसाबी पन है । इस निबंध के द्वितीय परिच्छेद में मनुष्य के व्यक्तित्व के तीन अंशों की चर्चा की गई है ईगो (Ego), सुपर ईगो (Super Ego) ईड (Id) । इन तीनों शक्तियों में निरंतर संघर्ष चला करता है । इसका समाधान अर्थात पारस्परिक खींचातानी के परिणाम स्वरूप उत्पन्न भाव ही आचरण का रूप धारण करते हैं । साधारणतः अधिकांश रूप में ये आचरण पारस्परिक विरोधी शक्तियों मे संतुलन की स्थापना करते हुये व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास में सहायक होते हैं । परन्तु कभी कभी ऐसा भी होता है कि संतुलन की स्थापना असंभव हो जाय और यह मानसिक अस्वास्थ्य या अथवा चारित्रिक त्रुटि के रूप में या जिनियस के रुप में प्रकट हो । मनुष्य की पूर्ण परिस्थितियों की गति शीलता की जैसी मांग होती है वैसे ही हमारे आचरणों का रूप होता है । यदि कोई मनोविकार ग्रस्त है पागल है, तरह तरह के निरर्थक आचरणों का शिकार है, उसमें चोरी करने की लत है तो यह उसके लिये यह सबसे सुविधाजनक मार्ग है । उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है । इसी रूप में रह कर वह जीवन धारण कर सकता था अन्यथा वह परिस्थिति की परस्पर विरोधी मांगों की चक्की में पिस ही जाता "ब्राउन के शब्दों में ।"[१२]

*......although development of a major mental illness may be looked on as a terrible thing it is still economical, because only by so doing may the individual be maintained as an intact organism at all. It is well known that life often becomes so unbearable that only through the development of a psychosis may he evade suicide ....Symptoms are economical......Conflict situation are resolved in accordance with the least expenditure of energy possible in one existing total situation.......

कभी कभी व्याख्या के दौरान मे ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि कहानी की

बागडोर कथाकार के हाथो से छूट कर मनोविश्लेपक के हाथों में आ रही है। कथाकार मनोवैज्ञानिक व्याख्याता का रूप धारण करता जा रहा है। यद्यपि उसकी व्याख्या से पाठक को कम संतोष नही होता। कहानी के नारायण भैया दुकानों मे आग लगा कर, विशेषतः कृपणों की दुकानो में, समाज को चूसने वाले पूंजीपतियो के प्रति अपने हृदय में जमी घृणा के भावों का गुबार निकालते थे। राह मे बड़े पत्थरों का हटाकर वे अपनी उन्नति के मार्ग प्रशस्त करते थे। राह में या किसी दुकान के सामने झाड़ू लगाकर वे अपने तथा दूसरों के पाप कृत्यों का परिमार्जन करते थे। मनोविज्ञान की पुस्तकें इस तरह के उदाहरणों से भरी पड़ी है जिनमे वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्वारा अधिकार पूर्वक कहा गया है कि पास की वस्तुओं को इधर उधर दूर फेकना, जिस किसी को धक्का देना, किसी अप्रिय व्यक्ति से मुक्त होने की चेष्टा का प्रतीक है। तकिये को गले से लगाना किसी प्रिय के आलिंगन का प्रतीक है। यदि कोई पागल लाठी से पेड़ो को मारता है और गाली देता है तो सम्भव है वह अपने धनापहरण करने वाले किसी शक्तिशाली शत्रु को दण्डित कर रहा हो। अंग्रेजी के अनेक आलोचकों ने कहा है कि लेडी मैकवेथ का बार बार हाथों का धोना और यह कहना कि समुद्र के पानी भी इन धब्बों को मिटाने से असमर्थ है यह उसके पाप कृत्य। (डनकन की हत्या) से मुक्त होने की चेष्टा थी। यह पागल नारायण भैया अपनी अवस्था की व्याख्या करते हुए कहते हैं "अब पागलपन की आड़ मे उन दुष्टों, बदमाशो, समाज की छाती पर घुन की तरह घुसे हुये और जोंक की तरह चिपके हुये बेइमानों को खुल कर गालियाँ दे सकता हूँ जिनसे अपनी सभ्य और शिष्ट अवस्था में मैं मन ही मन बहुत जलता था पर झूठे शिष्टाचार वश कुछ न हो सकता था"[13] इस कहानी में ध्यान से देखने पर और भी अन्य अनेक मनोवैज्ञानिक विशेषतायें सहज ही प्राप्त हो सकेगी। यहाँ तक कि अपने मनोविकार की अवस्था में अपने मित्रों और सबंधियों से रुपये मांगना और लाकर उन्हें अपने परिवार वालों को देना यह भी उनके लिये मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। उनके अचेतन ने सभ्य एव शिष्ट मार्ग से चलकर परिवार वाला के प्रति अपने उत्तर-दायित्व के पालने में अपने को अक्षम पाकर इस सुविधाजनक मार्ग का अवलम्बन किया था।

"विद्रोही" का अस्थिरचित्त अवारा सफलता के उच्च शिखर पर भी पहुँच कर वहाँ से लौट आने वाला, नारियो के जीवन के साथ खिलवाड़ करने वाला, लोगों से पैसा माँग कर शराब और वेश्याओं के पीछे रहने वाला हरफन मौला पर किसी क्षेत्र मे सफल नहीं हो सकने वाला, धनाढ्यों के यहाँ नौकरी स्वीकार कर उनके धन को बरबाद करने वाला तथा उनके पुत्रों को कुमार्गगामी बनानेवाला व्यक्ति किसी मनोवैज्ञानिक केस से कम नहीं है। इस कहानी की राधा भी अपनी दबी महत्व

कान्ताओं को विकृत रूप से पूर्ति करने वाली नारी है। उसने पर्याप्त धन अर्जन कर लिया है कि उसकी तीन पीढ़ियों तक के लिये पर्याप्त होगा पर तिस पर भी, सद्विचार सम्पन्न नारी होने पर भी अपने पेशे का परित्याग नहीं करती और आज एक राजा की अस्थायी प्रेमिका बनी हुई है। इसका कारण जैसा कि कि कथाकार कहता है उसका फ्रस्ट्रेशन है। वह अपने कल्पना लोक में अपने को रानी समझने के लिये आकुल है। वह राजा की प्रेमिका का अर्थ लौकिक अर्थ में रानी लगाती है और उसके अचेतन को इससे संतोष प्राप्त होता है।

'डायरी के नीरस पृष्ठ' नामक संग्रह मे एक पात्र के द्वारा प्रकारान्तर से लेखक के सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति

जोशी जी की कहानियों के पात्रों तथा उसकी मानसिक अवस्था की असाधारणता का परिचय प्राप्त करना हो तो "डायरी के नीरस पृष्ठ" नामक कहानी के पात्र की विरल मोहाच्छन्नता को देखिये, उसके कुज्झटिकाच्छन्न स्वप्नों को पहचानिये तथा पढ़िये उन हृदयोद्गारों को जो उसकी आन्तरिक बेताबी के कारण उसके हृदय से निकल पड़ते हैं वह कहता है।

"असल बात यह है कि मैंने अपनी इच्छा-शक्ति बिलकुल दबा दी है। निर्द्वन्द, उल्लासकर संसार चक्र की चिन्ता से रहित जो कोई भी जीवन जहाँ कहीं भी मिलता है उसी को अपनाता हूँ। तुम क्या अफीमची या गजेड़िया हो? आओ, आओ भाई, आओ! तुम से मेरी पूरी सहानुभूति है। तुम क्या जुवारी हो? इस संसार की चिन्ता भूल कर इस खतरनाक मैदान मे प्रखर आवेग से निर्द्वन्द आ कूदे हो? आओ? आओ। मैं तुम्हारा अन्त तक साथ दूँगा, तुम क्या वेश्यासक्त हो? लालसा-मय रूप की चिन्ताग्नि में मुग्ध पतंग की तरह अपने प्राणों की आहुति देने के लिये लालायित हुये हो? आओ, आओ, मेरे प्यारे भाई, अपने साथ मुझे भी उस विकराल ज्वाला के ताप का अनुभव कराओ। क्या तुम मद्यपायी हो? संसार के कठिन जीवन से मुक्ति पाकर स्वच्छन्द जीवन के लिये मतवाले हो उठे हो? निश्चित होकर मृत्यु के अन्ध-कूप की ओर लुढ़कते चले जाते हो? हे प्रियसखा, मुझे भी अपने साथ ढकेल ले चलो"।[१४]

ये उद्धृत पंक्तियाँ कितनी ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। ये बतलाती हैं कि मनुष्य के व्यक्तित्व के संगठित विकास में सब से बड़ी बाधा है इच्छाशक्ति की दुर्बलता, प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डुगल के शब्दों में एक प्रबल मनोवेग का अभाव (want of Master sentidment है) इसमें यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि मनुष्य में यदि कोई मानसिक असाधारणता आ जाती है, यदि वह अफीमची है, गजेड़िया है, जुवारी है, वेश्यासक्त है, मद्यपायी है तो वह उसके लिये एक मानसिक आवश्यकता है।

ब्राउन के ऊपर उद्धृत शब्दों मे "मनोविकृति या मानसिक रुग्णता भले ही भयंकर दीख पड़े पर उस व्यक्ति के लिये एक आवश्यक पदार्थ है। उसके जीवनधारण के लिये सब से सुविधा पूर्ण मार्ग है"। कथा साहित्य पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते समय हमें सदा याद रखना चाहिये कि रोगों को, असाधारणताओं को, मनोविकृतियों को सार्थकता की दृष्टि से अभीष्ट साधकता की दृष्टि से देखें, इस रूप मे देखें कि ये व्यक्ति विशेष के जीवन के लिये मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता हैं। यह सर्वथा नूतन दृष्टि कोण है और मनोविज्ञान के प्रगतिशील अध्ययन ने हमे प्रदान किया है। जोशी जी की उद्धृत ये पंक्तियाँ मानो प्रकारान्तर से लेखक के हृदय की बातों, उसके आग्रहों और पक्षपातों की ही बातें कह रही हैं। ये बतला रही हैं कि जोशी जी की कहानियों में हम इस तरह के पात्रों को पाने की आशा करते हैं और यदि इनके ध्वन्यर्थ पर ध्यान दिया जाय तो ये ब्राउन के इस कथन का समर्थन करती जान पड़ेंगी।[१७]

....The chief tenet of morden psycho—pathology is that abnormal psychological phenomena are simply exaggerations I E. over-developments or under developments) or disguised (I E. perverted) development of the normal psychological phenomena. This view point is undoubtedly the most important single contribution of mordern psychology to our modern knowledge of the human being......

अर्थात् आधुनिक मनोविकृत विज्ञान का प्रधान सिद्धान्त यह है कि मनोविज्ञान की असाधारण घटनायें मनोवैज्ञानिक प्रकृत घटनाओं के अतिरंजित या छद्मवेशी रूप है अर्थात्, या तो उनका विकास अधूरा रह गया है या वे उनका विकास आवश्यकता से अधिक हो गया है। अथवा कहना चाहें तो कह लीजिये कि वे विकृत हो गई हैं।

जोशी जी में मनोवैज्ञानिकता के आग्रह का उत्तरोत्तर विकास! मार्च १९५४ के नवनीत मे प्रकाशित 'यज्ञ की आहुति' नामक कहानी का विश्लेषण

जोशी जी की कहानियों में शास्त्रीय मनोविज्ञान का आग्रह बराबर बढ़ता ही जा रहा है। "नवनीत" के एक अंक में उनकी कहानी प्रकाशित हुई है। "यज्ञ की आहुति" जिसमें एक जेबकट की कथा कही गई है। एक जेबकट को भी साहित्य में साधिकार प्रवेश करना स्वयं एक मनोरंजक घटना है। प्रेमचन्द तक ऐसे पात्रों पर "आर्यधर्मेतराणां प्रवेशो निषिद्धः" का ताला लगा रहता था। यदि वे इस क्षेत्र मे आ भी गये तो भी उनकी क्रियाओं में कोई विशेषता, मौलिकता, या बांकापने नहीं था जो उन्हें साहित्य क्षेत्र-प्रवेश की मर्यादा के अनुरूप पात्रता प्रदान कर सके। वे साधारण पाकेट मारों की तरह जेब काट कर अपनी जीवका चलाते थे। उनके लिये जेब काटना आवश्यक हो सकता था पर यह ——— शारीरिक स्तर की स्थूलता पर ही प्रतिष्ठित

थी। उसको एक अनोवैज्ञानिक आवश्यकता का गौरव नहीं मिल सकता। जोशी जी की कहानी एक मानसिक यज्ञ है जिसमें पाकेट मारी जैसी तुच्छ घास-फूस की आहुति से एक मनोवैज्ञानिक चाह की, भूख की पूर्ति होती है। जोशी जी में और अन्य कथाकारों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रखा है और है वह मनोविज्ञान का। इस कहानी का जेबकट शिक्षित है, समझदार है, उसे कोई आर्थिक कष्ट भी नहीं है। वह फिर भी वह इस गर्हित कर्म का परित्याग नहीं करता। उसकी प्रेमिका जब उसका कारण पूछती है तो वह उत्तर देता है......पैसे वाले सेठों और बड़ी बड़ी तनख्वाह पाने वाले बाबुओं का जेब काट कर मुझे एक आश्चर्यजनक सुख प्राप्त होता है मर्था! केवल उसी सुख के लिये मैं जेब काटता रहा हूँ। अपनी गरीबी को दूर करने के उद्देश्य से नहीं......इन लोगों की जेब काट कर मैं मन ही मन अपने को दलितों का स्वय सिद्ध प्रतिनिधि समझ खुश हो लेता हूँ"।[१६]

इस उद्धरण से घटना की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता वाली बात स्पष्ट हो गई होगी। पर यदि मार्था के उत्तर को ध्यान से पढ़ा जाय तो फ्रायड के उदात्तीकरण (Sublimation) वाले सिद्धान्त की प्रतिध्वनि उसमें स्पष्ट सुनाई पड़ेगी। वह कहती है "मैं तुम्हारी इस मनोवृत्ति को धिक्कार योग्य समझती हूँ। यह मैं जानती हूँ कि एक महत्वपूर्ण विद्रोह के बीज तुम्हारे भीतर घर किये हुये है। इसीलिये मैं धिक्कारती हूँ। जरा एक बार सोचो तो सही तुमने विद्रोह को जो विकृत रूप दिया है उसने तुम्हारी कैसी दुर्गति कर डाली है.........अगर तुमने अपने इस मार्मिक विद्रोह की प्रवृत्ति को स्वस्थ भाव दिया होता तो नयी समाजिक क्रान्ति के अग्रदूतो के साथ तुम्हारा स्थान होता......अपने विद्रोह को संकीर्ण और विकृत रूप न दे कर सामूहिक और व्यापक कल्याणकारी भाव देने के लिये कमर कस कर तैयार हो जावो"।[१७]

नवीनतम कहानी संग्रह "होली और दिवाली" में मनोविज्ञान

जोशी जी के नवीनतम कहानी संग्रह "होली और दिवाली" में १४ कहानियाँ संगृहीत है। दो तीन कहानियों को छोड़ कर सब के पात्रों में कोई न कोई मनोवैज्ञानिक असाधारणता है। कोई जुवारी है, किसी को हिस्टीरिया का फिट आ रहा है, किसी में हत्या करने की प्रवृत्ति है पर इनमें 'मै' और 'इकाकी' ये दो कहानियाँ विशेष भाव से उल्लेखनीय हैं। इनका शीर्षक ही पर्याप्त रुपेण मनोरंजक है और पाठक में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को जगाने की सामर्थ्य रखता है। पर उन कहानियों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की ओर भी देखा जाय तो इन पर मनोविज्ञान का प्रभाव स्पष्ट मालूम पड़ेगा। "मैं" नामक कहानी में एक आत्मलीन अहंभावापन्न, मानसिक वातावरणाच्छन्न तथा आत्म-मथनरत मनुष्य का अनेक शब्दों में चित्रण है। इसमें मनुष्य की सूक्ष्म मनोवृत्ति

की जो मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है उसका विश्लेषण एक स्वतन्त्र लेख का विषय हो सकता है। पर इस कहानी में प्रयुक्त इन शब्दों को देखिये इनेट्रोवर्ट, इगोइस्ट मीगेलोमेनिया, Sex repression, यौनवृत्तिदमन, Perversion मानसिक विकृति, (chaotic), (stale) । "एकाकी" में आये ये शब्द पर्याप्त नेत्रोन्मीलक है। सिनिक, क्लास्ट्रोफोबिया, एगारो फोबिया। ऐसा मालूम पड़ता है कि लेखक अपने मनोवैज्ञानिक ज्ञान की बानगी देने का लोभ संवरण नहीं कर सका है। किसी युग के इतिहास की घटनाओं को याद रखने का सहज साधन यह है कि उस समय के कुछ मुख्य मुख्य शब्दों को याद रखा जाय वैसे शब्दों को जिनके केन्द्र मे ऐतिहासिक घटनायें चक्कर काटती रहती है उन्हें याद रखने से घटनायें स्वय स्मृतिपटल पर अंकित हो जायेंगी। अतः जो व्यक्ति इन कहानियो में आये इन शब्दों को याद रखेगा उसके मनोविज्ञान की पूरी शृङ्खला झकृत हो जायगी और वह उसे भूलने नहीं पायेगा।

कहानियों में आत्म चरितात्मकता

जोशी जी की कहानियों का निर्माण मनोवैज्ञानिक धरातल पर होने के कारण इनको कला में आत्म चरितात्मक शैली के अपनाने का आग्रह अधिक दिखलाई पड़ता है। इस शैली में कहानीकार के द्वारा कथा नहीं सुनाई जाती परन्तु किसी एक पात्र या एकाधिक पात्रो के द्वारा अपने जीवन की कथा का वर्णन रहता है। उस पात्र या उन पात्रों का "मैं" ही केन्द्र रहता है। उनके ही केन्द्र के चारों ओर अन्य पात्र तथा घटनाए चक्कर काटती रहती है। यह शैली मनोवैज्ञानिक धरातल पर लिखी कहानियों के लिए अधिक उपयोगी है कारण कि मनुष्य अपने को अन्यो की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता से जानता है अपने अन्दर की रहस्यात्मक क्रियाओं का उसे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है अतः इस शैली की सीमा में आत्मविश्लेषण की कला को पूर्ण स्वतन्त्रता से अपने विलास-प्रदर्शन का अवसर रहता है। अन्तस्तल की सूक्ष्मतिसूक्ष्म तथा मूर्ता-मूर्त भावों को स्वाभाविक ढग से दिखलाने की सुविधा रहती है। "होली और दिवाली" नामक संग्रह की १४ कहानियों में से कहानियों को इस आत्म कथात्मक शैली के आधार मिला है। 'दिवाली और होली' में मेरा जीवन चक्र, दुष्कर्मों, मेरे प्राथमिक जीवन की 'स्मृतियों', 'स्त्रीमय', 'क्रान्तिकारिणी महिला', 'एकाकी' या 'पिशाची' में कहानियों भी आत्मकथात्मक हैं क्यों कि इनमे भी किसी एक पात्र के द्वारा किसी एक व्यक्ति के जीवन की गोपनीयता का उद्घाटन किया गया है। और वह रहस्य उसका इतना अपना हो गया है कि उसके निजी जीवन का अंश हो गया है। "डायरी के नीरस पृष्ठ" नामक संग्रह की कहानिया भी इसी आत्म कथात्मक शैली के अन्तर्गत आयेंगी "डायरी के नीरस पृष्ठ" मिस्त्री, 'एक शराबी की आत्म कथा', 'परित्यक्ता' डा०

लक्ष्मी नारायण लाल ने लिखा है "आधुनिक कहानी कला मे इस शैली का अपूर्व प्रचलन और प्रसार है क्यों कि आज की कहानी कला का मुक्त धरातल मनोविज्ञान है। मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनोविश्लेषण की पद्धति ने आधुनिक कहानीकारों को असीम वर्ण्य वस्तु का क्षेत्र दिया है और आत्म विश्लेषण के माध्यम के द्वारा उन्हें सहज ही से अपना रहा है। आधुनिक कहानी शैलियों मे यह शैली सब से अधिक सशक्त और प्रभावशाली है। मानव के अन्तस्तल के गूढ़ से गूढ़ विषय और संवेदना इस शैली के द्वारा कहानी के रूप में अभिव्यक्त हो रही है।"

पाद टिप्पणियाँ

१. रोमांटिक छाया नामक संग्रह की ५ वीं कहानी. ले० इलाचन्द जोशी, सामयिक साहित्य लाहौर, प्रथम संस्करण।

२ Psycho-Dynamics of Abnormal Behaviour by J. F Brown 1 edition 1940, New York and London P. 173 "By reaction—formation, or over compensation we mean the development of behaviour which are diamerioncally opposed to the unconscious wish."

३. रोमांटिक छाया की प्रथम कहानी पृ० १३। ४. वही पृ० ५।

५. रोमांटिक छाया की दूसरी कहानी। ६. वही पृ० ६।

७. रोमांटिक छाया की तीसरी कहानी। ८. रोमांटिक छाया की ५वीं कहानी।

९. वही पृ० ७३। १०. रोमांटिक छाया की ६ठी कहानी।

११. रोमांटिक छाया की ७वीं कहानी। १२. नं० २ की किताब।

१३. खंडहर की आत्मायें, किताब महल, ५६ ए. जीरो रोड इलाहाबाद पृ० १३०।

१४ डायरी के नीरस पृष्ठ सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद १९५० पृ० ८।

१५. नं० २ की किताब।

१६. नवनीत मार्च १९५४ में प्रकाशित 'यज्ञ की आहुति' नामक कहानी से उद्धृत पृ० ८९। १७. वही पृ० ८९।

द्वादश अध्याय

आधुनिक हिन्दी उपन्यास में मनोवैज्ञानिक वस्तु संकलन

काम शब्द का व्यापकत्व

द्वितीय अध्याय में फायडियन मनोविज्ञान का जो विवरण उपस्थित किया गया है उससे स्पष्ट है कि मनुष्य के जीवन में कामभाव का कितना प्राधान्य है। काम शब्द का प्रयोग प्रायः स्त्री और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण सम्बन्धी रसपूर्ण व्यवहारों तथा प्रजनन क्रिया के लिये ही किया जाता है और इसी सीमित अर्थ से हमारा काम भी चल जाता है। इसी अर्थ की सीमा में इस शब्द को आबद्ध रखने पर भी हमें दैनिक व्यवहार में विशेष कठिनाई नहीं होती। पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस शब्द की परिधि अधिक विस्तृत है, स्त्री पुरुष की पृथक स्थिति के स्वीकरण के साथ उनके पारस्परिक आकर्षण तक ही सीमित नहीं। स्वलिङ्गी (Homo sexual) व्यक्तियों का उदाहरण लीजिये। स्वलिङ्गी व्यक्ति उसे कहते हैं जिसका आकर्षण अपनी जाति (sex) के व्यक्तियों के प्रति होता है, स्त्री का स्त्री के प्रति और पुरुष का पुरुष के प्रति। तुलसी के लिये भले ही सत्य हो कि 'मोह न नारि नारि के रूपा' अर्थात् नारी के रूप पर नारी कभी नहीं रीझती पर दुनियाँ पर आंख खोल कर देखने वाला विचारक इस बात से कभी भी सहमत नहीं हो सकता। अब तो स्वलैङ्गिकता का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हो गया है और स्वलिङ्गी व्यक्तियों ने संगठित रूप से अनेक तर्कों के सहारे इस बात का दावा किया है कि उनको भी स्त्री और पुरुष के समकक्ष एक तृतीय जाति (Third sex) के रूप में मान्यता मिलनी चाहिये।[1] उनके व्यापारों पर भी उदारता से विचार होना चाहिये जैसा स्त्री पुरुषों के काम विषयक व्यापारों पर होता है * यदि स्त्री पुरुष के पारस्परिक तृप्तिमूलक व्यापार को हम सहज भाव से स्वीकार कर लेते हैं, उसमें किसी प्रकार की घृणात्मकता, वीभत्सता अथवा विद्रूपता नहीं पाते तो स्वलैङ्गिक तृप्ति के व्यापारों के प्रति इतना कठोर हो जाना अन्याय है। स्वलैङ्गिक अभिव्यक्ति भी तो इन व्यक्तियों के लिये उतनी ही स्वाभाविक है, किसी गंभीर अंतस्थ प्रकृति की माँग का नैसर्गिक उत्तर है। ऐसे व्यक्तियों

---

* Through the mouths of their Scientific spokesman they lay claim to be a Special Variety of human race, "Third Sex" as they call, stand only with equal rights along the other two.

की संख्या नगण्य नहीं, जिन्होंने अपने जीवन से विपरीत लिङ्ग के व्यक्तियों को सदा के लिये मिटा दिया है। यहाँ तक कि विपरीत वर्ग (sex) के व्यक्ति को देखकर उनके मन में अपार घृणा का सचार होता है, तृप्ति की बात तो दूर रहे। पर स्वलैङ्गिक तृप्ति के व्यापारों को काम व्यापार (sexual) न कहना तो उचित न होगा, (sex) के अर्थ को अत्यधिक सकुचित कर देना होगा।

विपयस्त

ऐसे लोगों को फ्रायड ने विपर्यस्त (Pervert) कहा है। ऐसे लोग भी Sex अर्थात् काम भावना से ही परिचालित होते हैं, उनकी तृप्ति भी काममूलक ही है। हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि उनकी काम-भाव-धारा राजमार्ग से न होकर एक दूसरी ही टेढ़ी मेढ़ी राह से चल कर अपने को चरितार्थ करती है। कुछ मनोवैज्ञानिक कारणों से उनकी कामवासना एक विचित्र रूप से ही तृप्ति लाभ करती है। यह विचित्रता और असाधारणता दो रूपों में पाई जाती है। १ काम के आधार में (Sexual object) में। २ काम के लक्ष्य में, (Sexual aim) में। साधारणतः काम भाव की तृप्ति विपरीत वर्ग (Sex) के व्यक्तियों के ऐन्द्रिय स्पर्श से ही प्राप्त की जाती है। पर ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जैसा ऊपर उल्लेख हो चुका है, जो भिन्न वर्ग के व्यक्तियों की कोई उपयोगिता स्वीकार नहीं करते और उनके स्थान पर अपना सारा ध्यान स्ववर्ग के व्यक्ति की ओर केन्द्रित करते हैं। कहा जा सकता है कि ऐसे लोगों की काम विषयक विचित्रता या असाधारणता काम आधार Sexual object में है। इस श्रेणी में परिगणनीय व्यक्तियों के अनेक रूप हो सकते हैं जिनका उल्लेख करना सम्भव नहीं। दो तीन रूपों का ही उल्लेख हो सकेगा जिनके उदाहरण हिन्दी कथा साहित्य में मिलने लगे हैं।

काम भावना का आधार

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो काम तृप्ति के साधक-तम-करण जननेन्द्रिय को छोड़ कर शरीर के किसी विशेष भाग उदाहरण नारी के स्तन, उसकी एड़ियाँ, उसकी चिकुरावली को ही अपनी वासना का केन्द्र मान लेते हैं। यही प्रवृत्ति कुछ और बढ़ जाती है तो लोग शरीर के किसी अंग को भी सर्वथा परित्याग कर देते हैं और नारी के परिधान का कोई अंश, उसकी जूती, या उसके अधोवस्त्र के नीचे के किसी खण्ड से ही उनकी काम-लिप्सा निवृत्त हो जाती है। उसी तरह इस श्रेणी में उन लोगों की गणना की जा सकती है जो नारी शरीर को सम्पूर्ण रूप में (demand the object as a whole) प्राप्त करने के अभिलाषी होते हैं। यहाँ तक कि नारी शरीर उनके लिये एक निष्क्रिय निर्जीव और शव पदार्थ का रूप धारण कर लेता है जिसका वे मनमाना उपयोग अपनी दुर्दमनीय विकृत इच्छाओं के तृप्त्यर्थ कर सकते हैं

लक्ष्य प्रेरित विकृति

दूसरी श्रेणी उन लोगों की है जो सम्पूर्ण मैथुन व्यापार चक्र की प्रारम्भिक अथवा सहायक क्रियाओं तक ही अपनी इच्छाओं को सीमित रखते हैं, आगे बढ़ कर अन्तिम परिणाम तक चले जाने की आकांक्षा उनमें नहीं होती। वे आलिंगन, चुम्बन, स्पर्शन, दर्शन और प्रदर्शन की अवस्था से आगे जाने की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। स्वपीड़क (Masochist) और पर पीड़क (Sadist) व्यक्ति भी इस दूसरी श्रेणी के जीवों के अन्तर्गत आयेंगे जिन्होंने स्वाभाविक स्त्री-पुरुष-परस्पर-सापेक्ष काम तृप्ति के लक्ष्य को परिवर्तित कर उसे पीड़ा का रूप दे दिया है। इन दो श्रेणियों में एक और विभाग हो सकता है जिसमें वासना तृप्ति केवल मानसिक हो, जिसमें भौतिक आधार की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई हो।

सम्पूर्ण नारी शरीर की माँग : सुनीता में कामाधार विकृति : हरिप्रसन्न का चरित्र :

निष्कर्ष यह कि मनुष्य के काम जीवन में प्रधानतः दो तरह की विकृतियाँ पाई जाती हैं। आधार सम्बन्धी और लक्ष्य सम्बधी। इन दोनों तरह की विकृतियों का चित्रण आधुनिक हिन्दी उपन्यासों मे पाया जाता है। आधार विकृति की बात पहिले लीजिये। इस पर विचार करते ही जैनेन्द्र के सुनीता नामक उपन्यास की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। इसका एक पात्र है हरिप्रसन्न। उसके चरित्र का चित्रण जिस तरह से प्रारम्भ हुआ है उससे स्पष्ट है कि उसके जीवन का विकास स्वाभाविक गति से नहीं हो सका है। वह अविवाहित है तथा क्रान्तिकारी। उसके मित्र श्रीकान्त के शब्दों में "हरी की आत्मा में कहीं गाँठ पड़ी है कि वह अतर्क्य हो जाता है..........वह तो जैसे अपने भीतर भेद को पाल रहा है। उसके मन में कहीं घुन्डी है जिसको तोड़ने के लिये वह रिवाल्वर तक आ पहुँचा है"।[२] हरिप्रसन्न के रूप मे पाठकों को एक ऐसे व्यक्ति का पता चलता है जिसके जीवन में स्वाभाविक वृत्तियों का अत्यधिक दमन किया गया हो। यहाँ तक कि उसका इच्छृंखल बँधनहीन जीवन के प्रति आसक्ति तथा उसकी क्रान्ति दल संगठन योजना भी इसी के परिणाम मालूम पड़ते हैं। वह अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर सुनीता को अन्धकार मय निशाथ बेला में सूने जंगल मे अपने दल वालों के सम्मुख स्फूर्ति प्रदायिनी मायारानी देवी चौधरानी बनाकर ले जाता है। वहाँ पर उसका जो व्यवहार होता है उसे देख कर किसी को भी संदेह नहीं रह जाता कि वह एक आधार विकृत विपर्यस्त (Sexual pervert) है। वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसकी काम तृप्ति अपनी चरितार्थता के लिये नारी शरीर की सम्पूर्ण रूप से माँग करने की अदम्य व्याकुलता से पीड़ित है। सुनीता खुले पत्थर पर सोई हुई है। उसका विनिद्रित और संपुटित मुख चाँदनी में खिल उठा है।

हरिप्रसन्न उसकी अंगुलियों को चूम लेता है। वहाँ के कुछ दृश्य देखिये, कुछ वार्तालापों का अंश सुनिये और इन सब बातों के आलोक में विचार कीजिये कि हरिप्रसन्न के सम्बन्ध में कही गयी विपर्यस्तता (Perversion) की बात कहाँ तक ठीक है ?

सुनीता : तुम क्या चाहते हो हरी बाबू !

हरिप्रसन्न : क्या चाहता हूँ। तुम पूछोगी क्या चाहता हूँ, तुमको चाहता हूँ, समूची तुमको चाहता हूँ ![३]

उसके बाद सुनीता निरावरण हो जाती है, साड़ी उतार फेंकती है, शरीर में चिपट कर मटी हुई बाड़ी को फाड़ देती है और दिगम्बर प्रायः अवस्था में कहती है "मैं तो तुम्हारे सामने हूँ, इन्कार कब करती हूँ। लेकिन अपने को मारो मत, कर्म करो। मुझे चाहते हो तो मुझे ले लो"[४]। परन्तु हरिप्रसन्न की हिम्मत नहीं होती और वह शान्त चुप बैठा रहता है।

हरि प्रसन्न किस श्रेणी में

यहाँ इस प्रश्न को लेकर थोड़ी सी शंका का अवसर हो सकता है कि उसको किस श्रेणी में रक्खा जाय, विकृताधार की श्रेणी अथवा विकृत लक्ष्य की श्रेणी में। कहा नहीं जा सकता कि वह मैथुनिक व्यापार के स्थान पर दर्शन मात्र से तृप्त व्यक्तियों की श्रेणी में परिगणनीय हो अथवा मैथुन-व्यापार-सहयोगी विशिष्ट नारी अंग के स्थान पर सम्पूर्ण नारी का अधिकार-लिप्सु है। पर इतना अवश्य है कि उसमें दमित काम की प्रबलता जनित उद्वेग है, उसमें कुछ विपर्यस्तता की मात्रा है, उसके जितने व्यापार होते हैं, विशेषतः सुनीता को जंगल में ले जाने के लिये प्रोत्साहित करने वाले षड्यंत्र सम्बन्धी व्यापार, वे सब मानो उसकी अनजान में अचेतनावस्था में घटित होते से दीखते हैं। उसका चेतन मस्तिष्क भले ही यह समझता हो कि सुनीता को वह अपने दल के आकांक्षी बालकों की स्फूर्ति, प्रेरणा और मदद देने वाली मायारानी के रूप में ले जाना चाहता है पर उसका अचेतन उसे दूसरे व्यापार के लिये ही प्रेरित कर रहा था जिसमें प्रधान स्थान काम वासना का है जो टेढ़ी मेढ़ी राह से अपनी तृप्ति चाह रही थी। जिस ढंग से उपन्यास में सुनीता के वन में जाने की घटना का वर्णन हुआ है उसके अर्थ में किसी प्रकार की दुविधा नहीं।

हरिप्रसन्न लाल रोशनी को देखकर समझ लेता है कि वहाँ खतरा है, दल के लोग पकड़ लिये गये होंगे। पर मनोवैज्ञानिक बात तो दूसरी ही थी। हरिप्रसन्न के मनोविज्ञान की ओर देखने पर यही मालूम पड़ेगा कि वहाँ पर लाल रोशनी वगैरह कुछ नहीं थी। हरिप्रसन्न के अचैतन्यावस्था ने रोशनी देख ली थी, रोशनी का निर्माण उसके अन्तर्मन की एक क्रिया थी, कारण कि यह उसकी अभीष्ट-सिद्धि में सहायक होती थी। जिस तरह हिस्टिरिया ग्रस्त या सम्मोहित व्यक्ति अनेक कार्य करते हैं या

दृश्य देखते हैं जिनका उन्हें स्वयं ज्ञान नहीं होता उसी तरह हरिप्रसन्न का अन्तर्मन ऐसे वातावरण की सृष्टि कर रहा है जिसमें सम्पूर्ण नारी शरीर पर एकाधिकार प्राप्त करने की वासना की तृप्ति हो सके। पर फिर भी वह इन व्यापारों से अनभिज्ञ है। वह एक ऐसी शक्ति से परिचालित हो रहा है जो उसकी एकदम अपनी है, इतनी अपनी कि उसका उसे ज्ञान भी नही है अर्थात् वह अपनी अज्ञान चेतना के हाथो पड़ स्वचालित यन्त्र की तरह अपनी लक्ष्य सिद्धि कर रहा है।

हरिप्रसन्न की लक्ष्य सिद्धि किसमें है? नारी के सम्पूर्ण शरीर पर एकाधिपत्य मे, एक विशेष अंग मात्र पर ही नहीं। वह इसी भावना से परिचालित है जिसका प्रमाण उसके मुख से निकले उन वाक्यों मे मिलता है जो उसने श्रीकात के आतिथेय काल में जब तब सुनीता को कहे है। एक स्थान पर वह कहता है "अभी तो यो ही चलता है। लेकिन वहाँ तुम्हारे लिये काम होगा। वह काम तुम्हें सब की सब को चाहेगा। कहो अपना सब आपा उसे दोगी।[५]

एक स्थान पर वह बोल उठता है "ठहरो भाभी, मैं इसलिये विवाह नहीं करता कि मै पत्नी नहीं चाहता। मैं सब कुछ चाहता हूँ सब कुछ। मुझे चाहिये महोत्सर्ग"।[६]

सारे उपन्यास में यत्रतत्र ऐसे भावोद्गार भरे पड़े हैं। हरिप्रसन्न जब सुनीता के पूर्ण शरीर का दर्शन कर लेता है तो उसे एक अपार और गम्भीर तृप्ति की पुलकानुभूति होती है जिसका वर्णन उपन्यासकार के शब्दो में यों है।

"हरिप्रसन्न ज्यादा दूर नहीं था। वह बैठा था। वह परास्त था, पुचकारा सा शांत था। ठोडी उसकी हथेली पर टिकी थी और कोहिनी जाँघ पर। वह मानो इस अनबूझ विश्व ग्रन्थ में उलट गये एक अर्द्ध विराम के चिह्न को भाँति वहाँ बैठा था मानो निखिल प्रवाह के बीच क्षण की एक चुप को चिन्हित करने के लिये ही वह है, अन्यथा वह कुछ नहीं है। मात्र एक काली बूँद है"।[७]

इस वर्णन को पढ़ कर रतिश्रान्त और आनन्द तृप्त व्यक्ति का तन्द्रालस चित्र उपस्थित हो जाता है। फ्रायड ने बालक की काम भावना के विकास की प्रथमावस्था को ओरल स्टेज (Oral Stage) कहा है। जिस समय वह माँ का स्तन पान करता है, सेक्स की आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। फ्रायड का कथन है कि दुग्ध पान से तृप्त बालक जब माँ की गोद मे विश्राम करता है तो उसकी मुद्रा में उसी गम्भीर सन्तोष की झलक पाई जाती है जिसका दर्शन वयःप्राप्त मानव की काम तृप्ति की अलसाई मुद्रा में पाया जाता है।[८] हरिप्रसन्न की जिस मुद्रा का यहाँ चित्रण किया गया है उसमें एक ओर रति-तृप्त कामतृप्त व्यक्ति का मुद्रा में कितना साम्य है!*

---

*......As it sinks asleep at the breast, utterly satisfied, it bears

दादा कामरेड मे हैरीश का चित्र

एक ऐसा ही उदाहरण यशपाल जी के प्रसिद्ध उपन्यास दादा कामरेड से दिया जा सकता है। इसमें भी हरिप्रसन्न की तरह क्रान्तिकारी दल के सदस्य हरीश नामक व्यक्ति की कथा है। जिस तरह विशाल क्षितिज मंडल पर परिक्रमा करता हुआ कोई ग्रह किसी दूसरे ग्रह के समीप आकर उसको प्रभावित करने लगता है उसी तरह भयानक क्रान्ति के वातावरण में तैरता हुआ, लुकता छिपता अपने भाग्य से आँख मिचौनी करता हुआ हरीश एक शैला नाम्नी कुमारी के सम्पर्क में आ कुछ दिन के लिये मंसूरी मे विश्राम कर रहा है।

एक दिन हरीश शैला से कहता है "तुम्हे बुरा तो नहीं मालूम होगा यदि मै एक बात कहूँ। फिर कहता है 'मैं कुछ भी नहीं करूँगा'''"मैं केवल जानना चाहता हूँ, स्त्री कितनी सुन्दर होती है ''''मै तुम्हें बिना कपड़ों के देखना चाहता हूँ।'[९]

अन्त मे अनेक संकोच के बाद शैला उसके अनुरोध की रक्षा करने मे समर्थ हो पाती है। अपने उद्देश्य मे सफल हरीश का वर्णन यशपाल ने किया है उसे पढ़ कर यही धारणा बॅंधती है कि वह हरिप्रसन्न का ही प्रतिरूप है। अन्तर है तो इतना ही कि हरिप्रसन्न की तृप्त मुद्रा का वर्णन जैनेन्द्र ने किया है और यहाँ हरीश अपनी दशा का वर्णन अपने शब्दो मे कर रहा है। एक की शैली वर्णनात्मक है दूसरे की अभिनयात्मक" अतः अधिक मनोवैज्ञानिक। हरीश के शब्दों को उद्धृत करना असंगत न होगा।

हरीश ने उसके 'शैल' के तकिये के पास खड़े होकर कहा "देखो मुझे ऐसा अनुभव होता है जैसे मैंने सब कुछ पा लिया है। एक पूर्णता सी''''''जैसे तुम मेरी हो और मैं तुम्हारा और इसी भरोसे से मैं अपने बीहड़ मार्ग पर बढ़ता चला जाऊँगा। नहीं तो तुम्हारे सामने अपराधी हो जाऊँगा।"[१०]

यशपाल जी के 'देश द्रोही' नामक उपन्यास मे खन्ना का चित्रण जिस रूप में किया गया है उससे स्पष्ट है कि उसमें सेक्स विकृति की कुछ न कुछ मात्रा अवश्य वर्तमान है। प्रथमतः तो यही कि उसके जीवन को भयंकर आँधी और तूफान से होकर अग्रसर होना पड़ा है, सब अवरोधक चट्टानों को तोड़ कर उसे अपने जीवन मार्ग को प्रशस्त करना पड़ा है, कभी भी चैन की साँस लेने का अवसर उसे प्राप्त नहीं हो सका है। तो भी सेक्स भाव की प्रबलता ही उसमें दृष्टिगोचर होती है। उपन्यासकार ने देशद्रोही के प्रारम्भ में अपना परिचय देते हुए कहा कि 'हमारा आदर्श है

---

a look of perfect content which will come back again later in life after the experience of sexual orgasm.

समाज की वह अवस्था प्राप्त करना कि शिष्णोदर की अतृप्ति और तृष्णा से मनुष्य पशु न बना रहे।" यहाँ कहा गया है शिष्णोदर, पर फ्रायडवादी उदर को भी शिष्ण मे ही अन्तर्भूतकर लेने के कारण, उनके मतानुसार, जीवन सम्बर्द्धक क्रिया उदाहरणार्थ शिशु का दुग्धपान् के साथ ही कामोत्तेजना की अनुभूति भी बालक को मिलती चलती है। इन दोनों भावों में तादात्मय भले ही न हो, पर अविच्छिन्न साहचर्य तो है ही। अतः ले देकर उदर भी शिष्ण के अन्तर्गत आ जाता है। शिष्ण व्यापक है और उदर व्याप्य।

परिस्थितियों के चक्कर मे पड़कर खन्ना को जहाँ कहीं भी जाना पड़ा वहाँ एक नारी का सम्पर्क उसे प्राप्त होता ही है और अनेक अवसर आये हैं जब कि उसकी काम वासना को स्वाभाविक रूप से चरितार्थ होने का पूर्ण अवसर था। ऐसा मालूम होता है कि उसकी कोई आन्तरिक लाचारी उसके मार्ग मे अवरोधक हो जाती है और उसे स्वाभाविक रूप में आगे बढ़ने नहीं देती। दूसरे शब्दो में एक साधारण नारी के साथ साधारण मनुष्य की तरह साधारण आचरण नहीं करता। नूरन उसके सामने सर उघाड़े खड़ी है, खन्ना की बाँह थाम कर कहती" अब ! और उसे बाँहों में ले माथे पर दाँत मार देती है। पर खन्ना का चेहरा कागज की तरह पीला पड़ जाता है, वह पसीना पसीना हो जाता है। यहाँ तक कि नूरन घृणा से थूककर कहती है नामर्द।[११]

ईव्वा उसे न जाने कितनी बार प्रार्थना करती है पर वह साहस नहीं बटोर पाता। एक फूहड़ औरत के साथ जोखिम का इतना बड़ा खेल वह कैसे खेलने का ? नर्गिस के साथ उसका व्यवहार साधारण मानवीय स्तर पर अवश्य होता है पर यहाँ पर भी उसे पूर्ण तृप्ति लाभ नहीं होता है। नर्गिस का सर्वभावेन अनुगतत्व, आत्म समर्पण और सहिष्णुत्व उसे असह्य हो उठता है। वह सोचता है कि वह प्रतिकार क्यों नहीं करती, पशु की भाँति वह सब कुछ सह क्यों जाती है ? खातून के साथ तो तीन पहर रात गये उसकी बगल मे बैठ उसकी निरावरण बाँहो और शरीर के अनेक अगों को देख कर भी खन्ना को ख्याल न आता कि वह एक स्त्री के साथ एकान्त मे है। समरकंद स जब वह साम्यवाद के सिद्धान्तों के प्रचार के लिये भारत भूमि की ओर जाली पासपोर्ट के सहारे प्रस्थित होने की तैयारी कर रहा है तो वह गुलिशा के प्रति अपने व्यवहार की विविध आलोचना करता है। साथ ही अपनी पत्नी राज और गुलिशा के प्रति प्रेम की तुलना करता है। वह सोचता है गुलिशा चाहती है एक साथी, मित्र जिससे वह समानता का दावा कर सकें। पर राज चाहती है एक पात के प्रति आत्म समर्पण करना जो जीवन निर्वाह के साधन के रूप में आवश्यक है।

पर चंदासे खन्ना वास्तविक तृप्ति लाभ करता है बल्कि चंदा से न कह कर कहना

चाहिये चन्दा की गोद से। चदा के सम्पर्क की चर्चा जब जब आई है तब तब उपन्यासकार की ओर से खन्ना को चंदा का गोदस्थ अथवा गोदलाभाभिलाषुक के रूप में ही दिखलाने की चेष्टा हुई है। मालूम तो ऐसा ही पड़ता है कि खन्ना एक विपर्यस्त (Pervert) है जिसके लिये कामेच्छा को स्वाभाविक रूप से तृप्ति प्रदान करने वाली नारी की गोद ने ही उसके लिये सर्व सामर्थ्यवान रूप धारण कर लिया हो। यहाँ तक कि जब वह समरकंद में गुलिशा के साथ राजनैतिक अध्ययन और चिंतन कर रहा होता है उस समय भी वह आँखें मूंद कर कल्पना मे राज की गोद मे सिर रखे विश्राम करने की इच्छा से ही आन्दोलित है। यहाँ भी उसकी प्रवृत्ति उसे नारी की गोद की ही ओर आकर्षित करती है-चाहे वह गोद चदा की न हो राज की ही क्यो न हो। सुनीता के हरि प्रसन्न की ऊपर चर्चा की गई है। वह भी कभी कभी भाभी की जाँघ को तकिये के रूप में प्राप्त करने की अदम्य इच्छा से प्रेरित हो उठता।

देशद्रोही के अंतिम दो परिच्छेदों में खन्ना के जीवन के उस अंश का वर्णन है जो वह समरकंद से लौटकर भारतवर्ष में अपने साम्यवादी विचारों के प्रचारार्थ व्यतीत करता है। ये दोनो परिच्छेद एक तरह से उपन्यास के उत्तरार्ध कहे जा सकते हैं। इन परिच्छेदों मे चार पाँच अवसर ऐसे आये हैं जिनमें खन्ना चंदा की गोद में प्रार्थयिता के रूप में अथवा गोद के अधिकारी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। खन्ना कहीं से भीग करें आया है और चंदा उसके स्वास्थ्य सम्बंधी आशंका से आतंकित हो उसे आराम करने के लिये प्रार्थना करती है।

चदा कहती है 'अच्छा, तकिया ला दूँ—।'

"नहीं रहने दीजिये"

"आप मुझे यहाँ से उठाना चाहती हैं।" खन्ना ने दूसरी ओर देखा

"नहीं बिना सहारे आराम न मिलेगा"

"तो आप सहारा दीजिये"

"कैसे ? चदा ने आशंका के स्वर मे पूछा।

"अपनी गोद मे स्थान देकर" [१२]

इस वार्तालाप के पश्चात् फिर दूसरे स्थान पर यशपाल जी कहते हैं" खन्ना ने अपना सिर उसकी गोद में रख दिया। चंदा ने उसकी आँखों पर हाथ रख कर "सो जाओ, बहुत थके हो" आगे खन्ना को कहते हुए पाते हैं,

'मुझे तुम्हारी गोद में सिर रख कर संतोष होता है "मन चाहता है जैसे शशि तुम्हारी गोद में छिप जाती है वैसे ही शशि बन जाऊँ' [१३]। पुनः खन्ना कहते हुए पाये जाते हैं "नही आज तो नहीं सोऊँगा। हाँ यदि स्नेह से गोद में सुलाना हो तो आ सकता हूँ खैर, हाँ तीन चार बजे आऊँगा, चाय के समय। यहाँ तक कि रानी सेठ

के पहाड़ों के समीप जिन कारुणिक परिस्थितियों में उनकी जीवन लीला का सम्वरण होता है उस समय दम तोड़ते हुए भी खन्ना इसी विश्वास को पालते हुए मरता है कि उसका सर चंदा गोद में लिये हैं, जीवन संग्राम में लड़ने के लिये वह स्वास्थ्य लाभ कर रहा है।

प्रेम में भयानक प्रतिक्रिया : उसका मनोवैज्ञानिक रहस्य और उसका आधुनिक उपन्यासों में चित्रण:

यशपाल का नवीनतम उपन्यास है 'मनुष्य के रूप'। हम ऊपर उपन्यासो के पात्रों में जिस तरह की असाधारणता की चर्चा करते आ रहे हैं वह तो इसमें दिखलाई नहीं पड़ती। मालूम होता है कि उपन्यासकार आगे बढ़कर कुछ और भी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक बारीकियों के सूत्र को पकड़ रहा है—वे बारीकियाँ जो साधारण से लगने वाले मानवों में भी पायी जाती हैं। सोना और बरकत के पारस्परिक व्यवहारों में कोई असाधारणता तो नहीं मालूम पड़ती पर मनोवैज्ञानिक पेचीदगियों को राह से देखने पर उनके व्यवहार दूसरे ही रूप धारण कर लेते हैं और हमें व्यवहारो के सच्चे स्वरूप का पता चल जाता है। कुटिलदैव के दुर्विपाक और सामाजिक परिस्थितियों मे पड़ कर जगदीश सरोला के परिवार में सोमा दासी के रूप में शरण पाती है। पर अपनी कार्य-कुशलता और स्नेह-तत्पर-व्यवहार के कारण सरोला महोदय की विशेष कृपा की अधिकारिणी हो जाती है। यहाँ तक कि परिवार के रुपये पैसे का हिसाब भी उसके पास ही रहने लगता है। यह देखकर अन्य नौकरो की ईर्ष्या जाग्रत होती है। उन्हें यदाकदा सोमा की डाँट फटकार का भी शिकार होना पड़ता है। पर परिस्थितियो में परिवर्तन होता है। सरोला के माता पिता जब आकर देखते हैं कि सोमा तो सर्वेसर्वा बन गई है तो उसे घर छोड़ने की आज्ञा देते हैं। सोमा बरकत के साथ बम्बई चली जाती है और वहाँ पद्मादन नाम सिनेमा अभिनेत्रिका के रूप में अपार वैभव और प्रसिद्धि उपार्जित करती है। बम्बई जाने पर कुछ दिन बरकत का व्यवहार उसके प्रति बड़ा कटु होता है। बाद में आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो जाने पर सोमा ऊब कर बरकत से पिण्ड छुड़ाने की आकांक्षा करने लगती है। ज्यो ज्यो सोमा की आर्थिक स्थिति सुधरने लगती है और उसमें आत्म निर्भरता आने के कारण वह बरकत की परमुखापेक्षिणी नहीं रह जाती, त्यों त्यों बरकत का व्यवहार उस बौखलाई बिल्ली की तरह होने लगता है जो खम्भे को नोचती है। वह सोमा को तो कुछ नहीं कह सकता, वह तो हाथ से निकल चुकी थी, पर उसके पास आने जाने वाले व्यक्तियो को शङ्का की दृष्टि से देखने लगा तथा उद्दण्ड व्यवहार करने लगा।

इन व्यवहारों का मनोवैज्ञानिक पहलू

यहाँ पर दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। प्रथमत: तो यह कि बरकत के हृदय मे

सोमा को बम्बई ले जाने की भावना ही क्यों उत्पन्न हुई। सोमा का शासन और अधिकार उसकी आँखो का काँटा था और कई बार वह इस अपदार्थनारी के हाथो बुरी तरह अपमानित हो चुका था जिसका डङ्क उसके हृदय में अभी तक ताजा ही था। तब इन बातों को भूल उसे सहायता देने के भाव उसमें कैसे प्रबल हो उठे। सोमा के बारे मे तो कहा जा सकता है कि उसे एक मर्द की आड़ चाहिये थी और तत्काल उसको कोई दूसरा मर्द नजर नहीं आता था। पर बरकत सोमा को बम्बई ले ही गया तो उसे वेश्या बना कर, उसे तरह तरह से जलील कर, उसका दारुण रूप में शोषण कर मानवता को भी क्यों लज्जित करने लगा। अथवा सोमा ही अपने अवलम्बन देनेवाले बरकत को आगे चलकर क्यो तिरस्कृत करने लगी।

इन प्रश्नों के कितने उत्तर दिये जा सकते हैं जिनका निर्माश मनुष्य के रूप मे उल्लखित घटनाओ के सहारे किया जा सकता है और साधारणतः वे उत्तर स्वीकरणीय भी होगे। पर उन सबों के अतिरिक्त एक खास कारण है जिसका सूत्र अज्ञात चेतना के हाथ में है। वे पात्र जो कुछ कर रहे हैं मानो वे उसके लिये बाध्य हैं, उन पर उस तरह के व्यवहार करने की लाचारी है। कोई अज्ञात पर नैसर्गिक शक्ति उनको यंत्र-वत् परिचालित कर रही है। मनुष्य के दाम्पत्य जीवन के इतिहास में प्रायः ही यह बात देखने में आती है कि वह प्रणय सम्बन्ध जिसमें अनेक अस्वीकृतियों के बाद अनेक निराशाओं के पश्चात्, अनेक अवमानताओं का सामना करने के बाद केवल अति मानवीय धैर्य के बल पर ही सफलता प्राप्त होती है, उसका अन्त बड़ा दारुण होता है। इस सम्बन्ध का आदि युग अथवा प्रिहिस्टोरिक (Pre-historic) युग जितना दुखद होता है उससे कहीं अधिक दुःखमय उसके अन्त का युग होता है। रह गया मध्य भाग वह भी कोई सुखमय नहीं होता है। यदि होता भी है तो उसकी अवधि बड़ी छोटी होती है। यही बात मेरीडथ के जीवन मे भी देखी जाती है और बाइरन के जीवन मे भी। प्रेमी अपनी प्रेमिका के हृदय को जीतने के लिए जिस अपार सहन शक्ति, विगत मानापमानता, तथा कष्ट सहिष्णुता का परिचय देता है वह कुछ रोमांसवादी प्रकृति के व्यक्तियों को भले ही प्रशंसनीय लगे पर वह खतरे से खाली नहीं है। प्रेमी की दीनता, उसकी निष्ठा और थका देनेवाली लगन पर तरस खाकर प्रेमिका का चेतन मस्तिष्क प्रेम स्वीकृति देने के लिये भले ही बाध्य हो गया हो पर यह सम्भव है, सम्भव क्या एक तरह से निश्चित है कि चैतन्य रूप से आत्मसमर्पण करने पर भी अचेतन में विरोध बना रहे, बल्कि उग्रतर हो गया हो और इस विधान को उलट पलट देने के लिए षड्यन्त्र करता रहे। युद्ध के सिलसिले में यह बात देखने में आती है कि प्रधान सेना के हथियार डाल देने पर भी देश की जनता के द्वारा विजयनी शक्ति का विरोध होता रहता है और यह भी सम्भव है

कि ये गोरिल्ले या तो नवीन शासन चक्र को एक दम ठप्प कर दें या उसे दूर कर अपना शासन स्थापित करने में सफल हो जाँय।

बरकत ने न जाने कितनी बार चेष्टा की थी कि वह सोमा के प्रेम का अधिकारी हो सके। उपन्यासकार की कुछ ऐसी सीमायें होती हैं कि वह अपने पात्र के जीवन की सारी संभावित घटनाओं का उल्लेख न कर सके। उसे बाध्य होकर कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख करना पड़ता है जिनके द्वारा पाठक की कल्पना जागरित हो जाय और वह उन अनुलिखित घटनाओं का भी आकलन कर सकें। उपन्यासकार भले ही बरकत से एक बार कहला कर संतोष कर ले।

"सरकार जरा गरीबों का भी ख्याल रहे।"

जिसके उत्तर में सोमा माथे पर त्योरियाँ चढ़ा कर कहे "क्या बकता है, जो कहना है साहब से कहो"। पर पाठक खूब समझता है कि यह अपने ढंग की न तो प्रथम घटना है और न अंतिम। बरकत को न जाने कितनी बार सोमा का कृपाप्रार्थी बनना पड़ा होगा साथ ही तिरस्कार भाजन भी। वह अपमान की आँच में जल ही रहा है कि तब तक परिस्थितियों के कारण सोमा को बरकत की वश्यता स्वीकार करनी पड़ती है। यदि सरोला साहब से सोमा की मुलाकात हो जाती है तो संभव था कि घटना प्रवाह कुछ ऐसा मोड़ लेती कि सोमा की स्थिति कुछ उस परिवार में ज्यों की त्यों बनी रहती और उसके साथ सोमा को बम्बई जाने का अवसर ही नहीं आता। पर बरकत की अज्ञात चेतना उस सम्भावना का विरोध कर रही थी और उसने असत्य का आश्रय लेकर सोमा सरोला का अंतिम मिलन न होने दिया। वह उसे बम्बई ले गया और तरह तरह से प्रताड़ित, शोषित करने लगा। बम्बई में सोमा और बरकत के पारस्परिक व्यवहार को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि परिस्थितियों के परिवर्तन ने दोनों के चेतन में पारस्परिक अनुकूलता भले ही उत्पन्न कर दी हो पर दोनों की गहराई में, अचेतन मन के किसी कोने में विरोध के शक्तिशाली क्रियाशील (Dynamics) भाव वर्तमान थे जो अवसर पाकर अपने को चरितार्थ कर रहे थे।

प्रणयानुभूति के लिये एक विशेष प्रकार के पात्र की आवश्यकता : उसके मनोविज्ञान का विश्लेषण, हिंदी उपन्यासों में उनका प्रवेश :

फ्रायड ने एक स्थान पर उन व्यक्तियों के मनोविज्ञान पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है जिनमें अपने प्रणयी के निर्वाचन में (चोइस फार लव आब्जेक्ट Choice for love object में) एक विशेष प्रकार की विचित्रता होती है।[१४] कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें किसी कुमारी तथा अपने प्रति सर्व प्रकारेण अनुगत तथा समर्पित पत्नी के लिये कोई आकर्षण नहीं होता। उनके प्रेम की अधिकारिणी ऐसी ही नारियाँ हो सकती हैं जिनका किसी न किसी प्रकार से दूसरों से सम्बन्ध है,

जिन पर दूसरों का अधिकार है और जिन्हें जिनके प्रेमाधिकारी होने में कुछ उसी तरह की सुखानुभूति हो जो अपने शत्रु को पराजित करने में अथवा उसकी सम्पत्ति को अपहृत करने में होती है। उसी तरह कुछ ऐसी सूर्पनखाएँ (Siren women) भी होती हैं जिनका हृदय विवाहित पुरुष अथवा दूसरी स्त्रियों से प्रेम करने वाले पुरुष के लिये ही द्रवित हो सकता है, प्रेमातिरेक का अनुभव कर सकता है। कुछ ऐसे प्रेमी जीव होते हैं जिनकी नजरों में सचरित्रता, पातिव्रत्य, साधुता, यौनिक वफादारी अर्थात् नारियों के लिये आदर्श समझे जाने वाले गुण हेय हैं, निन्दनीय हैं और उनकी स्थिति उनके लिये नारियों को आकर्षणहीन, उपेक्षणीय बना देती है। ऐसी सद्‌गुण सम्पन्न और प्रतिष्ठित स्त्रियों में इस विशिष्ट मनोवृत्ति वाले पुरुषों की प्रेमाधिकारिणी होने की योग्यता नहीं आती। उनके आकर्षण में असर नहीं होता, वे इस तरह के प्रेम से पुरुषों की लौ नहीं जगा सकती, उनमें प्रेमोद्‌भूति-सामर्थ्य उसी दशा में आ सकती है जब उसका चरित्र लांछन से युक्त हो जाय, उसके यौनिक जीवन में असंयम तथा अमर्यादा की गंध आये।

इस तरह के लोगों में इस तरह की विशिष्टता क्यों होती है, वे क्यों साधारणतः तथा त्याज्य, अनुपभोग्य एवं उपेक्षणीय नारियों को ही अपने प्रेम की अधिकारिणी समझते हैं। इसके रहस्य का मनोवैज्ञानिक उद्‌घाटन फ्रायड ने किया है। फ्रायड के विचारों का विस्तृत उल्लेख तो संभव नहीं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि यह फिक्सेशन (Fixation) की अवस्था है। मनुष्य के विकास की कितनी सीढ़ियाँ होती हैं जिन पर से होता हुआ वह अग्रसर होता है, पहली सीढ़ी से पैर उठाकर ही आगे वाली दूसरी सीढ़ी पर चढ़ सकता है। अपनी प्रगतिशील यात्रा के लिये मार्ग में पड़े विश्राम स्थलों के मोह का परित्याग उसे करना ही होगा। उसे राजीव लोचन राम की तरह "बाप के गाँऊ के बटाऊ की नाई तज" कर ही चलना होगा। अन्यथा इसे लिबिडो (Libodo) की स्वाभाविक और स्वस्थ अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अपनी प्रेमिकाओं के निर्वाचन में ऊपर लिखित असाधारण मार्ग का अवलम्बन मनुष्य की शिशुकालीन अवस्था से चिपके [फिक्सेशन (fixation)] रहने वाली मानसिक स्थिति का परिचायक है। वह बाल्यकाल में एक विशेष ढंग से अपनी कामवासना की तृप्ति लाभ करता था। आज भी वह बालक ही है, उसका मनोविज्ञान एक अंश में बालक का ही है, भले ही उसे प्रौढ़ बालक कह लीजिये। पर मनसा वह बालक ही है। काम तृप्ति का बाल्यकालीन रूप क्या था? वह माँ को प्यार करता था, उस माँ को जो उसके पिता के प्रेम की अधिकारिणी थी, पिता की सम्पत्ति थी। वह पिता को ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखता था, पिता उसका शत्रु था। माता को प्यार कर वह अपने शत्रु पिता से प्रतिशोध लेता था। उस समय उसके और उसकी माँ के बीच पिता बाधक

था। आज भी वह प्रत्येक नारी में अपनी माँ का प्रतिनिधित्व देखता है, प्रत्येक नारी उसके लिये (mother surrogate) है और इस मानसिक चक्र को पूरा करने के लिये उसके और प्रेमिका नारी के बीच में एक तीसरा व्यक्ति होना भी चाहिये तभी उसकी प्रेमभावना उद्बुद्ध हो सकती है। फ्रायड के शब्दो में इनकी उत्पत्ति व्यक्ति के शिशुकालीन उस भाव से होती है जिसमें माता के लिये उसके हृदय में एक कोमल आर्द्रता रहती है। इस मनोवृत्ति से वह आज भी मुक्त नहीं है और इस मुक्ति का अभाव अनेक रूपों में प्रगट होता है। यह स्पष्ट हो जाता है कि माता पिता के अधिकार में परिवार में परिवर्द्धित होने वाले व्यक्ति के अन्दर यह बात इस तरह जम जाती है कि माता के इस पितृ अधिकृत रूप से अलग कर देखना उसके लिये कठिन हो जाता है। यह भी स्पष्ट है कि आहत तृतीय पक्ष पिता के सिवाय दूसरा नही।*

ऊपर के विवेचन से मेरा उद्देश्य यही है कि ऐसे-ऐसे पात्र अब हिन्दी उपन्यास मे आने लगे हैं, जिनके प्रणय मे तत्परत्व लाने के लिये एक आहत तृतीय पक्ष की अवस्थिति आवश्यक होती है जिसे फ्रायड के शब्दों में नीड फार इन्जर्ड थर्ड पार्टी (Need for injured third party) कह सकते हैं। जैनेन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास सुनीता में श्रीकान्त एक ऐसा ही असाधारण पात्र है। श्रीकान्त कुलीन, उच्च शिक्षा प्राप्त वकील है। विवाह को उसे कुल तीन वर्ष हुए हैं। पत्नी जो उसे मिली है वह बिरलो में बिरल है। पर तिस पर भी उसके दाम्पत्य जीवन मे अलसता और जड़ता सी छाती जाती है। बहुतेरी बार ऐसा हो गया है कि एक कमरे में होने पर भी कई मिनट तक उसे सुनीता को कहने के लिये कुछ नही सूझा है और सुनीता भी चुपचाप खड़ी है। दम घुट घुट गया है। ऐसा क्यों होना चाहिये, इसका कोई समर्थन, कोई कारण उसके मन को नहीं मिलता। जब उसकी तबियत ऊबती है, उसमें निरानन्द का वातावरण छा जाता है तब उस समय उसे अपने मित्र हरिप्रसन्न की याद आती है और वह चाहता है कि वह अपने अस्त व्यस्त आवारागर्द लक्ष्यहीन जीवन को छोड कर जरा व्यवस्थित रूप से रहने लग जाय और समाज तथा देश के लिये अधिक उपयोगी बने। यहाँ तक तो कोई असाधारणता नहीं। प्रत्येक मनुष्य मे अपने पथ

---

*. .. They are derived from a fixation of the infantile feelings of tenderness for the mother and represent one of the forms in which fixation empresses itself. .. One sees at once that the fact of the mother belonging to the father would come to be on unseparable part of the mother's nature to the child growing up in a family circle also that the 'injured third party' is none other than the father h If

भ्रष्ट तथा कर्त्तव्यच्युत मित्र को सन्मार्ग पर लाकर कर्त्तव्यनिष्ठ बनने की स्वाभाविक इच्छा होती है। पर श्रीकान्त की इच्छा इतनी ही भर नहीं है। वह हरिप्रसन्न की विरक्ति को संसारानुरक्ति में परिणत करने के लिये अपनी धर्म-पत्नी सुनीता को ही शिखंडी के रूप में प्रयोग करना चाहता है। वह प्रारम्भ से ही ऐसा व्यवहार कर रहा है जिससे पाठक के मन मे धारणा बँधती है कि सुनीता के प्रति हरिप्रसन्न के प्रति सुनीता मे प्रेम की भावना कम है। ज्योंही वह हरिप्रसन्न को बुलाने के लिये पुराने पते पर पत्र लिखता है तो साथ में सुनीता की तस्वीर देना भी नहीं भूलता "एक अपनी तस्वीर भी देना, शादी से ठीक पहिले वाली वही जो गजब की है.... - तुमको मालूम होना चाहिये कि तुम्हारी ही राह से मैं उसे दुनियाँ में लाना सोच रहा हूँ।"[२५] इत्यादि इत्यादि बातें जो कभी श्रीकान्त के मुख से निकल जाती हैं उनके महत्व को कोई भी मनोवैज्ञानिक अंकित किये बिना नहीं रह सकता। श्रीकान्त का यह रहस्यपूर्ण मनोविज्ञान उस समय पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है जिस समय हरिप्रसन्न के आ जाने पर, सुनीता और सत्या से परिचित हो जाने पर किसी मुकदमे की पैरवी करने के बहाने वह दिल्ली छोड़ दो चार दिन कानपुर चला जाता है। हाँ, बहाना ही करके कहूँगा कारण कि जिस हल्के फुल्के ढङ्ग से उपन्यास में इस घटना का उल्लेख हुआ है उससे तुरन्त यह शङ्का उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती कि श्रीकान्त जानबूझ कर सुनीता और हरिप्रसन्न को पारस्परिक निकटवर्त्तित्व प्राप्त करने का अवसर देने के लिये ही चल दिया है। कानपुर गया तो था दो तीन दिन के लिये ही पर वहाँ जाकर अपने प्रवास की अवधि में वृद्धि कर देता है और वहाँ से सुनीता के पास जो पत्र लिखता है वह इतना स्पष्ट और आत्माभिव्यंजक है कि उस पर किसी तरह की टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। पत्र के कुछ वाक्यों पर ध्यान दीजिये और फ्रायडियन मनोविज्ञान के मेल में लाकर विचार कर देखिये। देखिये कि आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता नीड आफ इन्जर्ड थर्डपार्टी (Need of injured third party) वाली मनोवृत्ति मिलती है या नहीं।

"प्रिय सुनी" मैं अभी चार पाँच रोज यहीं रहूँगा। अदालत का काम तो खत्म हुआ समझो। फिर भी मै रहने के लिये चार पाँच रोज रहूँगा। हरिप्रसन्न यहाँ होगा ही। उसको किसी तरह की बाधा न होने देना। उसे भागने भी मत देना। देखो सुनीते, इस बारे मे जो बातें मेरे मन में उठती हैं वह मै कह नहीं सकता..... तुमसे कहता हूँ। उसकी किसी बात पर बिगड़ना मत। सुनीता तुम मुझे जानती ही हो। जानती हो कि मैं तुम्हें गलत नहीं समझता। जब तुमसे कहता हूँ कि इन कुछ दिनों के लिये मेरे ख्याल को अपने से बिल्कुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसी के लिये मैं यह अतिरिक्त दिन यहाँ बिता रहा तुम इतने दिनों के लिये अपने को उसकी इच्छा

के नीचे छोड़ देना। यह समझना कि मैं हूँ नहीं......उसको मार्ग देने के लिये हम झुक भी जायें, हट भी जायें तो हर्ज नहीं।"[१६] हरिप्रसन्न के पास जो यह पत्र लिखता है उसमें इतना उल्लेख करना नहीं भूलता कि "ऐसा न हो कि अपनी भाभी का लिहाज कर घर में किसी तरह की तकलीफ पावो। वह ऐसी तो नहीं है फिर भी"......इन पंक्तियों में श्रीकांत का अन्तर्मन अपनी कथा स्वयं कह रहा है।

पाठक की धारणा और भी दृढ़ हो जाती है जब वह देखता है कि कानपुर से लौट आने पर श्रीकांत को घर की ऋतु में एक विचित्र आनन्दप्रद परिवर्तन का आभास मिलने लगता है। श्रीकांत अब सुनीता से कटाकटा नहीं रहता। वह अधिक सरस हो उठा है। सुनीता उसके लिये अधिक स्पृहणीय, काम्य और प्यारी बन गई है। कालिदास ने कुमार संभव का वर्णन किया कि तपोनिष्ठ शिव को परास्त करने के लिये जब कामदेव वसन्त ऋतु को साथ ले तपोवन में प्रवेश करता है उस समय सारे जड़ और चेतन जीवों में रसाद्रता का सचार हो आता है। ठीक इसी तरह कानपुर से प्रत्यागमन के पश्चात् श्रीकांत का अणु अणु रसोद्वेलित हो उठता है, वह अपने अन्तःकरण को सुनीता के लिये एक बहुत सशक्त, आकर्षक, बेताबी और प्रेरणा की सर्वग्राही अनुभूति से अभिभूत पाता है। वह बुहारी में लगी सुनीता को उठाकर अपने आलिङ्गन पाश में बाँध लेना चाहता है। इस व्यवहार से सुनीता के चेहरे पर नववधू सा भाव आ जाता है और वह कहती है "मैं तो सदा तुम्हारी हूँ। फिर छिः छिः मेरे लिये यह प्रेम का आवेग कैसा? और ऐसा धीरज क्यों खोते हो? मुझे पहले सम्भलने तो दो"।[१७] कहाँ हरिप्रसन्न के प्रवेश के पहिले निरानन्द और अलग जड़ता से पूर्ण, दम घुट घुट कर रह जाने वाला गार्हस्थ्य जीवन और कहाँ यह प्रसन्न-प्रवाह सागर की लहरें। दोनों में कितना अन्तर है। यदि पाठक चौंक कर पूछे कि इस महान् अन्तर को उपस्थित करने वाला कौन सा जादू है तो क्या अनुचित है? जो चीज सुनीता और श्रीकांत में बाधक रूप से अवस्थित थी वह मानो हट गई और प्रेम का प्रवाह एक प्रशस्त मार्ग से उमड़ चला। फ्रायड ने इसी श्रेणी के व्यक्तियों को अर्थात् जिनके प्रेमानुभुति के आलम्बनत्व धर्म के लिये एक आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता होती है उनके सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए कहा है कि प्रेमानुभूति की इस शर्त की माँग तो कुछ व्यक्तियों में कभी कभी इतनी प्रचण्ड हो जाती है कि सम्पर्क में रहने वाली नारी को तब तक अवहेलना ही नहीं कटु तिरस्कार का भाजन होना पड़ता है जब तक वह किसी न किसी रूप में ही सही किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार में नहीं हो जाती। पर ज्योंही वह किसी अन्य व्यक्ति से सम्बन्धित हो जाती है कि सारा वातावरण ही बदल जाता है और उसमें प्रेम के आलम्बनत्व धर्म की स्थापना हो जाती है।* सुनीता जब तक हरिप्रसन्न से सम्बद्ध नहीं थी श्रीकांत के लिये अस्पृहणीय, उपेक्षणीय और अकाम्य थी पर उसके सम्पर्क

में आते ही और उससे सम्बन्धित होते ही सब कुछ हो जाती है, आकर्षण का केन्द्र बन जाती है। इतना ही नहीं श्रीकांत ही सुनीता और अपने बीच में तृतीय पक्ष के प्रवेश कराने का कारण भी होता है जिस पर आघात करके तृतीय पक्ष को आहत करने की अज्ञात भावना को सन्तुष्ट कर सके।*

अपनी बातो का समर्थन करने के लिये हम थोड़ा पीछे और मुड़ कर देखेंगे। कारण कि इतनी चर्चा हो जाने के बाद थोड़ा मनोवैज्ञानिक आलोक हाथ में आ जाने के बाद चित्र की स्पष्टता में सहायता मिलेगी। हरिप्रसन्न परिवार मे आ गया है। परिवार में थोड़ा हिलमिल भी गया है। पर सुनीता का घड़क नहीं खुला है, वह उससे अभी भी संकोच करती है, खुल कर बात नहीं करती। यह रुखाई श्रीकांत को प्रीतिकर नहीं लगती। पर एक बार जब वह खुलकर थोड़ी बातें कर लेती है तो उसे अपार संतोष होता है। श्रीकांत को बिना बीच मे लिये ही हरिप्रसन्न को सुनीता के साथ इतनी बातें हो गई, कहें कि श्रीकांत को अच्छा ही लगा। उसने देखा कि सुनीता वाक् शून्य नही है, वह भली प्रकार सवाल जवाब भी कर लेती है। और न वह रूखी और फीकी ही है। वह अपनी बात में रस ले सकती है और दे भी सकती है। यह अनुभव श्रीकांत को जैसे बहुत दिन बाद हुआ और नवीन लगा। यह भी कहें कि यह अनुभव उसे प्रिय लगा। उसे लगा कि जीवन नीरस रहे, यह आवश्यक नहीं है। यह कि सचमुच हरियाली उसके बीच में से बिलकुल निर्मूल नहीं हो गई है। हरिप्रसन्न का अस्तित्व श्रीकांत की मनोवृति में है जो रसानुकूल परिवर्तन कर देता है उसकी विवृति फ्रायड मनोविज्ञान के द्वारा सहज ही प्राप्य है।

प्राचीन और नवीन उपन्यासों मे प्रेम चित्रण

हिन्दी कथा साहित्य में मनोवैज्ञानिकता का समावेश एक दूसरे रूप मे भी दृष्टिगोचर हो रहा है। आज से कुछेक वर्ष पहिले अर्थात् प्रेमचंद तक कथा साहित्य में स्त्री और पुरुष के प्रेम का वर्णन होता था। विषय और वासनाओं की प्रबलता का भी चित्रण होता था। देवकीनंदन की नायक नायिकाओ के सर्वकंष और सर्वध्वंशकारी प्रेमाकर्षण, गोस्वामी जी के प्रखर वासनामय प्रेम का विवरण किस उपन्यास के पाठक से छिपा होगा। प्रेमाश्रम मे रंगभूमि में, कायाकल्प मे, कर्मभूमि में प्रेम की चर्चा

---

*.... In some cases this condition is so peremptory that a given woman can be ignored or even treated with contempt so long as she belongs to no other man but instantly becomes the object of feelings of love as soon as she comes into relationship of the kind described.

खुल कर की गई है। पर अब जो प्रेम की चर्चा होती है वह भिन्न प्रकार की है। प्रथमतः, तो यह कि प्रखर प्रेम का विवरण देकर भी प्राचीन कथाकार शारीरिक सम्पर्क की बात कहने का साहस अपने में बटोर नहीं पाते थे। प्रेमचंद ने सुमन को गृहस्थी के शांत और पवित्र वातावरण से उठाकर कोठे पर भले ही बैठा दिया हो पर उन्होंने उसकी शारीरिक और लैंगिक पवित्रता की रक्षा बड़ी ही सतर्कता से की है। आज के कथाकार इस तरह की पवित्रता की इतनी परवाह नहीं करते। द्वितीयतः, पूर्व के कथाकारो के नायक नायिकाओ मे पारस्परिक आकर्षण और प्रणयानुभूति के भाव तभी जाग्रत होते थे जब कि उसके लिये उद्दीपन सामग्री हो, अनुकूल वातावरण हो, आराम हो, फुर्सत हो, और जीवन संगीत की तरह प्रवाहित होता हो। तृतीयतः, यदि कोई कथाकार प्रेम के स्थूल शारीरिक और यौनिक रूप को छूता भर भी था, तो उसके प्रेम परिणाम स्वरूप गर्भधारण की बात को साफ बचा जाता था। आज दस वर्ष पूर्व के हिन्दी उपन्यासो में आप कभी नही पाये कि किसी नायिका ने गर्भधारण करने का कष्ट उठाया है। पर आज परिस्थिति बदल गई है। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण का वर्णन साहस के साथ उसके पूरे अर्थों में होने लगा है। शारीरिक और लैंगिक सम्बन्ध भी त्याज्य नहीं रह गया है। पहिले के नायक नायिकाओं का प्रेम फुर्सत और बैठे ठाले का प्रेम था, नाट्य शास्त्र में कहा गया है—

"ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजन गांधर्व काव्यसेवाभिः
उपवन-गमन-विहारैः शृङ्गार-रस समुद्भवति"

इसी प्रकार उपन्यास और कहानियो के पात्र में प्रेम समुद्भूति के लिये कुछ अनुकूल परिस्थितियो की कल्पना की जाती थी। मंदिर या देवालय में जाते समय, किसी सुरम्य निर्जन वन्य स्थली में विचरण करते समय, नृत्य वाद्यादि पूर्ण महोत्सवो के अवसर पर ही नायक नायिकाओं में प्रेम के पारस्परिक प्रादुर्भाव का वर्णन किया जाता था। इसका कारण शायद मानव मनोविज्ञान का अधूरा ज्ञान ही था। समझा जाता था कि मनुष्य एक बुद्धिमान जीव है, उसके सारे कार्यकलाप सोच कर किये जाते हैं। मीमांसा शास्त्र का यह वाक्य है "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोपि प्रवर्तते" किसी उद्देश्य के बिना मूर्ख भी किसी कार्य मे प्रवृत्त नहीं होता। विचारकों की मनोवृत्ति को स्पष्ट करता है। अतः प्रेम जैसे महत्त्वपूर्ण जीवन व्यापार में संलग्न कथा साहित्य में अवतीर्ण होने वाले पात्र मनोनीत अनुकूल परिस्थितियों को छोड़-कर आगे कैसे बढ़ सकते थे। भारतीय परम्परा में कुछ धीरोदात्त गुणसमन्वित पात्रों को ही साहित्य के प्रवेश का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि आधुनिक उपन्यास की धारा में इस प्रवृत्ति का विरोध ही है। उपन्यास आखिरकार डिमोक्रेटिक (democratic) साहित्य है। पर प्रारम्भ

में इस प्रजातन्त्र के भङ्ग को पूर्व परिचित पात्रों को ही उठाना पड़ा। परम्परा से सर्वथा अलग होना न तो संभव है और न वाञ्छनीय ही।

प्रेम चर्चा, आधुनिक उपन्यासों में असाधारण परिस्थितियों की आवश्यकता

पर आजकल के उपन्यासों के पात्र असाधारण परिस्थितियों में प्रणयावेश के आन्दोलन से स्पन्दित होते हैं। जिस समय वे विपत्तियों से चतुर्दिक् घिरे हों, युद्धक्षेत्र में जाने को तैयार हों, मानसिक चिन्ताओं में निमग्न हों, ऐसी परिस्थितियाँ हों, जो उनके जीवन की सारी सक्रियता माँग लेती हों, ऐसे ही अवसरों पर कंटका और बाधाओं से भरे मार्ग से ही वे अपने प्रणय पथ का निर्माण कर लेते हैं। परिस्थितियाँ जितनी ही प्रतिकूल हों उतनी ही वे उसको अन्दर से उभारती हैं।

युद्धकालीन माताएँ और हिन्दी उपन्यास

विश्वव्यापी द्वितीय महायुद्ध के बाद एक विशेष प्रकार के माताओं की चर्चा होने लगी हैं जिन्हें अंग्रेजी में वार मदर्स (war mothers) कहते हैं। ये नारियाँ ऐसी होती हैं कि जो युद्ध के मोर्चे पर जाते हुए मृत्युमुखोन्गामी सैनिकों से झटपट प्रणय की स्थापना कर उनसे गर्भ धारण कर मातृत्व का पद प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी नारियों पर मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में विचार करना चाहिये। कौन से वे मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं जो अपाततः प्रतिकूलता में भी नरनारियों में प्रणय सम्बन्ध की विवशता उत्पन्न कर देते हैं। जिन लोगों ने इस समस्या पर प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर विचार किया है उनका कथन है कि जिस समय युद्ध छिड़ने की तैयारियाँ जोरों पर हो रही हों, जिस समय सैनिकों को युद्ध पर जाना हो, अथवा युद्ध का विश्राम काल हो, जिसमें दूसरी झपट की तैयारियाँ हो रही हो उस समय सैनिकों में कमावेश की प्रबलता विशेष रूप से पाई जाती है।

इस विचित्र मनोविज्ञान का रहस्य क्या है? कारण क्या है? कारण यही है कि मृत्यु के सन्मुख खड़े होकर मनुष्य में जीवन की कामना, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर अपनी अमरता को स्थापित करने की इच्छा उसमें बलवती हो उठती है। यह बलवती इच्छा उसमें स्त्री के प्रति तत्परत्व उत्पन्न करती है। यह तत्परत्व मैथुनिक सम्पर्क के लिये मार्ग प्रशस्त करता है जो संतान प्रजनन के रूप में सैनिक की अमरता की घोषणा करता है। यह सारी क्रिया कभी कभी चेतन स्तर पर भी हो सकती है पर प्रायः होती है अचेतन। मनुष्यों को इसका ज्ञान नहीं होता है। किसी संकट या तनाव के अवसर पर मनुष्य का व्यवहार अधिक आदिम हो जाता है, उसकी क्रियायें सांकेतिक होने लगती है। युद्ध एक ऐसा ही संकट का समय है। उस समय जीवन की कामना

को धड़ाधड़ जेल का यात्री बनाया जा रहा था, मिल मालिकों व मजदूरों में उत्तरोत्तर प्रगतिशील वैमनस्य को बद्री बाबू ने शांत किया ही था कि गाँधी जी के द्वारा प्रचलित व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया जिसके अनुसार सबसे बड़े नेता सबसे पहिले व्यक्तिगत सत्याग्रह कर जेल के पथिक हो रहे थे। दिल्ली की जनता के लिये वे दिन अत्यन्त सनसनीपूर्ण थे। देश के बड़े बड़े नेता युद्ध विरोधी आन्दोलन में पकड़े जाकर धड़ाधड़ जेल जा रहे थे। इस सब सनसनी के बीच एक समाचार छपा""""राजनैतिक विवाह ! देहली के प्रसिद्ध नेता बद्रीबाबू का श्रीमती राजदुलारी के साथ विवाह !!"""तीसरे ही दिन समाचार छपा था "चाँदनी चौक देहली में युद्ध विरोधी व्याख्यान देने के कारण त्यागमूर्ति बदरीबाबू की गिरफ्तारी"...

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं। वे बदरीबाबू जिन्होंने देश-सेवा व्रत के लिये ही जीवन अर्पित कर दिया है, जिन्होंने मन ही मन एक तरह के पारिवारिक बंधन से स्वयं को मुक्त करने का निश्चय कर लिया है उनके मन में राजदुलारी खन्ना के साथ प्रणय सम्बन्ध में आबद्ध होने की कौन सी विवशता आ गई ? सो भी उनका मन एक कुमारी के प्रति न उमग कर एक विवाहित नारी की ओर उमगा। अधिक से अधिक उसे विधवा कह सकते हैं। पति की मृत्यु तो अभी निश्चित न थी। कारण अनेक हो सकते हैं। पर थोड़े चिन्तन के उपरान्त यही बात जमती है कि प्रणयानुभूति में नीड फार इन्जर्ड थर्ड पार्टी (Need for injured third party) अर्थात् तृतीय आहत व्यक्ति की आवश्यकता। राज का पति खन्ना तृतीय आहत व्यक्ति था।

दूसरा प्रश्न यह है कि इस वैवाहिक सम्बन्ध के लिये यह संकटकालीन समय ही क्यों उचित समझा गया ? विवाह के लिये कोई अधिक शांत व अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा की जा सकती थी। भला यह भी कोई बुद्धिमानी है कि एक पग तो विवाह मण्डप की ओर है और दूसरा जेल की ओर अथवा फाँसी के तख्ते की ओर। इस प्रश्न का उचित समाधान तभी मिल सकता है जब कि हम पूर्वोल्लिखित वातावरणस्थ नर नारियों के मनोविज्ञान के एक पहलू से विचार करें। बदरी बाबू में जेल जाने के ठीक पूर्व कामासक्ति का प्रबल वेग उसी रूप में था जिस रूप में युद्ध के मोर्चे पर जाते हुए सैनिक में होता है। महानाश से घिरे हुए जीवन अपनी रक्षा जीवन के सारे देवताओं के सहारे सांकेतिक रूप में करना चाहता था। राज में भी सहानुभूति के कारण बदरीबाबू के हृदयस्थ किन्तु अप्रगट सांकेतिक रूप से मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की भावना के प्रति आत्म समर्पण के भाव प्रबल हो उठे थे। यही कारण है कि वह शीघ्र ही आपन्नसत्वा हो जाती है और उसे तुरन्त एक पुत्रोत्पत्ति हो जाती है। वह पुत्र बदरीबाबू के परिवार के लोगों में बढ़ते वैमनस्य को दूर करने में सफल हो जाता है, पर राजदुलारी के प्रति खन्ना (जो मरा ही न था और भारत में

लौटकर आ जाता है) और राजदुलारी के पुनर्मिलन में सबसे बड़ी बाधा प्रमाणित होता है। राज जान दे सकती थी, पर अपने प्रसाद के लिये कलंक लगाने, एक के जीते जी दूसरा पाप लादने के लिये तैयार न थी। मेरे कहने का अर्थ यह है कि इन असाधारण और प्रतिकूल परिस्थितियों में वैवाहिक सम्बंध की स्थापना होना और पति में गर्भ स्थापन व पत्नी में गर्भ धारण का तत्परत्व युद्ध या संकटकालीन माताओं के मनोविज्ञान का एक मनोरंजक पहलू है।

'दादा कामरेड' नामक उपन्यास एक क्रान्तिकारी के जीवन की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। इसमें मजदूरों के अधिकारो, हिंसा व अहिंसा की समस्या, कांग्रेस व क्रान्तिकारी दल की नीति आदि पर विचार किया गया है! यौन सम्बन्धी बातों पर काफी उदारता से विचार किया गया है। पर मेरा उद्देश्य वहाँ इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना है कि शैल नामक लड़की हरीश नामक क्रान्ति दल के एक सदस्य के साथ प्रेम करने लगती है जिसकी परिणति यौन सम्बन्ध में होती है जिसके कारण शैल गर्भवती हो जाती है। क्रान्तिकारी का जीवन तो सदा संकट का ही होता था, पद पद पर मृत्यु उसके पार्श्व में घूमा करती थी। उसका जीवन किसी संम्वेदनशील नारी में वही मानसिक स्थिति उत्पन्न करने की क्षमता रखता है जो एक सैनिक को प्राप्त है। हरीश को प्राणदंड हो जाने पर शैल की क्या मनोदशा हुई वह सुनिये और ऊपर कही गई संकटकालीन माताओं की मनोवृत्ति पर विचार कीजिये।

"हरीश चला गया। क्रान्तिकारी का आदर्श कायम कर गया।"

"नहीं दादा, वे अभी जीवित हैं। उसके बाद वह अपने गर्भ की ओर संकेत करती है। शैल पूछती है "दादा क्या आप भी मुझे कलंकित समझते हैं।"

"तुम्हें ··· 'यह तो जीवन का स्वाभाविक मार्ग है"

"मैं तुम्हारे लिये हरी को तुम्हारी बाँहों में दे दूँगी।"[१८] इन वाक्यों के लिये किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। ये स्वयं अपनी बातें कह रहे हैं।

दिव्या में भी संकटकालीन नरनारियों के इस मनोवैज्ञानिक पहलू का चित्रण मिलता है। इस उपन्यास में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज का चित्र खींचा गया है। जिस मनोवैज्ञानिक पहलू का हम विवेचन कर रहे हैं उसका सबसे बड़ा समर्थन इस उपन्यास में मिलता है। देशद्रोही के बारे में तो कहा जा सकता है कि उसमें वास्तविक युद्ध नहीं, पर उससे ही मिलती जुलती वस्तु काँग्रेसी स्वातंत्र्य संग्राम के बीच रखकर मानवता का अध्ययन किया गया है। इसी तरह दादा कामरेड में क्रान्तिकारी हरीश को भी पद पद पर युद्ध की आशंका है पर दिव्या में साक्षात भयंकर युद्ध के ही बीच दिव्या व पृथुसेन को स्थित कर उन्हें देखने की चेष्टा की गई है। मद्र देश पर केन्द्रस ने आक्रमण किया है। मद्र की रक्षा के सारे प्रयत्न असफल हो

गये हैं, इस विकट परिस्थिति में नवशिक्षित सैन्यते तक्षिशिला तटवर्ती दुरुह-उपत्यकाओं में शत्रु से लोहा लेने के लिये पृथुसेन की नियुक्ति की गई है। उपन्यास के पाँचवें परिच्छेद आत्मसमर्पण में युद्धारम्भ के कार्यभार से अवनत और भयंकर संकट के मुख में पड़ने वाले पृथुसेन तथा उससे बिछुड़ने वाली दिव्या की मानसिक स्थिति का चित्रण किया गया है। वे प्रासाद में कुछ समय के लिये एकांत में मिल जाते हैं। दिव्या उद्रेक के अतिरेक से पृथुसेन के वक्ष में समा जाना चाहती है......उसे अंक में ले, सान्त्वना देने के प्रयत्न में पृथुसेन स्वयं विह्वल हो दिव्या में आश्रय ढूँढने लगता है। दिव्या उसके हाथों को अपने हाथों में ले वर्जने के लिये बाध्य हो जाती है। पृथुसेन ने कहा था "शीघ्र ही तक्षिशालतट पर युद्ध में जा रहा हूँ...... यदि तुमने मुझे अंगीकार किया है तो तुम्हारी वर्जना ही मेरी स्मृति में जायेगी। यदि न लौटा...... सम्भवतः मेरा शव ही शागल आये।"[१९]

पृथुसेन से विवाह होने में अपने परिवार वालों की ओर से अस्वीकृति की आशंका कर वह कहती है "मेरे लिये किसी अन्य वर की सम्भावना नहीं......और विवाह भी विलम्ब से नहीं तुरन्त......आर्य के युद्ध में जाने के पूर्व ही करना चाहती हूँ।"[२०] समर यात्रा में केवल आज की सन्ध्या तो शेष है। दिव्या तांत्रिक वैकुन्ठ से प्राप्त "महाशक्ति कवच" पृथुसेन की भुजा पर बाँध कर उसे अमर कर देना चाहती है। दासी ने रहस्य के स्वर में संकेत किया कि सूर्यास्त के दो घड़ी पश्चात मल्लिका प्रसाद में पृथुसेन से भेंट होगी। दिव्या अभिसार की तैयारी कर रही है। उस समय उपन्यासकार जो कुछ कहता है, वह हमारी स्थापना के लिये इतना संगत है कि उन्हें उद्धृत करना ही होगा। "उत्साह से उठ दिव्या उपेक्षित, मलिन वस्त्र उतार, प्रसाधन में लग गई। भावावेश के कारण अधिक स्वेद आने से प्रसाधन कठिन हो रहा था। और हाथ अटपटा जाते। वह आत्म समर्पण की विजययात्रा के लिये प्रस्तुत हो रही थी। प्रसाधन इस यात्रा का अनुष्ठान था......उसके संकट तथा उसके भय में उसकी अर्द्धांगिनी बनने के लिये, अपना अस्तित्व उसे सौंप उसके हृदय में बस, उसे साहस और सान्त्वना देने के लिये दिव्या आत्म समर्पण की विजय यात्रा के लिये प्रस्तुत हुई......महाशक्ति का कवच हाथ में ले उसने छाया को रथ प्रस्तुत करने का आदेश दिया।"[२१] यहाँ दो बार आये हुए 'आत्म समर्पण की' 'विजय यात्रा' वाला वाक्यांश द्रष्टव्य है। अब तक तो वर्जन था, पर ठीक समर यात्रा की रात्रि में उसके आत्म समर्पण की भावना प्रबल हो उठती है। वह पृथुसेन की जीवन रक्षा के लिये उसकी भुजाओं पर महाशक्ति का रक्षा कवच बाँधती है। मैं तो एक पद आगे बढ़कर कहूँगा कि दिव्या बाह्य दृष्टि से उसकी रक्षा के लिये अनुष्ठान करती है पर उसका सबसे बड़ा अनुष्ठान सांकेतिक है। वह पृथुसेन के तेज को गर्भ में धारण कर उसे अमर कर

देती है। पृथुसेन भी अपने को सुरक्षा के गर्भ में पाकर अमर हो जाता है।

यशपाल के उपन्यासो में वर्णित कुछ बातो की जो मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई बहुत सम्भव है कुछ विचित्र सी लगे। ऐसा मालूम हो कि अनावश्यक खींचातानी की गई है, पर "सुनि आश्चर्य कही जनि कोई, मनोविज्ञान महिमा नहि गोई" मनुष्य व मनोविज्ञान ऐसी ही आश्चर्यजनक वस्तु है। मनुष्य इस तरह के भाव तरंगों की विवशता का शिकार होता है यह बात ध्रुव सत्य है। चाहे उसकी चैतन्य अनुभूति उसे कभी-कभी ही हो सकती है पर फ्रायड के मनोविश्लेषण से थोड़ा भी परिचित व्यक्ति से यह बात छिपी नहीं है। स्वस्थ और विकृत मानस व्यक्तियों में एक ही मानसिक प्रक्रिया काम करती है। बल्कि कहा तो यह जा सकता है कि स्वस्थ मानस वाला व्यक्ति व्यक्तित्व की छिपी कन्दराओं में चलते चलते होने वाले व्यापार ही मनोविकार ग्रस्त मानव मे स्पष्ट रूप से बाहर आकर प्रकट होने लगते हैं। असाधारण तथा मनोविकार ग्रस्त मानव के आचारण तथा मानसिक व्यापार साधारण स्वस्थ मानव के मनोवैज्ञानिक रहस्यों पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकते हैं। स्ट्रिनबर्ग Strindburg की कथा हमारे सामने है। उसका एक नारी से सम्बन्ध हो गया। बाद में उसे पता चला कि वह नारी पुंश्चली है तो वह विक्षिप्त सा हो उठा। उसका विश्वास था कि इस चरित्रहीन नारी से मैथुनिक सम्पर्क द्वारा उसने अपना रक्त उसके रक्त से मिश्रित किया है, अपनी आत्मा के अंश का दान किया है। अब येनकेन प्रकारेण इस अंश को वहीं से निकाल लेना ही चाहता था। अतः यह नई बात नहीं है कि मनुष्य नारी के गर्भ में प्रवेश कर पुनर्जीवन लाभ की कामना करता है।" आत्मेव जायते पुत्रः" कह कर प्रकारान्तर से इसी मनोविज्ञान की पुष्टि की गई है। संकट के समय यही मनोविज्ञान उमड़ पड़ता है।

दिव्या में एक मनोवैज्ञानिक पहलू और है जिसकी चर्चा हम मनुष्य के रूप में कर चुके हैं। बरकत व सोमा को लेकर जिस मनोविज्ञान का रूप प्रदर्शित हुआ है वही रूप कुछ कुछ पृथुसेन व सीरो को लेकर हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि विवाह के उपरान्त शीघ्र ही सीरो व पृथुसेन के सम्बंध में ऐसी कटुता आ जाती है जो सहसा समझ में नहीं आती। पाठक अकचका कर पूछता है"'अरे यह क्या। अभी तो इतनी धूम धाम से वैवाहिक क्रिया सम्पन्न हुई और अभी ही यह नौबत आ गई कि सीरो के मुख से यह आग निकले "मैं तुम्हारी क्रीतदासी नहीं हूँ। तुम मेरे आश्रित हो। मैं तुम्हारी आश्रित नहीं। मैं तुम्हारे पिंजरे की वह शारिका नहीं हूँ'''और पृथुसेन की उगलियाँ सीरो का गला पकड़ कर उसे मरोड़ डालने के लिये तिलमिला उठे। इसके कारण उपन्याकार ने बतलाये भी हैं। पर जिन मानसिक परिस्थितियों में विवाह सम्पन्न हुआ था, उसमें इस तरह की सम्बंध स्थिति अवश्यम्भावी थी। पृथुसेन दिव्या को प्यार करता था और उसके साथ प्रणयाबद्ध होने के लिये प्रतिश्रुत था। सीरो के हृदय में

दिव्या के लिये इतनी ईर्ष्या के भाव थे कि वह दिव्या के नामोच्चारण पर ही नागिन की तरह फुफकार उठती थी। एक दिन अति ही विपन्नावस्था में दिव्या पृथुसेन से भेंट करने के लिये प्रार्थना प्रेषित करती है पर वह सीरो के साथ प्रेमालाप में संलग्न है। वह सीरो के ही कहने से दिव्या से मिलना अस्वीकार कर उसे अपने द्वार से लौटा देता है। जिस व्यक्ति के चलते ही उसके चिरपोषित सपनों पर तुषारापात हो जाता है उसके प्रति उसके अचेतन में विरोधी भाव सचित होते रहते हैं। परिस्थितियों के फेर में पड़ कर अथवा अपनी कुल मर्यादा के झूठे गौरव मे आकर अथवा अपने बड़े पितामह के आज्ञा पालन के कारण—जो भी हो उसके चेतन मन ने सीरो के ही पक्ष में वोट दिया हो। पर इससे क्या? अचेतन मन तो सीरो को ही इस अघट घटना के लिये उत्तर-दायी मानता था और यही कारण था कि छोटी छोटी बात के लिये भी इस तरह का अकाण्ड ताण्डव छिड जाता। इसी से कुछ मनोवैज्ञानिकों की सम्मति है कि जो विवाह लम्बी और दीर्घकालीन कोर्टशिप के पश्चात् सम्पन्न होता है जिसमें प्रेमी को अनेक विघ्न बाधाओ व अस्वीकृतियों का सामना करना पड़ता है वह प्रायः असफल होता है, उसका दाम्पत्य जीवन सुखमय नहीं होता। कारण कि प्रेमिका के चेतन मस्तिष्क ने प्रेमी की दृढ़ता और व्याकुलता के प्रति आत्म समर्पण कर दिया हो पर उसका अचेतन दबाव (Coercion) के प्रति विरोधी ही बना रहता है। दूसरी ओर कोर्टशिप के दिनों में प्रेमिका के अविवेक के कारण जिस दुर्गति का सामना करना पड़ा था उसकी स्मृति मनुष्य से खटकती रहती है।

पर्दे की रानी श्री इलाचन्द्र जोशी का प्रसिद्ध उन्पास है। जोशी जी के उपन्यास की आधार शिला मनोवैज्ञानिक है। उनके सारे पात्रों का जीवन सूत्र अचेतन के हाथों मे रहता है। वे एक छद्म वेश धारण किये रहते हैं। पर्दे की रानी के पात्रों ने अपने जीवन की आन्तरिक प्रवृतियों का स्वयं विश्लेषण किया भी है। इस उपन्यास का पात्र इन्द्रमोहन भले ही किसी रणक्षेत्र में जाकर शत्रुओं का सामना न करे पर यह सत्य है कि उसके हृदय मे जो प्रलयंकर ताण्डव हो रहा है वह सहस्त्रों युद्धों से भी विभीषिकामय है। वह छल बल और कल से एक नारी पर विजय प्राप्त करना चाहता है जो उसमें प्रेम की चिनगारी जलाकर अब उसके साथ यों खेल रही है जैसे चूहे के साथ बिल्ली खेलती हो। उपन्यास की पूरी कथा देना सम्भव नहीं, किन्तु पाठक से यह छिपा नहीं है कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये वह क्या नहीं करता। शीला से विवाह करता है, फिर उसकी हत्या करता है, इस तरह के कपटाचारण के सहारे निरंजना के साथ नेपाल यात्रा की राह में उस पर विजयी होता है, अर्थात् उसके सतीत्व को खण्डित करने में सफल होता है। इन्द्रमोहन का अन्तर्मन अपने आसन्न विनाश को देख रहा था। अतः उसमें जीवन की कामना तथा उस नारी पर शाश्वत विजय की कामना प्रबल

थी। इधर निरंजना के हृदय में तो पहिले से ही इन्द्रमोहन के व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण था ही, इस चरम क्षण में उसे सदा के लिये अपना बना लेने की इच्छा पूरे उत्कर्ष पर थी। इस ज्ञान की उपलब्धि होते ही कि इन्द्रमोहन एक भयंकर राजनैतिक मामले में गिरफतार होने वाले हैं, संभव है कि निरंजना के अचेतन मानस स्तर पर वे सारी प्रतिक्रियाएँ उभर कर आ गई हों जो युद्ध में आहुतोन्मुख को देख कर होती हों और उसके अन्दर एक ऐसी रासायनिक क्रिया होने लगी हो, जिसकी आँच में विरोध का धातुपिंड गल गया हो। यही कारण है कि इन्द्रमोहन भले ही रेल की पटरी के नीचे कूद कर जान दे देता हो पर निरंजना के गर्भ में आकर सांकेतिक रूप में अमरत्व का लाभ उठा लेता है। इस अमरत्व सिद्धि को सफल बनाने में निरंजना का असाधारण परिस्थिति जन्य मनोविज्ञान पूर्ण सहयोग दे रहा था।

पर्दे की रानी के पात्रों में एक अन्य विचित्रता भी है। निरंजना व इन्द्रमोहन दोनों एक दूसरे की ओर आकर्षित है। "उन्हें देखकर ही मेरा प्रति रक्त कण न जानें किस अतल में सुप्त संस्कारों के आकस्मिक जागरण के फलस्वरूप एक निराले विद्युत स्फुरण से तरंगित होने लगा।" तिस पर भी निरंजना दो सौ पन्नों तक उनको अपने से एकदम अलग ही रखती गई है। छूने भी नहीं देती। निरंजना की इस दृढ़ता में थोड़ा लचीलापन तब आने लगता है जब वह शीला से विवाह कर लेता है। आत्म समर्पण तो वह तब करती है जब वह शीला की हत्या कर निरजना के साथ नेपाल की ओर पलायन कर रहा है। इन्द्रमोहन तथा उसके पिता मनमोहन की जो प्रेमानुरक्ति निरंजना के प्रति है उसके मूल में वह प्रवृत्ति काम करती है जिसे फ्रायड ने लव फार हेरलाट (Love for harlot) कहा है। और इसका सम्बन्ध शिशु जीवन के एडीपस सिच्युएशन (Edipus situation) से है। इस एडीपस (Edipus) परिस्थिति की बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम मनमोहन जी को निरंजना के सामने अपने पुत्र के प्रति अपनी कटु व विद्वेषपूर्ण धारणाओं को अभिव्यक्त करते पाते हैं। जब उन्हें मालूम होता है कि इन्द्रमोहन निरंजना के यहाँ आता जाता है तो उनके हृदय में क्रोध जग उठता है। वे निरंजना को अपने पुत्र से सावधान करने के लिये इन्द्रमोहन के आचरण के विरूद्ध दोषारोपण करते हैं। यह उनके हृदय के कालुष्य का ही परिचायक है। यों तो निरंजना के चरित्र में कई जटिलतायें हैं। अनेक गुत्थियों ने उलझ कर उसके व्यक्तित्व को जटिलतर बना दिया है, पर यह देख कर कि शीला के साथ इन्द्रमोहन के वैवाहिक सम्बन्ध में आबद्ध हो जाने पर निरजना का काठिन्य कुछ गलने सा लगता है, उसका प्रतिरोध कुछ कम होने लगता है पाठक के हृदय में इस असाधारण व्यवहार के रहस्य को जानने की जिज्ञासा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस रहस्य का बोधगम्य उद्घाटन तभी होगा जब इस पर हम फ्रायड के दृष्टिकोण से विचार करेंगे।

अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' को हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान मिलेगा। जिस प्रकार कोई अनुसंधान कर्ता वैज्ञानिक एक बड़े ही शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र के नीचे अणु और परमाणुओं की गतिविधि की परीक्षा करता हो, उसी प्रकार इस औपन्यासिक ने मानव व्यक्तित्व व उसकी चेतना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपो की जाँच पड़ताल की है। इसकी चर्चा अन्यत्र की गई है। यहाँ पर उपन्यास के एक पहलू की ओर ही ध्यान आकृष्ट करना है। भुवन के सम्बन्ध गौरा से बहुत पहिले के हैं। वह उसकी शिष्या रह चुकी है। वह उसके प्रति प्रणय की प्रेरणा का अनुभव करता है पर कहीं भी खुलता नहीं। यहाँ तक कि उससे बचने के लिये अपने को कितनी ही तरह की परिस्थितियों में डालता है। जानबूझ कर ऐसी परिस्थितियों की खोज के सिलसिले में वह कभी पहाड़ पर, कभी समुद्र में, कभी अण्डमन आदि स्थानों में पर्यटन करता है पर यह जानने वालों से छिपा नहीं है कि उसके व्यापारों का सांकेतिक महत्व क्या है। वह किससे प्रेम करता है? रेखा एक जगह कहती भी है "मैने आज एक बड़ी डिस्कवरी की है, भुवन, यू आर इन लव। भुवन अन्त में युद्ध मे भर्ती होता है। यह क्या कम आश्चर्य की बात है कि वर्मा फ्रन्ट की भौगोलिक अनिश्चितता में जब कि पग-पग पर आक्रमण की सम्भावना रहती है, किसी भी क्षण उसे विस्फोटक द्रव्य नष्ट कर सकता है, या वह पकड़ ही लिया जा सकता है, उसी समय उसे अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान होता है। सहसा वह पत्र के सामने पड़ी हुई कापी निकाल लेता है और पेंसिल से उसे द्रुतगति से रंगने लगता है और लिखता क्या है सो देखिये

गौरा!

मैं लौट कर आऊँगा या नहीं, क्या पता कब आऊँगा, यह भी कौन जाने! पर अगर आया......आने के साथ यह......अगर...न होता तो शायद अब भी मै यह पत्र न लिख पाता। अगर आया तो क्या मुझसे विवाह करोगी......"[२२]

प्रश्न स्वाभाविक है कि भुवन में इस तरह से स्पष्ट रूप में प्रस्ताव रखने की तात्कालिक विवशता क्यों आ गई। क्या युद्ध के संकटापन्न काल में जो एक विशिष्ट मानसिक परिस्थिति हो जाती है; उसमे इसका मूल नहीं खोजा जा सकता? इस पत्र के आगे की पंक्तियाँ भी स्पष्ट है—

"एक वर्ष पहिले जब लम्बी चुप्पी के बाद मैंने जावा से तुम्हें दो तीन पत्र लिखे थे तब मै अस्वस्थ था और तुम्हें होमसिक होने की बात लिखी थी...तभी मैंने जाना था कि मैं तुमसे भाग कर वहाँ गया था। तुम्हीं से। और यह जानकर आसपास फैली विशालता में खो गया था और फिर जाना था कि यह विशालता भी तुम हो। तुमने मुझे घेर लिया था और उसमें एक सान्त्वना थी, एक मरहम था...

सहसा मुझे लगा कि उस विशालता के आगे हथियार डाल कर अपने सभी कवच बँधन छोड़ कर मैं स्वस्थ हो जाऊँगा। मेरे क्षत भर जायेंगे।

पंडित इलाचन्द्र जोशी ने सतर्क होकर आधुनिक मनोविज्ञान के प्रभाव को ग्रहण किया है। उन्होंने फ्रायड, युंग, एडलर आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों का अध्ययन किया है और अपनी कृतियों में सचेष्ट स्थान दिया है। यही कारण है कि उनके पात्रों के चेतन स्तर पर भी व्यक्तित्व की अचेतना में निर्दिष्ट रूप से प्रवाहित रहने वाली भावनाएँ भी झलक कर आ जाती हैं, या वे पात्रों की अन्तर्धारा से पाठकों को परिचित कराने से नहीं चूकते। उदाहरणस्वरूप प्रेत और छाया के उस प्रसंग को देखिये जहाँ पारसनाथ मुजौरिया जी की पत्नी को भगाये लिये जा रहे हैं। अपनी प्रेमिका पर हर तरह से अधिकार प्राप्त कर लेने की सफलता पर प्रेमी के मन में उल्लास और स्फूर्ति का होना स्वाभाविक है। पर यहाँ पर पारसनाथ के हृदय में एक अतिरिक्त उल्लास किस लिये है? वह एक विवाहित स्त्री को भगाये लिये जाता है। उपन्यासकार इस प्रसंग पर टीका करते हुए एक मनोविश्लेषक की तरह कहता है "पर यह सब होने पर भी यह अनुभूति उसे एक उन्मादक और अस्वाभाविक स्फूर्ति प्रदान कर रही थी कि वह एक विवाहित स्त्री को भगाये लिये जाता है, किस ओर भगा ले जा रहा है, किस उद्देश्य से और कितने समय के लिये—अपने अन्तर्मन के ये सब प्रश्न उसे एक दम अर्थहीन और निस्सार लगते थे। केवल यह कल्पना उसे रह रह कर तरंगित कर रही थी कि जो स्त्री उसके साथ भाग निकली थी वह अब तक किसी दूसरे की सम्पत्ति थी और आज वह पूर्ण रूप से उसके अधिकार में है। "एक विवाहित नारी को भगाने में जो सुख है वह किसी अविवाहित स्त्री के साथ भगाने में कदापि नहीं। किसी गुणवती व शीलवती सुन्दरी स्त्री का पातिव्रत खंडित करने से हम नरक के कीड़ों की सब से बड़ी महत्वाकांक्षा की पूर्ति होती है"।[२३] पारसनाथ का मनोविज्ञान स्पष्ट है। वह युवा शिशु है, और अपने पिता-सम्पत्ति रूपी माता का प्रेमाधिकार प्राप्त करने की आनन्दानुभूति से पुलकित हो रहा है।

'चढ़ती धूप' लेखक श्री अंचल का पात्र मोहन तारा से प्यार भले ही करता हो, पर अन्तिम समय तक शारीरिक मर्यादा का पालन वह करता ही है। परन्तु मिल के फाटक पर पुलिस की गोलियों का शहीद हो जाने के एक रात पूर्व उसके जीवन भर की संचित तृष्णा एक बारगी उभर आती है और वह समर्पण के बाद कहता है "तारा, मैंने अपना श्रेष्ठतम आज तुम्हें दे दिया। तुम्हारे श्रेष्ठतम की जो अनुभूति मुझे मिली वह जीवन भर के लिये काफी है।[२४]

पाद टिप्पणियाँ

१. इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइको-अनालिसिस ले० फ्रायड; जान रिवरी द्वारा अनुवादित, द्वितीय संस्करण पृ० २२६।
२. सुनीता पृ० २४, दूसरा संस्करण १९४१।
३. वही पृ० १८०। ४. वही पृ० १८०। ५. वही पृ० १५४।
६. वही पृ० १२०। ७. वही पृ० १८२।
८. इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइको-अनालिसिस ले० फ्रायड, जान रिवरी द्वारा अनुवादित, द्वितीय संस्करण।
९. दादा कामरेड, विप्लव कार्यालय, लखनऊ १९४३ पृ० ५९।
१०. वही पृ० १५९।
११. देशद्रोही, विप्लव कार्यालय, लखनऊ १९४३ पृ० ५९।
१२. वही पृ० २५३। १३ वही पृ० २६४।
१४. Collected papers, Freud, IV Vol. P. 196-199।
१५. सुनीता, द्वितीय संस्करण १९४१। १६. वही पृ० १३५।
१७. वही पृ० १८५। १८. दादा कामरेड, पृ० २५९।
१९. दिव्या, द्वितीय संस्करण पृ० १०१। २०. वही पृ० १०३।
२१. वही पृ० ११०। २२. नदी के द्वीप, प्रथम संस्करण पृ० ३४।
२४. चढ़ती धूप, द्वितीय संस्करण १९४७ पृ० ३०२।

त्रयोदश अध्याय

उपन्यासकला का अन्तर्प्रयाण

आधुनिक उपन्यासकार और युग की बिखराहट; इसे अन्य युगों से पृथक कर देने वाली विशिष्टता का अभाव। पर कोई व्यापक तत्व को खोज निकालना ही होगा जिससे हमें उपन्यास कला की गति विधि के समझने में सहायता मिले।

इस निबन्ध का सम्बन्ध आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता के कुछ पहलुओं से रहा है। यूरोप तथा अमेरिका के आधुनिक औपन्यासिकों ने अपनी रचनाओं में मानव मन तथा मानव जीवन की अनुरूपता लाने के लिए, मनुष्य को समूर्तता उपस्थित कर देने के लिए, उपन्यास को मनुष्य के आभ्यन्तरिक जगत के सच्चे प्रतिनिधित्व की योग्यता तथा क्षमता से समन्वित करने के लिए कथा की भाषा में तरह तरह के अनेक प्रयोग किये हैं। उनकी प्रतिभा तथा रचना कौशल के प्रभाव से उपन्यास का एक तरह से कायाकल्प ही हो गया है। उसकी वेशभूषा, साज सज्जा तथा बाहरी परिधान में ऐसा आमूल परिवर्तन हो गया है कि यदि १७ वीं व १८ वीं शताब्दी के उपन्यास का पात्र रिपवान विन्किल (Rip Van Winkle) की तरह जग कर आज के क्षेत्र में पदार्पण करें तो वह आश्चर्यचकित हो अपनी आँखें मलता रह जाय। आधुनिक युग के अनेक औपन्यासिक ऐसे हैं जिन्हें मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है। फ्रांस म अन्द्रेजीद, प्रूस्ट, इङ्गलिस्तान में जेम्स ज्वायस, विरजीनिया वुल्फ, जर्मनी में टोमस मैन, अमेरिका में विलियम फोकनर आदि। इन लोगों को औपन्यासिकों का उपन्यासकार (novelists' novelist) कहा जाता है कारण कि इन लोगों में से अनेक ने अपने उपन्यासों के मध्य में अनेक ऐसे अवसर ढूँढ़ निकाले हैं जहाँ उन्हें अपनी कला की विवेचना करनी पड़ती है और उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुये यह बतलाना पड़ता है कि उपन्यासकारों के लिए किस मार्ग का अवलम्बन समीचीन होगा तथा पूर्व के उपन्यासकारों की कला में, उनकी दृष्टि से, क्या दोष थे? क्यो पूर्ववर्ती उपन्यासकारो के द्वारा मानव जीवन का समुचित प्रतिनिधित्व सम्भव नहीं हो सका है? इन सब आधुनिक उपन्यासकारों में श्रीमती वर्जीनिया वुल्फ ने अपने उपन्यासों मे अपने मन्तव्यों को अधिकता से अभिव्यक्त किया है तथा अलग से भी कॉमन रीडर (Common Reader) नामक एक आलोचनात्मक पुस्तक के दो भागो मे अपने विचारो को संग्रहीत किया है। अतः उनको ही आधुनिक उपन्यासकारों का प्रतिनिधि मान लेना हमें सुविधाजनक होगा।

आधुनिक युग विशृङ्खलता तथा बिखराहट का है। कहीं भी कोई ऐसी विशिष्टता दृष्टि में नहीं आती जिस पर अंगुली रख कर निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि यही वस्तु है जो सर्वसाधारण रूप में प्राप्त होती है, यही गुण है जो अपनी सर्वव्यापकता के कारण इसे अन्य युगों से पृथक कर देता है। उपन्यासों के क्षेत्र में भी यही बात लागू होती है। हम चाहें तो अपनी सुविधा के लिए उपन्यासों के कुछ वर्ग स्थापित कर दें, कह दें कि आज के कुछ उपन्यासकार प्रोलिटेरियट हैं, कुछ आर्थिक हैं, कुछ सेक्स संबंधी हैं, कुछ में आधुनिक जीवन की समस्याओं को उपजीव्य के रूप में उपस्थित किया गया है, कुछ ऐतिहासिक हैं, कुछ जासूसी हैं, कुछ मनोवैज्ञानिक हैं, पर इस तरह का वर्गीकरण अधूरा है। रङ्ग आपस में इस तरह मिल जाते हैं, एक की सीमा दूसरे से इस तरह मिल जाती है कि सारा चित्र पारस्परिक विपरीत रेखाओं की काटाकाटी से विक्षुब्ध और विच्छृङ्खल हो उठता है, अस्पष्ट हो जाता है और अपने वर्गीकरण पर हम खिन्न हो उठते हैं। हमें अपने विचारों के स्थिरीकरण में सहायता देने के लिए मासिक पत्रिकाओं में लघु या दीर्घ आलोचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। आज कितनी ही पुस्तक मण्डलियाँ, कितने ही अध्ययन-चक्र हैं जो पुस्तकों के महत्व का निर्देशन करते हैं। पुस्तकों की बिक्री के झूठे या सच्चे आंकड़ों को प्रकाशित करके भी हमें अपने मत निर्धारण मे सहायता देने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु इससे हमारी समस्या के समाधान में अर्थात् आधुनिक उपान्यासों के एक या एकाधिक सर्वव्यापक तत्व की उपलब्धि में हमें कुछ भी सहायता नहीं मिलती। मालूम होता है कि इस युग की अराजकता, व्याकुलता और छितराहट को प्रतिनिधित्व में विश्वास नहीं। उसे अपने प्रतिनिधित्व का अधिकार किसी को देना स्वीकरणीय नहीं पर साथ ही यह भी उतना ही ठीक है कि इस अस्तव्यस्तता और अनियमितता की तह में एक नियम है, शृंखला है। समुद्र भले ही विक्षुब्ध दिखलाई पड़े, उसकी उमड़ती हुई तरंगे हमारी दृष्टि को भले ही अपने में ही अवरुद्ध कर लें पर उसके शाश्वत रूप का कैसे अस्वीकार किया जावे ? हमें उसे ढूँढ़ना होगा। शेली से बढ़कर विद्रोही और नियम संयम की ध्वंसिनी आत्मा किस की होगी पर उसे भी स्वीकार करना पड़ा था कि किसी विशेष युग के सब साहित्य स्रष्टाओं में एक सादृश्य, एकरूपता की उपस्थिति होगी ही और वह उनकी निजी इच्छा से पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र होगी। किसी युग विशेष के निर्माण में अनेक परिस्थितियों का सहयोग रहता है तब वे अपने युग की इस वैविध्य-पूर्ण प्रभाव से बच ही कैसे सकते हैं ? यद्यपि वे एक अंश में उन प्रभावों के निर्माता भी हैं जिनसे उन्हें प्रभावित होना पड़ता है।[1]

अतः उपन्यास साहित्य के इन तीन शताब्दियों की गतिविधि को समझने के लिए तथा आज या कल भविष्य की स्पष्ट झांकी लेने के लिए भी एक तरह का

शैलीविन्यासीकरण, एक व्यापक सिद्धान्त का पृथकीकरण, दूसरे शब्दों में सामान्यीकरण, जेनरलाइजेशन (generalisation) नितान्त आवश्यक है। वास्तव में इसके बिना मनुष्य की गति ही नहीं, इसके अभाव में मानवजीवन के सभी व्यवहार व्यापार रुक जायँगे।

वह व्यापक तत्व है : कथा का अन्तर्प्रयाण : इस क्षेत्र मे जितने भी वाद आए हैं उनका मूल कारण यही है। इसके लिए कथा को चार चरण उठाने पड़े है

ऐसी अवस्था में यूरोपीय उपन्यासों के लगभग तीन शताब्दियों के इतिहास की तथा हिन्दी साहित्य की एक शताब्दी की गतिविधि को देखकर हम एक ही व्यापक तथा सर्वसाधारण तथ्य निकाल सकते हैं, जिसके सम्बन्ध में न्यूनातिन्यून मतभेद की सम्भावना हो सकती है। वह यह है कि कथा साहित्य की प्रवृत्ति सदा बाहर से भीतर की ओर की रही है, स्थूल से सूक्ष्म की ओर रही है। इसका इतिहास बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने का इतिहास है। योरोपीय कथा की बात ही छोड़ दीजिए। वहाँ तो कथा साहित्य के मानव मनोभूम्यन्तर्गत प्रयाण की प्रवृत्ति चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है और इसके कारण उपन्यासों में कल्पनातीत परिवर्तन हो गए हैं—ऐसे परिवर्तन जिनको देखकर चिन्तनशील आलोचक उनके भविष्य के बारे में सशंक हो उठते हैं। हिन्दी उपन्यास साहित्य के साधारण पाठक को भी यह बात अज्ञात नहीं है कि अब उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर केन्द्रित नहीं कि उनके पात्र क्या करते हैं। वे इससे आगे बढ़कर इस बात को अपना लक्ष्य बना रहे हैं कि उनकी विचार प्रक्रिया क्या है, वे क्या सोचते हैं और कैसे सोचते हैं? उनकी सूक्ष्म मूल प्रेरणा क्या है? यही एक राज मार्ग है अर्थात् मनोभूम्यन्तर्गामित्व का मार्ग जिस पर उपन्यास नियमित रूप से प्रगति करता आया है। उपन्यास में जो कुछ भी परिवर्तन हो गया है, उसके प्रचलित नियमों में, कन्वेशन में कथा सौष्ठव के निरन्तर ह्रास में, भाषा के लचीलेपन में, उपन्यासों की व्याख्यात्मकता मे इन सबों का मूल कारण है उपन्यासों में निरन्तर आन्तरिकता की प्रवृत्ति। यही मुख्य है और शेष इसी आन्तरिक के प्रवृत्ति के सहज और स्वभाविक परिणाम हैं। प्रकृतिवाद (naturalism), यथार्थवाद (realism), प्रतीकवाद (symbolism), प्रभाववाद (impressionism) और समय-समय पर किसी वाद का जो आधिपत्य उपन्यासकला पर होता सा दिखलाई पड़ता है सबका मूल उद्देश्य एक ही रहा है। अंग्रेजी उपन्यास साहित्य के विहंगमावलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस आभ्यन्तर प्रयाण यात्रा में उसे तीन या चार युगों को पार करना पड़ा है। अर्थात् इस आन्तरिक प्रवृति की माग के कारण, इसके जबरदस्त तकाजे की वजह से उसे चार रूप धारण करने पड़े हैं।

प्रथम युग एपीसोडिक उपन्यासो का जिसमे जीवन की समस्या बाहर से छेड़ी गई है। प्रेमचन्द के पूर्व तक हिन्दी उपन्यास की यही अवस्था रही।

प्रथम युग उन उपन्यासों का है जिन्हें अंग्रेजी में पिकारेस्क (Picaresque) और ऐपीसोडिक (Episodic) उपन्यास कहते हैं। इनमें किसी व्यक्ति की साहसिकता से पूर्ण आश्चर्यचकित कर देने वाली कथाओं की माला गूंथी हुई रहती है। ये कथाएं एक तरह से अपने में स्वतन्त्र हैं; यदि इन्हें स्वतन्त्र रूप में भी देखा जाय तो भी भी कोई हानि नहीं होगी। इनके स्वरूप में थोड़ी सम्बद्धता का आभास मिलता है तो केवल इतने ही भर से कि नायक को घटनाओं के मध्य से होकर गुजरना पड़ता है। उसके ही जीवन मे कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुई हैं जिनसे उसका कुछ सम्बन्ध है। एलिजाबेथन युग के कथाकार टॉमस नाशे (१५६७ : १६०१) डिफोनी (१५४३ : १६०७) के उपन्यास तथा १८वीं शताब्दी के उपन्यासकार डीफो, स्मौलेट आदि इसी तरह के उपन्यासों के निर्माता की श्रेणी में आयेंगे। इन उपन्यासों के पात्रों में चरित्र-चित्रण का अभाव सा है, उनकी बाह्य रूपरेखा ही देखने में आती है मानो वे नर-कंकाल ही केवल जिनमें प्राणों का स्पन्दन नहीं हो। उनके क्रिया कलापों का का वर्णन अवश्य है पर उस अनुचिन्तन के प्रति कथाकर सर्वथा उदासीन है जिनकी अभिव्यक्ति के लिए ये रूप धारण करते हैं। मनोवैज्ञानिक ने जिसे तैयारी की अवधि कहा है इसकी ओर उपन्यासकारों का ध्यान नहीं गया है। पात्रों की तथा उनके जीवन की समस्या को बाहर से छेड़ा गया है और उपन्यासकारों की दृष्टि इस बाह्यत्मकता में इस तरह उलझी हुई है कि उन्हें अन्दर झांकने की न तो चिन्ता ही है और न शक्ति ही। प्रेमचन्द के आगमन के पूर्व तक हिन्दी में कुछ इसी से मिलती-जुलती अवस्था बनी रही।

द्वितीय युग प्लॉट प्रधान उपन्यासों का। ये 'किम्' से आगे बढ़कर 'कथं' और 'केन' का वर्णन करते है। इस युग के हिन्दी में प्रेमचन्दजी प्रतिनिधि हैं।

दूसरा युग प्लॉट नावेल्स (plot novels) का है अर्थात् ऐसे उपन्यासों का जिनका कथा भाग सुन्दर और सुसंगठित हो और जिनकी रचना एक विशेष विचार, एक अनुभूति के प्रभाव से प्रभावित हो। इनमे भी पात्रों की बाह्य क्रियाओं का उल्लेख अवश्य होता है, इनके पात्र भी संसार के रंगमंच पर अभिनय-रत दिखलाये जाते हैं पर औपन्यासिकों की दृष्टि मे एक परिवर्तन अवश्य लक्षित होने लगा है। वे अब बाह्य क्रियाकलापों के साथ उनकी मूल अन्तर्प्रेरणाओं को भी देखने लगे हैं। वे अब इतनी सी बात कह कर ही संतोष नहीं कर लेते कि पात्रों ने क्या किया पर आगे बढ़कर यह भी बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि कैसे किया और क्यों किया। यदि मनोविज्ञान की

शब्दावलियों में हम अपने विचार प्रगट करें तो कह सकते हैं कि प्लॉटनोवेलिस्ट का सम्बन्ध व्हाट क्वेश्चन (what question) तक ही सीमित नहीं रहता। वह इतना ही बतलाकर रुक नहीं जाता कि पात्रों ने क्या किया (कि कृत) पर हाउ (how) । कैसे (कथ) और क्यों (why) को भी बतलाता है अर्थात् यह बतलाता है कि बाह्य क्रियाएँ किस तरह सम्पादित हुई हैं और क्यों हुई, 'कथं' और 'केन कारणेन'। इन उपन्यासकारों को हम मनोवैज्ञानिकों के रूप में देखने की कल्पना करें तो कह सकते हैं कि प्रथम युग के उपन्यासकार (structuralist) हैं और दूसरे युग के उपन्यास कार (functionalist) हैं। परिभाषा देते हुए वुडवर्थ ने कहा है कि वह मनोविज्ञान जो इस प्रश्न का ठीक और यथार्थ उत्तर देने का प्रयत्न करता है कि मनुष्य क्या करते हैं क्यों करते हैं और आगे चलकर इस पर भी प्रकाश डालता है कि वे कैसे और क्यों करते हैं वह (functional Pshychology) है।[२] अर्थात् इस तरह का मनोविज्ञान अपनी व्यापकता में किम्, कथ, और केन कारणेन इन सब प्रश्नों का यथोचित उत्तर देता है। अंग्रेजी उपन्यासों के किसी भी पाठक से यह बात छिपी नहीं है कि १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १९वीं शताब्दी के कुछ प्रारम्भिक वर्षों में इन तीनों प्रश्नों को अपनी सीमा में समाहित करने वाले उपन्यासों की रचना हुई। यह रिचर्डसन और फील्डिंग का युग था। इन लोगों की प्रतिभा के स्पर्श से प्लॉट नावेल का रूप निखर कर सामने आया। उपन्यास कला तट पर बैठ कर तरंगों के उत्थान और पतन को ही देखने वाली न रहकर, वायु के झोंको के सहारे थोड़ी शीतलता के स्पर्श से तृप्त न होकर नदी मे उतर कर जल का आचमन भी करने की ओर प्रवृत्त हुई। यही कारण है कि जहाँ तक रूप-विन्यास, बाह्यसंगठन और स्थापत्य का प्रश्न है इन उपन्यासों पर नाटकों का ऋण अधिक है और प्रथम श्रेणी के उपन्यासों पर महाकाव्य का। रिचर्डसन ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास क्लारिसा को नाटकीय वर्णन (Dramatic narration) कहा है। हिन्दी में उपन्यास कला के इस रूप का प्रतिनिधित्व प्रेमचन्द के उपन्यास मे पाया जाता है। अंग्रेजी में १८ वीं शताब्दी के पूर्व के उपन्यासकार Structuralist हैं और इसके बाद प्लॉट वाले रिचर्डसन और फील्डिंग के उपन्यास (functionlist) कहे जा सकते हैं। उसी तरह हिन्दी में उपन्यासों के प्राक् प्रेमचन्द युग को structuralist कहा जा सकता है और प्रेमचन्द युग को functionalist।

द्वितीय युग की त्रुटियाँ एवं तृतीय युग का प्रारम्भ

इसके पश्चात् अंग्रेजी उपन्यास कला का तीसरा चरण उठता है जिसमें उपन्यास कला अधिक मानसिक गहराई की ओर प्रवेश करती है। यद्यपि द्वितीय युग

के प्लॉट प्रधान उपन्यासो ने बाह्य क्रिया कलापों को आन्तरिक कारणों से सम्बद्ध करके ही देखा है और इस प्रकार उनमें मानव मानसिकता का अंश अधिक आ सका है पर फिर भी उनमें आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व का दर्शन नहीं होता। उनके पात्र व्यक्ति न होकर जाति (type) हो गए हैं। हां, इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्ति का कुछ अंश आया अवश्य। प्राचीन काल में एक राजा था, एक आदमी था, इतने से ही काम चल जाता था, नाम लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। वह राजा या आदमी हम तुम में से कोई भी हो सकता था। उसमें व्यक्तित्व का विकास था ही नहीं। पर आगे चलकर उन्हें नाम लेकर पुकारा जाने लगा। अर्थात् उनमें अधिक अपनापन आया। वे टाइप न होकर व्यक्ति होने लगे पर अभी तक उनमें पूरे व्यक्तित्व का विकास न हो सका था। द्वितीय युग के उपन्यासों को अवश्य चरित्र प्रधान उपन्यास कहा जा सकता है पर इसी सीमित अर्थ में कि इस वैविध्य पूर्ण मानव की अनेकरूपता में से कुछ एक विशेषताओं को चुन कर पात्रों के व्यक्तित्व में उन्हीं की क्रियाएँ दिखलाई जाती थीं और उनसे विपरीत पड़ने वाले जितने गुण थे उनको निर्ममता पूर्वक उखाड़ कर फेंक दिया जाता था। इन उपन्यासों के पात्रों के नाम जो दिए गए हैं जैसे Mr Alworthy, Mrs Honour यही इस बात का प्रमाण है कि उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से उभर नहीं सका है। पात्रों को पेचकश से दबाकर उन्हें एक साचे में ढाल दिया जाता था, उनका जीवन प्रवाह एक बंधी बंधाई प्रणाली से प्रवाहित होता रहता था। कहीं भी किसी प्रकार की विषमता तथा असंगति खोजने पर भी नहीं मिलती थी। वे चट्टान की तरह दृढ़स्वभाव, उन्नतचरित्र और महान व्यक्तित्व सम्पन्न होते थे, उनमें किसी तरह के विकास का अवसर नहीं था। वे जो थे सदा वैसे ही बने रहते थे। इससे इतना लाभ अवश्य हुआ कि उपन्यासों ने एक सौष्ठवपूर्ण संगठित रूप पाया। एक अनुस्यूतार्थ सम्बन्ध प्रबन्ध की प्राप्ति हुई। पर वह एक ऊपर से बाहर की चिपकाई वस्तु ही रहा, अन्दर से विकसित होने वाला नहीं। बाह्य दृष्टि से पूरी मुक्ति हो नहीं सकी। मनोवैज्ञानिकों की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उपन्यासो के पात्र का व्यवहार किसी बाहरी उत्तेजना (Stimulus) के प्रति आचरणवादी प्रतिक्रिया (behaviour istic response) के रूप होता था। ठीक उसी तरह जिस तरह सरकस के शिक्षित पशु में हंटर के फटकारते ही सिखाई प्रतिक्रियाएँ आप से आप होने लगती हैं या कोई चाबी भरी गुड़िया चाबी देते ही ठीक समय पर बोलने लगती है या आचरण करने लगती है। अतः इनके पात्रों में बुद्धि का विलास विवेक, ज्ञान, बौद्धिकता का दर्शन तो हो गया था पर उन शक्तियों का पता नहीं चलता था जो मानवात्मा की किसी रहःस्थल से रहस्यात्मक रूप से निकलकर हमारे बुद्धि विवेक पर छा जाती है। उन्हें अभिभूत कर उसकी गति को अप्रत्याशित ढग से मोड़

देती है, एक अपरिकल्पनीय पथ का पथिक होने के लिए विवशता उत्पन्न कर देती है। पर इन असंगतियों तथा मनुष्य की रहस्यमयी शक्तियों की ओर उपन्यासकारों का ध्यान जाने लगा और उपन्यास कला के तृतीय युग का प्रारम्भ हुआ।

तृतीय युग में उपन्यासकला आत्मनिष्ठ हो गई

इस तृतीय युग की मुख्य प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब मेरिडिथ और हेनरी जेम्स के उपन्यासों में प्राप्त होता है। प्रथम युग में बाह्य क्रिया कलापों की प्रधानता थी, द्वितीय युग में क्रियाओं के साथ आन्तरिक प्रेरणाएँ भी साथ लगी आईं। समय के साथ मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियों की प्रधानता होती गई और एक वह भी समय आ गया कि उपन्यास कला जो कुछ शेष बाह्यात्मकता थी उससे मुक्त हो अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप (Subjective aspect of experienee) के आधार पर ही अपने स्वरूप का विस्तार करने लगी। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि मनुष्य के अन्तर्जगत में अनेक परस्पर विरोधी, आलोड़न प्रतिलोड़न, घूर्णन प्रतिघूर्णन, तनाव, कसमकस, संघर्ष की रस्साकसी चला करती है और हमारी बाहरी क्रियाएं इन्हीं क्रिया प्रतिक्रियाओं के परिणाम हैं। उपन्यास कला अपने विकास क्रम में बाह्य क्रियाओं के साथ ही आन्तरिक संघर्ष और तनाव तक पहुँच गई थी। अब बाह्य क्रियाओं से सर्वथा मुक्त हो आन्तरिक रहस्यमयी प्रवृत्ति को ही अपनाकर वहाँ जमकर बैठ जाना बड़ी ही सहज क्रिया थी और उसने यही किया भी। उसने एक पद उठाया नहीं कि बाह्य क्रियाओं से सर्वथा मुक्ति पाकर शुद्ध मानसिक जगत की सीमा में आ पहुँची और वह मनुष्य के अचेतन प्रदेश मे प्रवेश करने लगी। बीसवीं शताब्दी के प्रवृद्धमान विभिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों की विद्युज्योति उसके हाथ में थी और उसी के आलोक में वह मानवात्मा के अन्तर प्रदेश में प्रवेश करती ही चली गई और वहाँ की कढ़ाह की तरह उबलती हुई भावनाओं को अपने यहाँ स्थान दिया।

चतुर्थ युग मे उपन्यास कला मानव अन्तस्थल के उन भावों को पकड़ने का प्रयत्न करती है जो शब्दातीत भी हो सकते है।

परन्तु अपने चतुर्थ युग में, आधुनिकतम युग में उपन्यासकला की अतप्र्रयाण प्रवृत्ति जिसने १८वीं शताब्दी में उसे यात्रा के लिए प्रेरणा दी थी उसे और भी आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर रही है। फ्रायड, एडलर, जुङ्ग, बर्गसां, आइन्सटाइन आदि मनीषियों ने मानवात्मा के अन्तर्प्रदेश में भी न जाने कितने स्तरों का आविष्कार किया है और कर रहे हैं। उपन्यास कला शायद चलचित्रों के सिवा अपने क्षेत्र मे सबसे नूतन है। इसमें यौवन का उद्दाम वेग है, और वह अपनी उमङ्ग में आकर किसी भी सङ्कट विपत्ति या भय का सामना करने के लिए तत्पर है। जरा से सकेत पर ही अपरीक्षित अपरिचित तथा नए स्थान में जाकर अपने

को किसी भी सङ्कट पूर्ण परिस्थिति में डालकर परीक्षोत्तीर्ण होने का प्रमाणपत्र पाने के लिए उत्सुक है चाहे इसके लिए उसे कोई भी रूप धारण क्यों न करना पड़े। उपन्यास कला के मनमाने रूप से उछलकूद करने के लिए, किसी भी क्षेत्र में, कहीं भी जाने के लिये इस कारण से भी सुविधा है कि आज तक इस कला के आलोचकों में कोई अरस्तू जैसा तेजः-पुञ्ज नक्षत्र उग नहीं सका है जिसके प्रभामण्डल का तेजोप्रदीप्त आतंक सब पर छा जाय, सबको इस तरह अभिभूत करले कि अन्य ज्योतिर्खंडों को अपनी स्वतन्त्र ज्योति विकीर्ण करने के अवसर के अभाव में उसी की ज्योति अभिवृद्धि में नियोजित होना पड़े, कोई पाणिनि जन्म नहीं ले सके हैं जो अपने सूत्रों में इसे बुरी तरह शृङ्खलित कर दें। एक विचारक के शब्दों में हम उपन्यास लेखकों, थोड़ा बढ़कर कहिये जीवन लेखकों के लिए कितने सौभाग्य की बात है कि किसी ऐसे आधुनिक अरस्तू ने अवतार नहीं लिया जो दृश्य काव्य के प्राचीन लेखकों की तरह उपन्यासों को भी गति को कार्य, समय और स्थान के समक-त्रय के सूत्र से जकड़ कर रख दें।[२] अतः किसी अरस्तू के सिर पर न रहने के कारण उपन्यास कला को परम स्वतन्त्रता रही, उसे विद्वता और पाडित्य के लौह कारागार को तोड़ने में शक्ति का अपव्यय नहीं करना पड़ा। अतः तरह तरह के साहसपूर्ण प्रयोगो, नई नई रूढ़ियों एवं टेकनीक को आजमाने तथा उनकी संभावनाओं के अनुसन्धान करने का सौविध्य प्राप्त हुआ अर्थात् "भावइ नीक करहु तुम सोई" को राह पर चलकर अपनी लक्ष्य सिद्धि मे उसे न्यूनातिन्यून बाधाओं का सामना करना पड़ा। तृतीय युग में हेनरी जेम्स की उपन्यास-कला ने मानव के अचेतन प्रदेश की भावनाओं की अभिव्यक्ति को ही अपना लक्ष्य अवश्य बनाया था पर फिर भी वहाँ की जो प्रतीतात्मक अनुभूतियाँ थी वे ऐसी ही थी जिन्हें शब्दों के जाल मे, भाषा के बन्ध मे लाकर मूर्त किया जा सके, उन्हें प्रेषणीय बनाया जा सके, उनके स्वरूप का कुछ आभास दिया जा सके चाहे इस प्रयत्न में, इन नातिपरिचित भावों के आनुरूप्य प्राप्त करने की साधना में भाषा को अपनी अंतिम बूंद तक ही क्यों न निचुड़ जाना पड़े। परन्तु मानवात्मा की आन्तरिक गहराई में जो प्रतीतात्मक अनुभूतियों की लहरें उठती हैं उनके लिए अनिवार्य नहीं कि वे शाब्दिक ही हों, ऐसी हों कि शब्दों के साँचे में ढाला जा सके अथवा वाणी के सहारे अपनी अभिव्यक्ति को समूर्त किया जा सके। नहीं, वे स्पर्श-संवेद्य, घ्राण-संवेद्य, रसना संवेद्य भी हो सकती हैं। उनके सूक्ष्म जीवन की एक वह भी अवस्था हो सकती है जिसमें वे देश, काल, और गति से मुक्त होकर अपनी शुद्ध सत्ता मे अवस्थित हों। आज के मनोवैज्ञानिक तथा उनसे संकेत पाने वाले उपन्यासकार इसी मानसिक क्षितिज की, अचल तथा जीवन की समीपतम रेखा को पकड़ने के प्रयत्न में है जिन्हें पकड़ पाने के सारे प्रयत्न फीके पड़ते रहे हैं। हेनरी जेम्स के साथ उपन्यास

कला जीवन की कितनी ही गहराई में प्रवेश क्यों न कर गई हो पर चेतन मस्तिष्क (Conscious mind) की अभिश्रयशिक (X Ray) किरणों की पतली रेखा वहाँ पहुँचती ही थी, विवेक का हलका स्पर्श वहाँ पड़ता ही था, जहाँ वह आन्तरिक प्रवाह का चित्रण करती थी वहाँ भी उसे चेतन स्तर पर लाकर ही देखती थी जबकि वे शाब्दिक रूप धारण कर लिए होती थीं। यह नहीं होता था कि उनके शुद्ध रूप को, उन के विकसित होते रहने वाले रूप को वहीं रख कर उनके विकास को ज्यो का त्यो अभिव्यक्त करें। पर आज का औपन्यासिक आगे बढ़ कर उस दिवास्वप्न देखने वाले मस्तिष्क को भी पारिपार्श्विक दृष्टि (Marginal Veiw) को साथ मे रखेगा। उसकी धारणा मे बर्गसा की फिलासफी के कारण महान क्रान्ति हो गई है।

बर्गसों के सिद्धान्तों का उपन्यास-कला पर प्रभाव

बर्गसों का आधारभूत सिद्धान्त है कि सत्ता निरन्तर परिवर्तन शील है। वह आगे बढ़ती रहती है। पर यह परिवर्तनशीलता मृत-जड़ गति नहीं पर चिर सृजनशील, स्वतः स्फूर्त्त जीवनोत्पलव (Elan Vital) है। सत्ता की वह परिवर्त्तनशीलता, उसकी सृजनशील प्रक्रिया का अविराम नैरन्तर्य, सहजानुभूति के द्वारा ही जानी जाती है। बुद्धि के द्वारा नहीं। बुद्धि तो इस चिर प्रवहमान जीवनोत्पलव की स्वाभाविक और अविभाज्य गति को अनेक टुकड़ों में विभक्त कर कुछ व्यावहारिक सुविधाएँ भले ही उत्पन्न कर दे पर न तो वह उसका प्रतिनिधित्व कर सकती है और न उसके यथार्थ रूप का चित्रण ही कर सकती है। ससार के पदार्थों का ज्ञान सापेक्षिक होता है, हम एक वस्तु को अनेक वस्तुओं की अपेक्षा मे ही देखते हैं। अन्य वस्तुओं का हमारा ज्ञान ऊपरी तथा वहिरगस्पर्शी होता है पर सहजानुभूति के द्वारा हम इस काल के चिरन्तन प्रवाह में अपने स्व के बारे में आभ्यन्तर और अगाढ़ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। साधारणतः हमारी बुद्धि यह समझने की अभ्यस्त है कि हमारा व्यक्तित्व बाहरी अलग-अलग विभक्त बिन्दुओं का योगफल है। बुद्धि सत्ता की गति को अनेक बिन्दुओं मे बिभक्त कर देती है और समझती है कि इन्हें जोड़कर गति को बना लेगी पर यह भ्रान्त धारणा है। जीवन तो एक तरल इकाई है (Flvid whole) जिसका प्रत्येक क्षण भूत में प्रलम्बित तथा भविष्य मे प्रोक्षेपित है। किसी वस्तु के ज्ञान तथा उसकी अभिव्यक्ति में सदा पृथकत्व रहता है। इन सिद्धान्तों ने हमारे दृष्टिकोण में एक क्रान्ति पैदा कर दी है। इनको लेकर चलने वाले उपन्यासों मे तो कायाकल्प का ही वातावरण उपस्थित हो गया है। आजकल के उपन्यासों का प्रमाण वाक्य यह है... जीवन व्यवस्थित रूप से सजाई गई दीपमालिका नहीं है। वह तो एक ज्योति मंडल है जो हमारी चेतना को प्रतिक्षण अपने झीने और अर्ध-पारदर्शक आवरण से आच्छादित

किए रहती है। क्या "उपन्यासकारो का यह कर्तव्य नहीं है कि वे इस परिवर्तनशील, अज्ञेय तथा स्वच्छन्द जीवनोच्छ्वास को विशुद्ध रूप में पकड़ें, यथा सम्भव बिना किसी विदेशी और बाहरी वस्तु के मिश्रण के, चाहे उसमें कितनी असंगतियाँ तथा जटिलताओं का समावेश क्यो न हो। भीतर झाक कर देखो! ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन एतादृशत्व (like this) से बहुत दूर की चीज है। एक किसी दिन के किसी भी क्षण को ध्यानपूर्वक देखो, मस्तिष्क पर असख्य संस्कारो की छाप पड़ती रहती है, कुछ क्षुद्र, कुछ असंगत, क्षणिक और बोधातीत और कुछ इतनी स्पष्ट कि मानो इस्पात की सूई की नोक से खोदी हुई हो*।" मस्तिष्क के इसी चिर लघु पर साथ ही चिरजीवी, 'अणोरनीयान्' पर 'महतो महीयान्' क्षण को अपनी कला के जाल में, भाषा के जाल में पकड़कर उसकी गतिशीलता को अभिव्यक्त करना आधुनिक उपन्यास का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की साधना के लिए उपन्यास कला को कितने नाच नाचने पड़े हैं, उसे कितने रूप धारण करने पड़े हैं यह श्रीमती विरजिनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस, मार्शल प्रुस्त, और आन्द्रा जीद् के उपन्यासों के पढ़ने से पता चलता है। आइये सरसरी निगाह से इन लोगों के उपन्यासो की कुछ विशेषताओं को देख लिया जाय। ये विशेषताएं किसी एक उपन्यासकार की नहीं हैं। पृथक-पृथक उनकी उपन्यास कला का विवेचन हमारी परिधि से बाहर है। जो बातें यहां दी जा रही हैं उनके बारे मे यही दावा किया जा सकता है कि ये अपने मूल रूप मे कुछ स्थानीय पारिस्थितिक परिवर्तना की तात्कालिक विवशता के सिवाय सबों में पाई जाती हैं।

आधुनिक रचना मे गाढत्व की अवधि की लघुता

उपन्यास कला की मानव मनोन्तेत्रान्तप्रयाण की प्रगतिशील यात्रा की चर्चा हमने ऊपर की पंक्तियो में की है। इस यात्रा के कारण उपन्यास में नए परिवर्तन हुए। इस दृष्टि से विचार करते समय सर्वप्रथम हमारा ध्यान उनकी रचना की ओर जाता है। यहां रचना शब्द का प्रयोग हमने उस अर्थ मे किया है जिसके लिए अंग्रेजी मे Texture शब्द का प्रयोग किया जाता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का एक यह भी कर्तव्य है कि वह आधुनिक युग के प्रभाव के कारण जटिल से जटिल होते

---

* life is not a series of gig lamps symmetrically arranged ; life is a luminous halo, a semitran sparent envelope swrround us from the beginning of consiousness to the and. Is it not the task of the novelist to convey this varying, this unknown and uncircumscribed spirit, whatever aberration or complexty it may display with as little mixture of the alien and external as possible ?

जाने वाले पात्रो का तथा पाठको का साथ दे सकें, उनके साथ न्याय कर सकें, उनके समानधर्मी हो सकें। दूसरे शब्दो में वे इस रूप में पाठकों के सामने न उपस्थित हो कि वे उसको असमानधर्मी, विदेशी तथा अन्य लोक का प्राणी समझकर उन्हें संदेह की दृष्टि से देखे। इसी समानधर्मित्व को लाने के लिए अरस्तू ने समकत्रय वाले सिद्धान्तो का प्रतिप्रादन किया था। यूरोप के उपन्यासों मे मनोवैज्ञानिकता के सिद्धान्तो के साथ इस समक सिद्धान्त के पालन का आग्रह बढ़ता सा गया है और यह बात द्वितीय युग मे ही स्पष्ट होती गई है। मनोवैज्ञानिकता का प्रवेश तो रिचर्डसन और फील्डिग के समय से ही हो गया था। मनुष्य को सप्राण, सजीव, और सहृदय प्राणी के रूप में देखने की प्रवृत्ति तो उनके साथ ही प्रारम्भ हो गई थी परन्तु उनकी कथा इतनी विस्तृत होती थी कि उनके Texture में घनत्व, प्रगाढ़तत्व के लिए अवसर ही नहीं हो सकता था। उनके चित्र मे घनत्व नहीं हो सकता था, उनके बन्ध में कसावट हो ही नहीं सकती थी। हाँ, उनके चित्रो में (Structure) संपुटित गाढत्व भले ही हो और वह होता भी था। हेनरी फील्डिग के उपन्यासो से बढ़कर कथा भाग के सौष्ठव का चमत्कार देखने को और कहाँ मिल सकता है? पर साथ ही रचना (Texture) का विरलत्व, झीनापन, छिद्रता (यदि इस शब्द के प्रयोग की अनुमति मिले तो) भी इनसे अधिक कहा मिल सकता है! यदि एक छोटे से उपन्यास की सीमा मे एक पूरे युग का अथवा एक मनुष्य के पचास साठ वर्षों के लम्बे जीवन के चित्र का चित्रण करना हो तो उपन्यासकार बहुत सी मनसिक तथा शारिरिक घटनाओं का परित्याग कर कुछ मुख्य मुख्य घटनाओ को ही स्थान देने के लिए बाध्य है, विवश है। पर दूसरी ओर उन उपन्यासो को लीजिए जिनमे कथा की अवधि बहुत ही छोटी है। इन उपन्यासो में घटनाओ के निर्वाचन में उतनी स्वतन्त्रता से काम नहीं लिया जा सकता। इन में छोटी छोटी सी घटनाओं की भी विस्तृत विवृति की विवशता और लाचारी उसी रूप में पाई जाती है जितनी प्रथम वर्ग के उपन्यासों में उन्हे परित्याग करने की। प्रथम वर्ग के उपन्यास पाठक में गाढ़ बन्धत्व, बुनाई का गाढापन, प्रतिभा की सूक्ष्म दर्शिता के भाव नहीं जगा सकेंगे। दूसरे वर्ग के उपन्यासों की श्रेणी में जेम्स ज्वायस, श्रीमती विर्जिनिया वुल्फ आदि के उपन्यास आयेंगे। जेम्स ज्वायस के युलिमिस नामक वृहद् काय उपन्यास में केवल एक व्यक्ति के २४ घंटे की कथा है। विर्जिनिया वुल्फ के उपन्यास मिसेज डालोवाई में केवल तीन घटे की कथा और तो और फिलिप टायनवी के टी विथ मिसेज गुड मेन (Tea with Mrs Good man) में केवल एक घंटे की। हद हो गई कि हेरिस मेकाय के उपन्यास दे शूट होर्सेज (They shoot-horses Don't they) में तो दो तीन मिनट की ही कथा है। एक आदमी को दो तीन मिनट बाद ही प्राणदण्ड की सजा सुनाई जाने वाली है, इसी बीच में जो

स्मृतियों की आंधी उठी है उसे यहां बांधने का प्रयत्न किया गया है। आंधी को बांधने की कथा भी कम रोचक नहीं। इस श्रेणी के उपन्यासकारो को बुद्धिपूर्वक, सावधानी से, सतर्क होकर अपनी कला के सौन्दर्य के अनुरोध पर कथा की अवधि और उसकी तीव्र गति को सीमित करना ही पड़ता है ताकि वास्तविक जीवन के विचार और भावों तथा उनकी अभिव्यक्ति में अधिकतर सामीप्य और अनुरूपता आ सके। 'दस वर्ष के पश्चात्' कह कर अथवा उल्लखित घटनाओं के मध्य में पड़ने वाली अवधि में घटित घटनाओं का ज़रा सा उल्लेख कर कथा क्रम को जोड़ देने की अवश्यकता है ही नहीं। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यास इस मण्डूकप्लुति[५] के पक्ष में नहीं हैं। वे कथा विकास क्रम मे इस तरह के लम्बे लम्बे कुदानो के बदले मे तीव्रगति के सातत्य का प्रदर्शन करना ही आवश्यक समझते है इसके लिए उन्हें कथा भाग की अवधि को भले ही सीमित करना पड़े।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के तीन टेकनीक

परन्तु उपन्यासकार को इस परिस्थिति मे बड़ी ही संकट-पूर्ण समस्या का सामना करना पड़ता है। उपन्यास अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए कथा की माँग करता है, कथा की अन्तर्गामिनी प्रवृत्ति बाह्य क्रिया कलापों के उच्च शिखरों की दृढ़ता को संदेह की दृष्टि से देखकर मूल प्रवृत्तियो की तरलता को ही अपनाना चाहती है और तिस पर पाठक है जो उपन्यास के प्रति अपने सदेह को सहज ही में स्थगित करने (Willing suspension of disbelief)[६] के लिए तैयार नहीं। पाठक उपन्यास के सुरम्य स्थलों में विचरण करते समय हरित शाव्दलों का रसोपभोग तो अवश्य करता है पर सतर्कता पूर्वक उसके कान भी खड़े रहते हैं, जहाँ कहीं भी कुछ खटका हुआ नहीं कि वह भागा। दो स्वामियों की ही सेवा कठिन कही जाती है। यहाँ औपन्यासिक को तीन स्वामियों की सेवा कर उन्हें संतुष्ट रखना पड़ता है। "अहो भारो महान् कवेः!" अतः अपने में इस भार वहन की योग्यता लाने के लिए, परिस्थितियो और उत्तरदायित्व के अनुरुप लचीलापन लाने के लिए उसने कितने टेकनीक, शिल्प विधि का आविष्कार कर लिए हैं। उनमें तीन मुख्य हैं पूर्वदीप्ति (Flash back), चेतना प्रवाह (stream of consciousness), काल क्रम की उलटपलट (Time shift)।

पूर्वदीप्ति : इसमे घटनाओ के अतीत का क्रमिक वर्णन नही रहता परन्तु वे पात्रो की स्मृति से अतीत के अन्धकार को दीप्त करती चलती है। अतः उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता बढ़ जाती है।

पूर्वदीप्ति (Flash back) में भी पात्र के जीवन की घटनाओं का वर्णन रहता है परन्तु अन्य पुरुषात्मक उपन्यासो के सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ उपन्यासकार दिव्यदृष्टि-सम्पन्न संजय की तरह महाभारत के रणक्षेत्र के दृश्यों के क्रमिक उल्लेख की ऋजु और

सीधी रेखा न खींचते हुये यहाँ कथाकार कथा को पात्रों के मस्तिष्क में उठी हुई स्मृति तरङ्गों के रूप में उपस्थित करेगा। महाकाव्य (epic) के नियमों का अनुवर्तन करने वाले १६ वीं शताब्दी की घटना वैचित्र्यपूर्ण कथाएँ हों अथवा नाटकों की तरह कार्य के आदि, मध्य, अवसान के संकेत पर अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने वाले १८ वीं शताब्दी के सुसङ्गठित कथा वाले प्लॉट नॉवेल (plot-novel)—सब में प्रगति की एक सीधी प्रणाली होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उपन्यासकार रूपी इञ्जीनियर ने एक ऐसी नहर बाँध दी हो जो अपनी निश्चित सीमा के भीतर ही उन्हें मार्ग देती हुई अपने रस से कुछ इधर उधर के, पर निर्दिष्ट क्षेत्रों को अभिसिंचित करने की अनुमति देती हो। यदि कहीं धारा सूखने सी लगती तो सारी परिस्थिति की देखरेख करने वाला उपन्यासकार अपने पास सञ्चित टंकी की जल-राशि के कुछ अंश को मुक्त कर उसे जीवन प्रदान करता हो। उपन्यास की कथा, मान लीजिए, एक दो पात्रों को लेकर प्रारम्भ हुई और अपने बल पर कुछ दूर तक चली जाती है। संचित जल-राशि का थोड़ा उन्मुक्त अंश प्रवाहित होकर शेषप्राय होने को आया। तब तक उपन्यासकार ने बड़े कौशल से एक दूसरे पात्र या घटना का सन्निवेश किया। जिसकी प्रेरणा से सूखती हुई धारा आगे बढ़ चली। इसी तरह उपन्यास का प्रवाह नियंत्रित होकर प्रगति करता रहता है। इस तरह की उपन्यासकला एक ऐसे प्रदर्शनी-समारोह की याद दिलाती है जिसमें अनेकों मूक और स्थिर चित्रों की माला को सजा कर रख दिया गया हो। वे हों तो अलग अलग ही पर हाँ, पूर्वापर क्रम देखने पर उनकी पारस्परिकता एक विस्तीर्ण सम्बन्ध का आभास दे सकती है, प्रबन्ध के अनुस्फितार्थ-सम्बद्धता का रूप बनाये रखती है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द जी के 'गबन' का अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक हो सकता है। आप कल्पना कीजिये एक माला को जिसमें सूत के सहारे माला के बहुत से दाने पिरोये रहते हैं। उसमें एक बड़ा दाना होता है जिसे सुमेरु कहते हैं। उसे प्रारम्भिक कह लीजिये या अन्तिम एक ही बात है। यदि इन उपन्यासों को एक माला के रूप में देखें तो ऐसा मालूम होगा कि ये दाने ही दाने दिखलाई पड़ रहे हैं। ऐसा नहीं लगता कि सुमेरू के हृदय से रस का स्रोत बह चला हो।

पर पूर्व दीप्ति (Flash back) पद्धति में उपन्यासकार वर्तमान से सम्बद्ध या उसे सार्थकता प्रदान करने वाली घटनाओं को पात्रों के स्मृति खंडों के रूप में बिखेरता चलता है। ऐसे उपन्यासों में कथा की अवधि छोटी अवश्य होती है पर किसी न किसी रूप में जीवन के बृहदंश की घटनाएं वहाँ स्थान पाती ही हैं। परन्तु अपनी ऐतिहासिकता का परित्याग कर, अतीत का चोला उतारकर वर्तमान का बाना धारण कर सामने आने के कारण उनकी वह खुरदुराहट जो पाठक को खटकती थी बहुत अंशों में दूर हो जाती है। ये घटनाएं इस पद्धति से उपस्थित की जाने के कारण मुख्य

कथाभाग से अलग पड़ी वरन् न रह कर उसी के प्राणों की एक सांस बन जाती है, उसकी अपनी हो जाती है, भवातीय और सधर्मी। वास्तव में देखा जाय तो घटनाओं को इस तरह से सुसज्जित कर देने से उनमें मानवीयता या कहिये मनोविज्ञान का समावेश अधिक हो जाता है। उसमें एक वर्तमानता आ जाती है जो केवल वर्तमान ही नहीं रहती पर उसमें अधिकतर समृद्ध, पुष्ट, और चमत्कृत वर्तमानता होती है। वर्तमान क्षण तो अपने में अति क्षुद्र, अल्प और क्षणिक होता है। पर यदि वह अतीत को अनुप्राणित कर अर्थात् अपनी सांस उसमें फूंक कर उसे सप्राण कर उसके कंधे पर बैठ सके तो वह बहुत ही भव्य और विशालाकृति का दृश्य खड़ा कर सकता है। हमने देवदत्त को देखा और हमें ज्ञान हुआ कि "अयं देवदत्तः"। बाद में दस वर्षों के पश्चात् फिर उसे बनारस में देखा और मुझे ज्ञान हुआ "सोऽयं देवदत्तः"। अरे यह वही देवदत्त है! यह ज्ञान जिसे प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है पूर्व वाले ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण देते हुए कहा गया है "तत्तेन्दतावगाहिनीप्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा"॥ तत्ता (तत्+ता) तथा इदंत्ता (इदम्+ता) को पहिचान कराने वाली प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। तत् का अर्थ है तद्देश और तत्काल अर्थात् पूर्वकाल और पूर्वदेश, अतीत। इदन्ता का अर्थ है एतद्देश और एतत्काल। यह हुआ वर्तमान। अतः प्रत्यभिज्ञा वह है जो पूर्व, अतीत और वर्तमान के सम्बन्ध का ज्ञान कराती है। दूसरे शब्दों में परिचित वस्तु के पुनः दर्शन के समय अतीतान्वित वैशिष्ट्य सहित जो प्रतीति होती है वही प्रत्यभिज्ञा है। कहना नहीं होगा कि यह प्रतीति उस प्रतीति से कहीं भव्यतर है, उच्चतर है, आढ्यतर है जो अतीत की तात्कालिकता में हुई होगी। अतः आज की उपन्यासकला अपनी प्रधान पर लघु और सीमित कथा को इस प्रत्यभिज्ञा समन्वित अतिरिक्तापेक्षत्व को भी साथ साथ दिखला उद्दीप्त कर देने की योजना करती है और मानो कहती है कि मैं या मेरी "कथा गर्द गह या तिनका भले ही हो पर आंधी के साथ जो है"। इसमें झंझा के मत्त झकोरों का उन्माद मिला हुआ जो है। इस दृष्टि से हिन्दी का पाठक "शेखर एक जीवनी" पर विचार करे तो इस पद्धति का महत्व मालूम होगा। शेखर में भी कथा है इसे कौन अस्वीकार करेगा। पर आप कल्पना करें कि वह कथा एक रात के घनीभूत विजन के रूप में देखी न जाकर और प्रत्यभिज्ञा पद्धति पर कहीं न जाकर उसी एक सीधी लकीर पर चलने वाली पद्धति पर कही जाती तो वह कितना न कुछ खो देती। इस पद्धति को आज का औपन्यासिक जाने या अनजाने रूप से अपनाता चला जा रहा है। अंग्रेजी में हेनरी जेम्स, मेरिडिथ आदि की रचनाओं को इस पद्धति का पूर्ण अवलम्ब मिला है। जो हो, आज का उपन्यास समय के उत्पीड़न, स्वेच्छाचार, जुलुम (Tyranny) जिसके निगड़ रज्जु पाश ने उसमें से प्राणों को निकालकर सुन्दर

जापानी मुनुवा बना डाला था उससे आज बहुत कुछ मुक्त है, स्वतंत्र है अथवा यों कहिए कि वह समय के साथ स्वतन्त्रता लेने लग गया है। हिन्दी के एक उपन्यासकार हैं नरोत्तम प्रसाद नागर उन्होंने अपने उपन्यास में दिन के तारे (यही उपन्यास का नाम है) उगा दिए हैं। इसमें भी यदि उपन्यास के कथा भाग की अवधि का उल्लेख नहीं किया गया है पर यह अवश्य है कि यहाँ पर भी उपन्यास का कलेवर इस पूर्व दीप्ति पद्धति (Flash back) के द्वारा पुष्ट हुआ है। शशि शान्ति या आशा को कथा सीधी न प्राप्त होकर, अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा न करती हुई मुख्य कथा की गोद में ही फलती फूलती दिखलाई गई है। अतः खटकती नहीं। उसी तरह जिस तरह मां की गोद में चिपके बालक का पार्थक्य बहुत कुछ माँ के साथ घुल कर तदाकार सा ही दीख पड़ता है। इस स्थान पर नागर जी कहते हैं "अतीत के करघे पर वर्तमान का ताना बाना बुनना शशि को बड़ा अच्छा लगता था और जब वह देखता था कि ताना बाना तनते एक अच्छा खासा पेटर्न तैयार हो गया है जो स्वयं ही उस पर मुग्ध हो रहता। कभी-कभी उसे ऐसा लगता है कि जीवन का अतीत ही उसके लिए वर्तमान हो गया है। वर्तमान को अपनाने के लिए वह दो कदम आगे बढ़ता था तो पचास कदम उसे पीछे हटना पड़ता था।"[७]

अतीत के करघे पर वर्तमान का ताना बाना बुनने वाले या वर्तमान के करघे पर अतीत का ताना बाना बुनने वाले (एक ही बात है) नूतन ढंग के उपन्यासो मे भी अतीत की घटनाओं का कम महत्व नहीं है। कथा की अवधि भले ही छोटी हो, एक घंटे की या एक दिन की, पर इस छोटी सी अवधि का महत्व इसी में है कि वह अपने भूतपूर्व इतिहास की सृष्टि है, उसके वर्तमान रूप के निर्माण में इतने बड़े विशाल अतीत का हाथ है। पात्र का वर्तमान रूप, उसके मनोभाव, प्रतिक्रिया, विचार इच्छा, अनुभूति सब अतीत से सम्बद्ध है। अतः उनसे कोई औपन्यासिक अपना पिण्ड छुड़ा नहीं सकता। उनको तो स्थान देना ही होगा। हाँ, ऐसे उपन्यासों मे वे अतीत की घटनाएँ पहले के उपन्यासों की तरह तिथिवार पुरावृत्त की तरह सजा कर नहीं रखी जायेंगी, वे पात्रों के मन से छन कर आयेंगी। वे वर्तमान होकर आयेंगी। उन का अतीत पन दूर हो जायगा। वे बाहर से चिपकाई चीज न होकर वर्तमान का अंग बन जायगी। और इस ढंग से उपस्थित किए जाने के कारण अर्थात् पात्र उन घटनाओं को जीने वाला न रहकर एक परिवर्तित द्रष्टा हो गया है। एक उसकी प्रत्यभिज्ञा या मानसिक प्रतिक्रिया में निमज्जित होकर आने के कारण काक पिक और बक मराल हो गया है। अतीत वर्तमान से होकर वर्तमान के आलोक मे पीछे मुड़कर देखा गया है। अतीत को अतीत बनाए रख कर उसके अधिकार को अक्षुण्ण रख कर आगे की ओर नहीं देखा गया है जैसा प्राचीन उपन्यासकार करते आ रहे थे

वास्तव मे देखा जाय तो उपन्यास कला की प्रगतिशील मनोवैज्ञानिकता और आत्म-निष्ठता ने घटनाओ को घटनाओं के रूप मे रहने नहीं दिया है। वे तो अब पात्र के मनोवैज्ञानिक चित्र के आधार मात्र रह गई हैं। जो हो, इतना अवश्य है कि जिन उपन्यासकारो ने थोड़ी भी उपन्यास कला की आत्मनिष्ठता, अन्तर्प्रयाण (Inward march) की गति को पहचानी है उनमें वर्तमानता की छोटी लौ को अतीत के क्षेत्र में ले जा कर उसे उद्‌भासित करते रहने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है।

पूर्व दीप्ति पद्धति की त्रुटि, कथा मे असंतुलन : इसका परिमार्जन चेतना प्रवाह पद्धति ने किया

यद्यपि इस पद्धति से उपन्यास कला को बहुत सहायता मिली पर आगे बढ़ने पर, इसकी शक्ति की परीक्षा होने पर इसकी सीमायें भी सामने आईं। यह पता चलने लगा कि जहाँ इस प्रयोग से अनेक सुविधाएं प्राप्त हो सकी वहाँ उसकी त्रुटियां भी दीखने लगीं जिनका परिमार्जन आवश्यक था। इस पद्धति से उपन्यास की समग्रता में अनुपातिकता और संतुलन की स्वरूप-हानि होती थी। दूसरी बात यह है कि इसके द्वारा पाठको के अन्दर अभिनयशील साक्षातता, तात्कालिकता के भाव की अभोत्पत्ति मे बाधा होती थी। कारण कि कथा के एक वृहदंश का चित्रण इस ढग से होता था मानो वे हो गए हैं, वे मूर्त हो, निष्ठा प्रत्यय (क्तक्तवतु) के विषय हो परन्तु प्रधान कथा के होते हुए वर्तमान सत्प्रत्यय (शतृ शानच्) प्रत्ययो के विषयी भूत रूप में रूप मे उपस्थित किया जाता था। इस तरह कथा के दो क्षेत्रो मे पाँव रखने के कारण उसमें थोड़ा असतुलन आ जाना स्वभाविक था।

इस दोष का कुछ-कुछ परिमार्जन चेतनाप्रवाह पद्धति के द्वारा हुआ। पहले हमने जिसे पूर्वदीप्ति (Flash back) पद्धति कहा है उसमे यद्यपि घटनाओ को बाहर से उठाकर मानसिक स्तर पर लाया जा सका, उसमे तीन वस्तुओं तत्ता, इदन्ता के साथ उनके सम्बन्ध ज्ञान या स्मृति के पुट से मानव की अनुचिन्तनशीलता, भाव-प्रवणरूपता (Contemplativeness) अवश्य आई पर अभी तक भी उसके भावप्रवण या अनुचिन्तनशील रूप के साथ उसका सक्रिय, बाह्य, क्रियात्मकरूप (अर्थात् वह रूप जिसमे बाहरी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओ के माध्यम से ही प्रगट होने की प्रवृत्ति होती है, जो उपन्यासों के प्लॉट के चौराहे पर आकर सरे बाजार अपने स्थूल प्रदर्शन का इच्छुक होता है) साथ लगा ही रहा। अरस्तू ने प्लॉट को कार्य की अनुकृति कहा था। बाह्य घटनाओं का विन्यास (Imitation of action; contexture of incidents)[८] कहा था परन्तु इस नई पद्धति के द्वारा सारी घटनाओं को बाह्य संसार से हटाकर मानसिक ससार में बैठा दिया गया। इस कारण उसमें अधिक सूक्ष्मता आई। वे अधिक प्रभावशाली हो उठीं उसी तरह जैसे अंगूर में रखी पानी

की दो चार बूँदे जब खिच जाती हैं तो तलवार हो उठती हैं। इसमें मानवीय चेतना की विवृत्ति, उसकी तरलता, अनुरूपता, किसी रूप रेखा को अपने प्रवेग से मटियामेट कर देने वाली आन्तरिकता तथा प्राणवत्ता के स्वरूप को चित्रित करना उपन्यासकार का ध्येय होता है। यही कारण है कि इस ध्येय को लेकर अग्रसर होने वाले उपन्यासो मे प्लॉट का बंधन छिन्न भिन्न हो जाता है, कारण कार्य की शृंखला से यह नियंत्रित नहीं होता, आदि मध्य और अवसान के नियमों का प्रतिबन्ध इस पर नहीं लगता। ये सब नियम और प्रतिबन्ध हैं और इनका महत्व भी कम नहीं है। पर इनका प्रभाव क्षेत्र वाह्य जगत है, आन्तरिक या चेतना जगत नहीं। जीवन को उसके चैतन्य प्रवाह के टुकड़ों मे विभक्त कर उसे किसी व्यवस्था या प्रणाली में बांधा नही जा सकता। ऐसा करना उसे झुठलाना है, उस के स्वरूप को नष्ट कर देना है। चेतना प्रवाह मे आदि मध्य अवसान बिन्दु नहीं हो सकते, क्रिया सान्त होती है, उसका अन्त निश्चित होता है। एक बार हुई वह समाप्त हो गई चाहे उसके परिणाम दीर्घ व्यापी क्यो न हो। उस पर समय का बन्धन होता है। चूंकि उसका अन्त निश्चित है, उसका आदि तथा मध्य भी निश्चित है। परन्तु हमारे अन्तर्जीवन की चेतना अनुभूति, भाव और आत्मनिष्ठ जीवन और उसके सम्बन्ध साहचर्य (association) के प्रवाह की समाप्ति कहीं नहीं है। ऐसा नहीं होता है कि उनकी अनुभूति हुई और समाप्त हो गई, तरंग उठी, बुलबुले उठे और विलीन हो गए। किसी बाहरी रूप विधान की वश्यता उन्हें स्वीकार नहीं। यदि उन पर किसी बाहरी रूपरेखा का बंधन है तो यह आप का दिया हुआ है। आपने अपनी सुविधा के लिए उन्हें एक ऐसा रूप प्रदान किया है जो उसका अपना नहीं है। प्लॉट, तथा शब्दो का माध्यम भी उसे स्वीकार नहीं, शब्दो के बन्धन को भी वे स्वीकार नही करते। वे अनुभूतियां और भाव शाब्दिक नहीं, वे शाब्दिकेतर (non-verbal) भी हो सकती हैं। वे ऐसी भी हो सकती हैं कि केवल मात्र स्पर्शनी ही हों।

चेतना प्रवाह पद्धति का इतिहास

इस चेतना प्रवाह (Stream of consciousness) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विलियम जेम्स ने किया था। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकॉलोजी (१८९०) मे उसने लिखा था, "मस्तिष्क की प्रत्येक निश्चित मूर्ति उसमें स्वच्छन्दता पूर्वक प्रवाहित होने वाले जल प्रवाह के रंग में डूबी रहती है। इस मूर्ति को सार्थकता और महत्व प्रदान करने वाली वस्तु यही ज्योतिर्वलय या कह लीजिए छायावेष्ठित ज्योति है जो संरक्षक भाव से सदा उसे घेरे रहती है। चेतना अपने समस्त छोटे मोटे टुकड़ों में कट कर उपस्थित नहीं होती, इसमें कहीं जोड़ नहीं, यह प्रवाहमय होती है। इसे हमें

चेतना के विचार का या आत्मनिष्ठ जीवन का प्रवाह ही कहना चाहिए[1]। आलोचना के क्षेत्र में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मिस डॉरिथी रिचर्डसन के उपन्यास (Pointed Roof) पॉइन्टेड रूफ, १९१५ की चर्चा करते समय मिस सिन्क्लेयर ने किया था। इस उपन्यास की नायिका मेरियम हडसन है। कथाकार की ओर से कहीं भी विश्लेषण करने, टीका टिप्पणी करने या व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं हुआ है। मेरियम की चेतना के क्षण एक एक कर अथवा परस्पर सम्मिलित होते हुए बहते चले जा रहे हैं। चेतना के क्षण को खींच कर इतना बढ़ाया गया है कि वे टूटने पर आ गए है, भावो से प्रकपित हो रहे है‥ ‥कोई ड्रामा नहीं, किसी परिस्थिति का चित्रण नहीं, बस जीवन है जो बहता ही चला गया है। मेरियम का चेतना प्रवाह बस आगे प्रवाहित होता गया है। आगे चलकर जेम्स ज्वायस और विर्जीनिया वुल्फ के उपन्यासों मे इस पद्धति के चरम स्वरूप के दर्शन होते हैं।

इन लोगों के उपन्यासों मे जीवन के मानसिक आन्तरिक जीवन प्रवाह के सांवेदनिक इन्द्रिय वेदना संस्कार के विशुद्ध रूप के चित्रण का प्रयत्न हुआ है। उन्हें किसी कल्पनात्मक या बौद्धिक सांचे मे, मोल्ड (Mould) या पेटर्न (Pattern) में बैठा कर देखने का प्रयत्न नहीं है। स्नायु के विशुद्ध प्रकम्पन को ही पाठक के स्नायु की तरंगों में मिला देना है। वस्तु के उस विशुद्ध रूप को उपस्थित करना है जिसमें वह कुछ दूसरी न बन जा कर अपनी विशुद्ध सत्तात्मक रूप में अवस्थित रहती है। परिणाम यह होता है कि कोई समाहारकतत्व रह नहीं जाता। कोई अवधान केन्द्र का प्रतिबंध नहीं रहता, कोई व्यापकत्व नहीं रहता, सबको घेर रखने वाला विजन दूर हो जाता है। अतः पहले की निरावृत, छोटी-छोटी, दुबकी पड़ी रहनेवाली उपान्त भावनाएँ प्रमुख हो उठती हैं। जिन्हें हम पहले असगतियाँ कह कर टाल देते थे चित्र में पड़ी हुई बेकार फालतू निरर्थक धब्बे समझ कर छूते भी नहीं थे वे ही अब प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेते हैं। यदि अंगुली से डोरे में एक ठीकरा बाँधकर नचाइए तो केन्द्र की केन्द्रानुगामी शक्ति उसे सदा अपनी ओर आकर्षित करती रहेगी और वह ठीकरा वृत बनाता हुआ घूमता रहेगा। उसके अन्दर एक सीध में भाग भाग जाने की (Fly off at tangent) प्रेरणा तो बार बार उठती है पर इस पर केन्द्र का नियन्त्रण रहता है और वह अपने वास्तविक

---

[1] Every definite image in the mind is steeped and dyed in the free water that flows round it. The significance, the value of the image is all in this halo or penumbra that surrounds and escorts it..............consciousness does not appear to itself chopped up in bits . . . . . . It is nothing jointed . . it flows . . . . . . Let us call it the stream of thought, of consciousness or of subjective life.

रूप में न प्रकट हो वृत्ताकार रूप धारण करती है जो उसका वास्तविक रूप न होकर विकृत रूप ही है। आज के उपन्यास में इस विकृताकृति की नग्री पर विशुद्धाकृति की माँग बढ़ रही है। इसी माग को पूरी करने के लिए उपन्यासों ने चेतना प्रवाह को अपनाया। हृदय की धड़कन ने, भाव घनत्व के लय-युक्त उत्थान और पतन ने, तार के प्रकम्पन ने उपन्यास मे स्थान पाया। उपन्यास को देखने से एक ऐसे तार की कल्पना हो आती है जिसे छेड़ दिया गया हो और उसी के प्रकम्पन-लहरों के इर्द-गिर्द बालू के कण कुछ अव्यवस्थित रूप से एकत्र हो गए हों। मैंने कहा अव्यवस्थित। पर यह नाप जोख कर चलने वाली बौद्धिक दृष्टि से ही। नहीं तो उनमे अपनी आन्तरिक व्यवस्था तो है ही चाहे वह हमारी आँखों मे भले ही खटके। पर वे तो वहाँ बालू के घनीभूत धब्बे की तरह पड़े हैं, घर तो नहीं बनाते। हमारी बुद्धि को तब तक संतोष कहाँ जब तक वह बालू का घर न बनाले। आज के उपन्यास बालू को बालू ही रहने देंगे। उसे वे थोड़ा एकत्र कर दें पर आगे बढ़ना वे अपने कर्तव्य क्षेत्र से बाहर की बात समझते हैं। इस तरह की प्रवृत्ति को मनोविज्ञान का ही नही आधुनिक भौतिक विज्ञान का भी समर्थन और प्रोत्साहन मिल रहा है। पूर्व का भौतिक विज्ञान द्रव्यों के परिमाणुओं को एक ठोस साकार वस्तु समझता था पर अब उन्हे लहरो की गति के रूप में देखता है। पहले का द्रव्य अब कुछ विद्युत तरंग एलेक्ट्रोन और प्रोटोन का वात्याचक्र बन कर रह गया है। यही विचार धारा है जो आज की उपन्यास कला को चेतना प्रवाह में निमग्न हो जाने के लिए पीठ ठोक रही है। उपन्यास कला ने मानव की आन्तरिक गहराई में प्रवेश करने पर वहाँ चेतना के प्रवाह की उपलब्धि की और इसके रूप में से उसे अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए एक नूतन साधन हाथ लगा। अंग्रेजी के कुछ उपन्यासकारों ने इससे पर्याप्त लाभ उठाया और इसका प्रयोग किया। यह प्रभाव हिन्दी के उपन्यासकारों पर भी पड़ा है। इस दृष्टि से श्री प्रभाकर माचवे का छोटा उपन्यास 'परन्तु' उल्लेखनीय है। प्रारम्भिक पंक्तियों में ही एक प्रोफेसर राजनीति पर व्याख्यान दे रहे हैं। पर उनकी कक्षा के एक विद्यार्थी अविनाश का मन न जाने कहाँ कहाँ उड़ रहा है। अविनाश का अन्तर्मन अपने गाँव मे लौट चला। वे बचपन के दिन ठाकुर···दा के दिन, पुकूर की सीढ़ियों पर चोरी चुपके पढ़ा हुआ बङ्किम बाबू का "कृष्णकातरे बिल", और उसमें नायक नायिका के बेहोश होने पर कैसे होश लाता है······शरत् बाबू के "स्वामी" मे वह फूल तोड़ने का प्रसङ्ग············'सन्यासी उपगुप्त" रवि बाबू की बसन्त सेना···········ही, साहित्य का यह रईसी विलास से भरा जर्जर अङ्ग······ · ···शृंगार और अनन्त यौवना उर्वशी·········।।सैंसर।। कानों मे प्रोफेसर की आवाज की भनक·········"सूटेडन जर्मनी का चेकोस्लोवाकिया में दावा ······"पथ का दावा····· दावेदार नहीं··· ·····दावा···;·····यानि दावानल दहन

करिया विश्व, आमि जहन्नुमेर आगुने बशिया हांशी, पुष्पेर हांशी" पुष्पा ॥ पुनः अंत-चेतना का अबाधित प्रवाह । पुष्पा या शमा ! हेम ? गॉव के बचपन की साथिनें खेल, एकत्र अध्ययन । पुष्पा "शरीर" थी हेम आत्मा...परन्तु वेशभूषा शमा की ही अच्छी थी परन्तु हेम की सावली मुद्रा मे वे रसभीनी आँखों से ढुलक पड़ते मन्त्र मुग्ध कर डालने वाले कामरूप के तांत्रिक का अज्ञात जादू मानो उसमें बसा हो... अब भी स्पष्ट याद है, वह बड़ी-बड़ी आंखो से ढुलक पड़ने वाले आंसू और सच भी तो था, उसकी मा को मुझे इस तरह डांटना क्यो चाहिए था, उसे क्यो न बुरा लगा होगा, क्या मैने कोई पाप किया था ? पाप... ।।सतर्क।। देखें अरविन्द घोष पाप के विषय में क्या कहते हैं ? सामने रखी हुई अरविन्द की पुस्तक पढ़ने लगता है" अज्ञेय के उपन्यास में भी चेतना के अबाधित प्रवाह का रंग कम नहीं है पर यह 'परन्तु' तो चेतना का अबाधित प्रवाह ही है । इस दृष्टि से 'परन्तु' हिन्दी का अकेला उपन्यास है ।

आधुनिक उपन्यास की आत्मनिष्ठता (Subjectivity) *उपन्यासकार अपने उपन्यास का महत्वपूर्ण अंग हो गया है, वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने वाला तटस्थ प्रेक्षक मात्र नहीं ।*

(T. W Beach) महोदय ने अपनी पुस्तक Twentieth Century Novel)[१०] मे वडे ही गभीर और विद्वत्ता पूर्ण रूप में प्रतिपादन किया है कि ज्यों-ज्यों उपन्यासकला का विकास होता गया है त्यों-त्यों उपन्यासकार की छाया उपन्यासों से दूर होती गई । पहले उपन्यासकार पद-पद पर किसी न किसी बहाने, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए, घटनाओं की श्रृंखला जोड़ने के लिए, किसी रहस्य के उद्घाटन करने के लिए उपन्यास के रंग मच पर आता जाता रहता था । पर ज्यो ज्यो उपन्यास कला मे प्रौढ़ता आती गई उसे अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आती गई । वह उसकी उंगली छोड़ कर बाहर आती गई और स्वयं बोलना प्रारम्भ किया । थेकरे के Vanity fair में पाठको के हृदय को सबसे अधिक विक्षुब्ध करने वाली वस्तु है तो यही कि वह समय कुसमय बिना देखे समझे ही Dear readers (प्यारे पाठकों) के सबोधन के द्वारा कुछ कहने लगता है और पाठकों के सोने की कल्पना का संसार चूर चूर हो जाता है, मानो लेखक ने आकर उनको सुखद स्वप्नो के भ्रम से बाहर निकाल वास्तविकता के पथ पर पटक दिया हो । आज भी उपन्यास कला अनेक प्रयोगों के बाद वही कर रही है । आज के भी उपन्यासकार विशेषतः नूतन पद्धतियो (जिनकी चर्चा हो रही है) के पालन करने वाले प्रतिशोध के साथ अपने उपन्यास में प्रवेश करते हैं । परन्तु वह हस्तक्षेप प्रवेश उनकी कला का संश्लिष्ट अंश हो गया है आज का अपनी का अश मात्र हो

नहीं पर एक बहुत ही महत्वपूर्ण अश है। पर सबसे आश्चर्य की बात यह है कि नये उपन्यासकारो का हस्तक्षेप, बार बार सामने आना ही नहीं, परन्तु धरना देकर उपन्यास मे बैठे रहना हमे विशेष खटकता नही। इसका कारण क्या है?

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के सामने सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य का तात्विक, वास्तविक स्वरूप क्या है? वह क्या है? उसके स्वरूप की सीमा क्या है? क्या वह स्वतत्र सत्ता के रूप मे देखा जा सकता है? बाहर से, शेष ससार के अनेक वस्तुओं के सम्पर्क से उसमे जो निरंतर परिवर्तन होता है, उसकी चेतना पर जो आघात होते रहते हैं, उससे अलग कर मानव देखा जा सकता है? यह स्वयं है या नहीं अपने सम्पर्क मे आये अनेकों मनुष्यों के सहयोग से, उनके व्यक्तित्व के टुकड़ों से निर्मित? अतः उनको भी अपने अन्दर समाहित कर उनको भी ढाले चलने वाला व्यक्ति है? जेम्स ज्वायस, तथा विर्जिनिया वुल्फ के उपन्यासों के स्वरूप को देखने से तथा यत्रतत्र उनके प्रगटित विचारो को पढ़ने से इसका स्पष्ट उत्तर मिलता है कि मनुष्य, का कोई भी क्षण उसके अतीत और उसकी अनुभूतियों का पुंजीभूत रूप है। मनुष्य का प्रत्येक क्षण मानों व्यक्ति से कहता है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

इन औपन्यासिकों से ऐसे सैकड़ो नहीं, हजारो ऐसे वचन उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे इस मत का समर्थन होता है।

अन्त मे चलकर यह दृष्टिकोण इस विशुद्ध आत्मनिष्ठता (Pure subjcc-tivily) का रूप धारण कर लेता है कि ससार मे सब कुछ आत्मनिष्ठ (Subjective) है अर्थात् वैसा ही है जैसा हम अनुभव करते हैं। हमारी अनुभूतियों से पृथक वह है ही नहीं। यहाँ पर अनायास ही भारतीय दर्शन के मीमासा की ज्ञातता और नैयायिकों के अनुव्यवसाय का प्राचीन झगड़ा स्मरण हो जाता है। अनुव्यवसाय भी "अय घटः" इसी ज्ञान से उत्पन्न होता है। ज्ञातता का जन्मदाता भी वही है। पर जहाँ ज्ञातता घट मे रहने वाला धर्म है वहाँ अनुव्यवसाय आत्मा मे रहने वाला धर्म है। एक वस्तुनिष्ठ है दूसरा व्यक्तिनिष्ठ या आत्मनिष्ठ। एक का दृष्टिकोण आब्जेक्टिव है और दूसरे का सब्जेक्टिव। आज की औपन्यासिकता नैयायिको के अधिक सन्निकट है। ऐसे दृष्टिकोण के कारण उपन्यास के एक पात्र का दूसरे से, पृथक करना संभव नहीं क्योंकि वह तो दूसरे को जो दीख रहा है उससे तो अलग है ही नहीं, द्रष्टा से दृश्य पृथक कैसे हो सकता है। इतना ही नहीं इसी सूत्र को पकड़ कर आगे चलने पर आप पायेंगे कि उपन्यासकार से भी पात्रों को अलग करना संभव नहीं। उपन्यास जो कुछ है उसकी छाया है प्रतिबिम्ब है भला अपनी छाया को कैसे

तरह लांघ सकता है। भानु प्रभा को, चांद तथा चंद्रिका को कैसे छोड़ सकता है। पहले के उपन्यासों में दो दुनिया साथ साथ लगी चलती थी। एक उपन्यास की दूसरे उपन्यासकार की। उपन्यासकार अलग खड़ा रहता था। आँखें खोल कर बुद्धि पूर्वक उपन्यास में प्रवाहित जीवन लीला को दूर से देखा करता था सारे व्यापार एक विशिष्ट रूप धारण करके उसे दीख पड़ते थे, मनुष्य के आचरण में एक मर्यादा होती थी, सारी घटनायें कारण और कार्य की शृंखला में बंधी दीख पड़ती थी। उपन्यासकार कभी अपनी सब्जेक्टिव दुनियाँ से उपन्यास की आब्जेक्टिव दुनियाँ में आता जाता रहता था। अतः उसका यह आवागमन आँखों को खटकता था। एक देश का प्राणी अगर दूसरे देश में मन माने रूप में प्रवेश करे यह खटकने वाली बात थी भी। परन्तु उपन्यास कला अब मानव की गहराई में बैठ गई है, चेतना प्रवाह पद्धति ने वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों के अन्तर को मिटा दिया है। उपन्यासकार अब दूसरे संसार का प्राणी नहीं रह गया है। उपन्यास उसका अपना संसार है। यदि वह वहाँ बराबर परिभ्रमण करता रहता है तो यह उसका अधिकार ही है। इस प्रसंग में दो आलोचकों के कुछ भाव इतने प्रमुख रूप में संगत है कि यहाँ की उल्लखित बातों के मर्म को स्पष्टता पूर्वक हृदयंगम करने के लिए उन्हें उद्धृत करना ही होगा।

"मैं निवेदन कर ही चुका हूँ कि आत्मनिष्ठता आधुनिक कथा साहित्य की विशिष्टताओं में से एक है। फिल्डिंग और थेकरे अपने वृत्तान्त विवरणों को व्यक्तिगत टिप्पणियों की सूई से सदा सुसज्जित करते रहते थे। परन्तु तिस पर भी उनकी रचनाएं गम्भीर अर्थ में निर्वैयक्तिक ही कही जाती हैं। उनमें कलात्मक नहीं तो एक दार्शनिक तटस्थता अवश्य वर्तमान थी। यही कारण था कि वे इतनी स्वतन्त्रता से अपनी कथाओं में प्रवेश कर सकते थे। और नहीं तो इसीलिए कि उन की स्थिति निश्चित रूप से कथा के बाहर थी और वहीं से वे सारे समारोह का नियन्त्रण करते थे। आज के साहित्यिक जो सौन्दर्य मूलक कारण के आधार पर पाठक के सम्पर्कत्व या निकटवर्तित्व का परित्याग कर देते हैं उनसे अपनी सामग्री की पकड़ उनमें अधिक थी। आज का युग सकुलता और बिखराहट का है और ऐसी अवस्था में तटस्थता और यथार्थता की वस्तुनिष्ठ पकड़ दिन दिन कठिन होती गई है। कलाकार को बाध्य होकर अपनी चेतना की गूढ़ता और रहस्यमयता की ओर झुकना पड़ता है। यही एक वास्तविकता रह जाती है जिसके बारे में वह थोड़ा निश्चित और आश्वस्त हो सकता है। नहीं तो बाहर सभी चीजें अस्तव्यस्त हैं,*[११] छिन्न भिन्न हैं, Confused हैं। उनके बारे में कला-

---

*The subjective approach I have already remarked, is one of the distinguishing signs of the modern fiction Although

कार आश्वस्त होकर कहे भी क्या ? एक ही चीज़ के बारे में वह आश्वस्त है। अपनी अनुभूति का ससार और उसी का ही वह निर्माण करेगा।" ऐसी तरह के विचार एक दूसरे आलोचक ने विर्जिनिया वुल्फ के उपन्यास के बारे मे प्रकट किया है। वे कहते हैं "वर्जिनिया" वुल्फ के पात्रों के संबंध सूत्र अपने स्रष्टा के साथ स्पष्ट है। पात्र उसी की वाणी में बोलते हैं, उसी के ढंग पर सोचते हैं, लेखिका के रूप में जहाँ वह अपने उपन्यास में प्रवेश करती है तो अनधिकार चेष्टा सा नहीं मालूम पड़ता। वहाँ रहने का उसे अधिकार है। उसके उपन्यास ऐसे हैं जिनमे लेखक शामिल रहता है। वह बार बार यह प्रदर्शित करने के लिए प्रयत्नशील दिखलाई पड़ती है कि उसका प्रत्येक पात्र उसे दूसरे देखने वाले पात्रों का प्रोत्क्षेपण मात्र है। जहाँ लेखिका ही देखने वाली भी हो वहाँ उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह सभी पाठकों के सामने अपने अस्तित्व का प्रमाण देती रहे ताकि जब वे पात्रों का मूल्यांकन करे तो उसका भी ध्यान रखें।"*

Felding and Thackercy constantly embroidered their narrative with personal comment, their work is in a deeper sense, highly impersonal. They preserved a philosophical if not an artistic detachment, and could enter their stories so freely if only because they so definitely stood outside them and commanded the show They had a far firmer grasp of their material than most contemparies who, on esthetic ground fastidiously eschew their intimacy with the reader. For in complexity and confusion of the modern word such detachment and such a light hold of objective realily becomes increasingly difficult. The artist is driven back upon the individual consciousness as, with all its intricacies and mystriousness, the most solid reality he can be sure of; and finally he is often driven back upon himself.

*Virgana woolf's character clearly retain their link with their creator, speak with her idiom and think in her manner. Where she enters as author into her novels, it is not felt as an intrusion; she belongs to them of right. Her fiction is of the kind that includes the author. She is consciously at pains to show how each character is a projection of the others who see him; and when the observer is the author, she must offer herself to the view of the reader so that she herself may be taken into account in the estimate of the character.

आधुनिक उपन्यास में स्वगतोक्तिः पहले के उपन्यासों में तानाशाही थी आज भी है। पर वह बाह्य जगत की न होकर आन्तरिक जगत की है।

चेतना-प्रवाह पद्धति का ही प्रभाव है कि आज के उपन्यासों में स्वगतोक्ति पूर्ण हृदयोद्गारों का प्राबल्य हो गया है जिससे (Monologue intereur) कहते हैं। मनुष्य की आन्तरिक भाव पद्धतियाँ बड़ी ही असंगत होती है, क्रमहीन होती हैं और किसी व्यवहारिक आचरण के नियन्त्रण के अभाव में वे यहाँ वहाँ इधर-उधर मुड़-मुड़ जाने वाली, बह बह पड़ने वाली होती है। इस मानसिक प्रक्रिया को उपन्यास के ताने-बाने में बुन देने के लिए यह (Monologue interieur) बहुत उपयोगी होता है। एक भाव या विचार अनेकों असम्बन्ध और असंगत भाव साहचर्य को उपस्थित करता है। एक विचार प्रवाह की धारा के आगे पीछे, अगल-बगल, ऊपर-नीचे अनेक धारायें न जाने कब कहाँ से निकल पड़ेंगी पता नहीं और मानव बुद्धि को चुनौती दे जायेंगी उनको देखकर बालकों की आतिशबाजी को खेलवाली उस छोटी सी डिबिया की याद आ जाती है जो देखने में तो होती है छोटी ही पर दीपश्लाका का स्पर्श पाते ही मानों उनके गर्भ से न जाने कितनी ज्वालमालाएँ उफन पड़ती हैं। हमने बहुत पहले एक खेल देखा था। बाजार में कुछ ऐसे कागज के टुकड़े बिकते थे। शायद वे जापानी थे। वे ऊपरी दृष्टि से तो निर्दोष लगते थे पर न जाने उनमें कौन सी जादू की पुड़िया घुली रहती थी कि पानी में डालते ही वे कितने ही रूप धारण कर लेते थे, हाथी, घोड़े जानवर या कुछ भी। आज कल के उपन्यास भी वैसे ही हैं। उनकी मानसिक धारा कब किधर मुड़ जायेगी पता नहीं। उदाहरण लीजिये। यह वर्जीनिया वुल्फ के जेकब्स रूम नामक उपन्यास की बात है। जेकब फ्लैंडर किसी गिरजे की सम्मिलित प्रार्थना में भाग ले रहे हैं। उन्हें वातायन में जड़े काँच के टुकड़े दिखलाई पड़े। उन्हें एक लालटेन की याद आई। उन्हें याद आया कि वे अपने बचपन में लालटेन के सामने किस तरह कीड़ों को पकड़ा करते थे। और उसके बाद तो स्मृतियों और कल्पनाओं का ज्वार ही आ गया है। इन साहचर्य-स्मृतियो में तो फिर भी कुछ संगति है। जेम्स ज्वायस वगैरह के उपन्यासों में तो वैसी आश्चर्यजनक साहचर्य स्मृतियाँ मिलेंगी कि—डर होने लगता है कि कहीं हम उस युग में तो नहीं लौट रहे हैं जिसमें कथाकार ताली बजाकर कुछ भी करके दिखा सकता था, पैरों के तले खजाने का उद्घाटन कर सकता था, मुर्दों को जिला सकता था, नदी को सुखा दे सकता था, हवा और पानी को बाँध दे सकता था, जिसके एक संकेत पर सौ-सौ दुनियाँ बन सकती थी और बिगड़ सकती थी। उपन्यासकार डिक्टेटर था। आज के भी अति आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार भी डिक्टेटर ही हैं पर बाहरी जगत के नहीं मानसिक जगत

के, उनकी राजधानी और सिहासन बाहर नहीं, आन्तरिक गहराई मे है। अतः उनकी डिक्टेरी का निर्वाह हो जाता है।

मनोविज्ञान के अभाव से घटनाओं के महत्व मे ह्रास

चेतना प्रवाह वाले उपन्यासों में एक और विशेषता दिखलाई पड़ती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकला का ध्येय एक शब्द में कहा जाय तो यह है कि बाह्य वस्तुनिष्ठ ससार के स्थान पर मनोजगत की प्रतिष्ठा करना। यहाँ तक कि बाह्य जगत की स्थिति को ही अस्वीकार कर देना। पर शायद यह असभव है। कहा जा सकता है कि चाहे आप घटनिष्ठ ज्ञातता को माने या देवदत्तनिष्ठ अनुव्यवसाय को, हर हालत मे अयंघटः इस ज्ञान मे घट अर्थात बाह्य वस्तु को सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक चेतना प्रवाह वाले उपन्यासो के अध्ययन से पता चलता है कि वे मानो इस प्रश्न का उत्तर यों देते हो। माना कि वस्तु से हमारा पिड नहीं छूट सकता। पर एक बात तो हो ही सकती है। क्या आवश्यकता है कि मानसिक जगत मे प्रतिक्रिया की अनन्त और अति सशक्त लहर उठा देने के लिए बाह्य वस्तु मे भी उतनी ही गौरव, उतनी ही गुरुता और महत्ता हो! क्या आवश्यकता है कि बाह्य उद्दीपन (Stimulus) और आन्तरिक प्रतिक्रिया (Response) मे सानुपातिक अनुबन्ध हो ही? संभव है कि बाहर की बड़ी ही महत्वपूर्ण घटना हमारे मस्तिष्क की ऊपरी सतह को थोड़ा सा सहला ही कर रह जाय। नैपोलियन की विशाल सेना जेना, आस्टरलीज को रौंदती हुई मास्को में पहुँच जाय पर जीन आस्टिन के कानो पर जूं तक नहीं रेंगे। भारतवर्ष दो टुकड़ो में बँटजाय, बंगाल का अकाल लाखों व्यक्तियों को निगल जाय, देश विभाजन से उत्पन्न साम्प्रदायिकता राजनीति के क्षेत्र मे भूकप पैदा कर दे, बापू को गोलियों का शिकार बना दिया जाय पर अज्ञेय और जैनेन्द्र के कथाकार मे जरा भी स्पंदन न हो। पर महज एक छोटी सी घटना उदाहरणार्थ एक व्यक्ति मेज पर बैठ जाना और मेरी ओर मसिपात्र को थोड़ा सा खिसका देना मेरे हृदय के शान्त सरोवर मे वैसी लहरें उठा सकता है जिनकी ध्वनि और प्रतिध्वनि मेरे जीवन पर्यन्त गूँजती रहे। दुनियाँ के लोग कहते ही रह जॉय कि "कैसे छोटे नग्न तैं सरत बड़न के काम" तब-तक हमारा मनोविज्ञान उपन्यास के पात्रों के मानसिक जगत मे चूहे के चाम से दमामा मढ़कर उसके निनाद से सारे वातावरण को गुन्जित कर दे। वर्जीनिया वुल्फ का (waves) नामक उपन्यास में और कुछ नहीं केवल छः पात्रों की निर्जनोक्तियाँ तथा हृदयोद्गारों का प्रवाह ही है।

मनोविज्ञान के आग्रह के कारण भाषा मे परिवर्तन

चेतना प्रवाह वाले उपन्यास में पात्रों के अन्तर्जगत का जिस रूप के चित्रण का प्रयत्न होता है उसकी अभिव्यक्ति के लिए साधारण भाषा उपयोगी नहीं हो सकती

रूढ़ि या परम्परा के संकेत पर प्रचलित तथा अमर कोष के अर्थ को ढोने वाली भाषा हमारे दैनिक व्यवहार के लिए भले ही उपयोगी हो, मस्तिष्क के सामाजिक स्तर की विवृति के लिए काम की हो क्योंकि उस स्तर के सारे व्यापार और हल-चल शाब्दिक होते हैं। शब्द जाने पहचाने होते हैं, रूढ़ होते हैं, सांकेतिक होते हैं, (Conventional) कन्वेन्शल होते हैं। पर ये शब्द मानव मस्तिष्क के वैयक्तिक स्तर के लिए वर्णन-सक्षम कैसे हो सकते हैं, जिसकी गहराई में भावों की निर्झरणी की निर्बाध और शब्दातीत धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। अतः, ऐसे उपन्यासों की भाषा भी दूसरी ही होनी चाहिए। एक विचारक के शब्दों में There are not words enough in all Shakespeare to express the nearest fraction of a man's experience in an hour[12] अर्थात् शेक्सपीयर के पूरे साहित्य को एकत्र करने पर भी शब्दों की संख्या उतनी नहीं हो सकेगी कि मनुष्य के एक घंटे की अनुभूतियों के लघु अंश को भी ठीक से अभिव्यक्त कर सके? यही कारण है कि इन उपन्यासों की भाषा में साधारण syntax, वाक्य विधान से काम नहीं चलता, भाषा बायीं से दाहिनी ओर एक सीध में नहीं चलती, नये अभिव्यंजक ध्वनि अनुकरणात्मक शब्दों का निर्माण किया जाता है। शब्दों को जहां से चाहे तोड़ दिया जाता है। एक शब्द के एक अंश को दूसरे शब्द के अंश के साथ जोड़कर विचित्र मल्हम तैयार किया जाता है। कभी-कभी शब्दों को विकृत तो नहीं किया जाता पर वाक्यों से, पेराग्राफ से अथवा अध्याय से मिला दिया जाता है जिसमें कोई बौद्धिक साहचर्य तो नहीं मालूम पड़ता पर हमारे भावोन्माद की अवस्था में जो एक सूक्ष्म साहचर्य सूत्र होता है उसे पकड़ने की कोशिश की जाती है। उदाहरण के लिए जेम्स ज्वायस की वर्क इन प्राग्रेस (Work in Progress) नामक पुस्तक से उस वाक्य की ओर संकेत किया जा सकता है जहाँ एक पात्र को सुरा के प्रभाव में आकर बातचीत करने के ढंग को यह कहकर अभिव्यक्त किया गया है कि He was talking alcoherently[13] है। यह alcoherently शब्द कोष में नहीं पाया जा सकता। परन्तु यह alcohol और Coherent इन दोनों शब्दों के अंशों का सम्मिश्रण है जो तत्स्थानीय और तात्कालिक परिस्थिति को अधिक सजीव रूप में अभिव्यक्त करने वाली अभीष्ट-सिद्धि को ध्यान में रख कर गढ़ लिया गया है। उसी पुस्तक में एक स्थान पर मक्खियों की भिनभिनाहट का वर्णन करते हुए कहा गया है कि Flies go Rotandrinking round his scalp[14] इस वाक्य में Rotandrinking शब्द में कुछ भी स्पष्टता नहीं। हाँ, इस के पढ़ने से मदोन्मत मक्खियों का ढुलमुल चित्र उपस्थित अवश्य हो जाता है। पर ज्वायस का उद्देश्य इतना ही भर नहीं है। वह अपने पात्र की अन्तर्चेतना में प्रवेश कर वहाँ की स्थानीय स्मृतियों (Local memories) का

भी चित्रण करना चाहता है। बात यह है कि यह वर्णित पात्र डबलिन का रहने वाला था और जिस अश्व प्रतियोगिता का वर्णन हो रहा है उसका मैदान Rotanda नामक स्थान मे था। अतः एक डबलिन निवासी के लिए अपने परिचित स्थान के साथ बड़ी ही मधुर स्मृतियां गुंथी हुई हैं। इन स्थानो के नामोच्चार में ही उसके लिए एक मधुर सगीत है। पात्र के अचेतन में चिपटी हुई इसी भावना को ज्वायस आपके सामने मूर्तिमान करना चाहता है मानों एक मनोविश्लेषक अपनी उपयुक्त संसूचनाओं द्वारा अचेतन गुत्थियो को चेतन क्षेत्र में लाने का प्रयत्न कर रहा हो।

इस तरह के शब्दो के ऊपर विचार करते समय L. A. G Strong ने जेम्स ज्वायस पर लिखते हुये अपने एक स्वप्न का उल्लेख किया है। एक बार स्वप्न में देखे विज्ञापन के दो शब्द Higgerth Mizzers जागने पर बार बार उन्हें याद आने लगे। पहले तो उन्हे इसका कोई भी स्पष्ट अर्थ नहीं मालूम हो सका पर बाद में कुछ संकेत सूत्रों के आधार पर पता चला कि यह तीन शब्दो Harry, mizles और Mistor तथा इनसे एक साथ लिपट्टी स्मृति का सम्मिश्रण था। पहला नाम एक मुक्केबाज (बाक्सर) का था जिसके खेल वे कभी देखा करते थे, दूसरा नाम एक घोड़े का था जिस पर वे कभी सवारी किया करते थे। इस घोड़े के साथ उनके कुछ भावात्मक संबंध भी थे। दक्षिणी Dartmoor मे सब से ऊँची पहाड़ी का नाम Great Mistor है जिस पर चढ़कर कितनी ही बार उन्होंने अपने जीवन की स्वच्छन्द और सुखमय घड़ियाँ व्यतीत की थीं। उसको कभी-कभी High Mistor भी कहा करते थे। उस स्थान के लोग अपने उच्चारण की विशेषता के कारण Great को Gret कहते थे तथा height में एक और एच (H) जोड़कर (Heighth) के रूप में उच्चारण करते थे। वह घोड़ा एक प्रतियोगिता में सफल हुआ, उस मुक्केबाज का नाम भी अखबारों मे मोटे-मोटे अक्षरों में प्रकाशित हुआ था। इतनी बात जान लेने पर स्थान के विज्ञापन के शब्द Higgerth Mizzers[१५] की बात समझने में कठिनाई नहीं होगी। इस तरह की भाषा के प्रयोग से युलिसिस का अधिकांश भरा पड़ा है जिसके अर्थ का समझना तो कठिन है पर पूरा प्रसंग को पढ़ने के पश्चात एक चित्र स्पष्ट होता अवश्य नजर आता है। Thonthorstrok, Sprizzling, Rhunerhinersles, Polvtizzy boislerovs, Hankinhunkn, Inklesspill, Amboidipotes, Tipperuhry[१६] इस तरह की भाषा का प्रयोग उपन्यास की नवीन वस्तु है। और यह है चेतना प्रवाह का प्रसाद। इस चेतना प्रवाह को तो युलिसिस के अन्तिम भाग में देखिये जहाँ के ४२ पृष्ठों में एक ही वाक्य है बिना किसी तरह विराम या अर्द्ध विराम के मानों कोई बरसाती नदी बड़े बड़े पर्वतों और जंगलों को रौंदती हुई बह गई हो। यह स्वप्नों की

भाषा है—वे स्वप्न जो किसी तरह का बन्ध स्वीकार नहीं करते। जो मुख्यतः सांकेतिक होते हैं। हिन्दी मे किसी साहित्यिक ने चेतना प्रवाह में अपने को इस तरह बहने नहीं दिया है। और यही कारण है कि हिन्दी उपन्यासो मे भाषा इस तरह तोड़ी-मरोड़ी नहीं गई है। हाँ, जैनेन्द्र के उपन्यासो में कहीं-कहीं पर पूरे नाम नहीं दिये गये हैं। अथवा ? अथवा..............ऐसे-ऐसे चिह्नों का प्रयोग अवश्य किया गया है, कभी-कभी उन्होंने समन्दर, मन्दर, इन्ने, बिन्ने, ऐसे ऐसे व्याकरण विरोधी शब्दो का भी प्रयोग किया है। पर जेम्स ज्वायस के ऊँट को निकल जानेवाला पाठक जैनेन्द्र के मच्छर से घबड़ाने वाला थोड़े ही है ? A A. Mendilow ने लिखा है "वे भाषा के ढाँचे को छिन्न-भिन्न कर उसमें सुधार करते हैं। उनकी भाषा मे आवृत्तियाँ होती है, वह वक्र गति से चलती है, अनेक शब्दो के अंशो को जोड़कर एक नूतन शब्द गढ़ लिया जाता है, नये सिक्के प्रचलित किये जाते अपूर्ण प्रसंगो की ओर सकेत मात्र कर दिया जाता है, भावप्रवण शब्दो और उत्तेजक चित्रो की भरमार रहती है, वे हमें निस्तब्ध कर देते हैं सम्मोहित कर देते हैं और आकारिक तर्क की प्रणाली से झकझोर कर निकाल देते हैं। उनका लक्ष्य होता है कि सवेदना को विचार धारा जो हमारी चेतना को आप्लावित कर देती है पाठक उसका अपनी सहज प्रतिभा के द्वारा पुनर्निर्माण करें।........वे सदा वैयक्तिक विशिष्टता पर जोर देते हैं चाहे सामान्यीकृत लोकग्राह्य शब्द प्रतीको के प्रयोग से प्रेषणीयता लाने में जो एक व्यवहारिक सुविधा होती है उसका कुछ अंश मे बलिदान ही क्यों न करना पड़े[17]। मै उसे उपन्यासो के क्षेत्रो मे व्यक्ति की, उसकी आत्मनिष्ठा की, उसके मनो विज्ञान की विजय ही कहूँगा।

मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न स्तरो पर चलती रहनेवाली भाव धाराओं को एक साथ ही चित्रण करने की प्रवृति चेतना प्रवाह पद्धति का एक रूप है

हमें यदा-कदा ऐसे मनुष्य की कथा सुनने को मिलती है जिनका मस्तिष्क सावधान होता है अर्थात् उनका मस्तिष्क इतना तेज होता है कि वे एक ही समय मे

---

17 They explore the possibilities of linguistic illusion to counteract the discontinuity of attention and thought and conventional expression They break and reform the pattern of language with repetitions and ellipses, portmanteau[x] words and new coinages, half-seized allusions, emotive words, evocative images; they stun us, hypnotise us, jolt out of the grooves of the formal logic, and so aim at inducing in us the recreation by the intuition of the queer flux of sensations and perceptions that, without pause, floods our mind.

उदाहरण कोनार्ड के दो उपन्यासों लार्ड जिम (Lord Jim) और चांस (Chance) में पाया जाता है।

लार्ड जिम नामक उपन्यास की कथा संक्षेप में यों हैं। जिम एक जहाज पर काम करने वाला नौ सेना का बहादुर और कर्तव्यनिष्ठ सैनिक है। परिस्थितियों की विवशता के कारण उसे अपने अधिकारियों के सघर्ष में आ जाना पड़ता है। उसे विद्रोही कह कर पकड़ लिया जाता है और एक अपराधी के रूप में उसे न्यायालय की कार्यवाइयों का सामना करना पड़ता है। वह पदच्युत कर दिया जाता है, उसे अनेक प्रकार से अपमान का भाजन होना पड़ता है। पर अन्त मे उसकी कर्मठता, परिश्रम और दृढ़ता सब पर विजय पाती है और वह अपनी खोई हुई पद प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है। यही कथा है। पर इसे प्रकट करने मे कोनार्ड ने अनेक कौशल से काम लिया है जिनका यहाँ उल्लेख करना सभव नही। हम उसी की चर्चा करेंगे जिसका सम्बन्ध उससे है जिसे हम (Chronological Loop holing) अर्थात कथाक्रम की तोड़ मरोड़ कहा है। जिम के विद्रोही और अपराधी प्रमाणित हो जाने पर उसे कहाँ कहाँ और किन-किन अवस्थाओं में काम करना पड़ता है। इसके वर्णन से उपन्यास आरम्भ होता है। उसके बाद कथा मुड़ जाती है और विद्रोह के पूर्व की जिम की जीवनी की कथा कहने लगती है। चौथे अध्याय में हम न्यायालय का दृश्य देखते हैं जहाँ पर विद्रोह के मामले की जाँच हो रही है। यहीं पर मारलो नामक एक व्यक्ति से पाठकों का परिचय होता है। उसके बाद मारलो के मुख से विद्रोहियों की उस समय की वाह्य मुखाकृति का वर्णन पढ़ते हैं जिस समय वे प्रथम विचारार्थ न्यायालय के सामने उपस्थित हुवे थे। साथ ही साथ एक जर्मन पोताध्यक्ष से उस झड़प का वर्णन है जो नौ यात्रा के प्रारम्भ होने के पूर्व हो गई थी। बाद में हम न्यायालय की दृष्टि के सामने उपस्थित होते हैं और न्यायालय की आत्म हत्या की ओर उत्सुकता से देखने लगते हैं। तब एकाएक एकाविक अध्यायों में जिम मारलो से पोत विद्रोह की कथा कहते हैं। यहीं पर उस फ्रांसीसी लेफ्टीनेन्ट के वार्तालाप की कथा है जो उसके और मारलो के बीच हुई थी[१८]......आगे की रूप रेखा देने की आवश्यकता नही। J. W. Beach महोदय ने जिनके आधार पर लार्ड जिम की रूप रेखा यहाँ पर दी गई है उस उपन्यास का एक ग्राफ बनाते हुये कहा कि यदि कथा के स्वाभाविक विकास के क्रम को हम यों मानें A B C D E F G H I J K L M N O P Q R S T U V W X Y Z. तो इस पुस्तक के अध्यायों के आधार पर वह ग्राफ यो होगा K L M P, W A, E, B, E, A. G, D, HJ, FE, E, F, F, F, F K, I, I, R, I, K. L. MN, NQ, QPO, OP, P,QP, P, P, P, Q, P, P, P, Q, P, Q, R,ZV, VX, S, S, S, TY, V, U, U, WXY.[१९]

यदि कोनार्ड के अन्य दो उपन्यास चांस और नास्ट्रमो को देखा जाय तो उनकी कथा का विकास चित्र इसी गड्ड-मगड्ड रूप मे उपस्थित होगा। इसी तरह का और उपन्यास अभी हाथ में स्टेफेन हडसन ने लिखा है जिसका नाम है Saga of Richard kurt।

इस तरह के उपन्यासों मे अतीत की अपरिवर्तनीय दृढ़, स्थिर और निर्जीव सत्ता स्वीकार नहीं की जाती। समय के प्रवाह से अलग कटे पड़े हुए पत्थल के रूप में अतीत को नहीं देखा जाता। अतीत है ही नही। जो कुछ है वह प्रवृद्धमान वर्तमान है जो पूर्वापर सब जगह सब ओर छाया हुआ है। इस मे घटनाओ को इस रूप मे उपस्थित करने की अवश्यकता नहीं जो वर्तमान और अतीत की पार्थक्य भावना को दृढ़ करता रहे। ऊपर हमने वर्तमान के ताने बाने पर अतीत के पट को बुनने वाले उपन्यासकारों की चर्चा की है। यद्यपि उन्होंने प्रयत्न किया कि दोनो का पार्थक्य मिटे पर उन्हें सफलता मिली नहीं थी। उनमें भूत और वर्तमान का सम्मेलन जतुकाष्ठ न्याय[२०] को याद दिलाता था, एक "वृन्तगतफलद्वय" न्याय की भावना नहीं जागृत करता जैसा कि कोनार्ड के ये उपन्यास करते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जीवन के जिस सत् की सिद्धि के लिए जेम्स ज्वायस, विर्जिनीया वुल्फ इत्यादि औपन्यासिकों ने सतह के नीचे जाकर एकान्त साधना की उसी अभीष्ट की उपलब्धि मे केनार्ड ने भी अपने औपन्यासिक चितवृत्ति को नियोजित किया है पर इसके लिए उन्होंने पाताल मे जाने की आवश्यकता नहीं समझी, उनके पैर इस बाह्य रणक्षेत्र में ही जमे रहे। उन्होंने बाह्य निष्ठता (आब्जेटिविटी) को ही इस तरह प्रेरित किया, इतना खींचा कि वह आत्मनिष्ठता, (सब्जेक्टरीविटी) की सीमा से आ लगी। अब्जेक्टिव सब्जेक्टिव हो गया। जेम्स ज्वायस की पद्धति दूसरी थी। वे सब्जेक्टिव को ही अब्जेक्टिव बनाकर पेश करना चाहते थे। कोनार्ड के उपन्यासो में जिस तरह कथा का स्वरूप टेढ़े-मेंढ़े मार्गों से चलकर उपस्थित होता है उसे पढ़कर चित्रनिर्माण-निरत एक चित्रकार की कल्पना जागृत हो जाती है। कोनार्ड एक चित्रकार है। वह एक कथा चित्र की सृष्टि कर रहा है। पाठक उसकी निर्माण-क्रिया को देख रहा है। कान्वास पर रंग की तूलिका कभी यहाँ चल जाती है, कभी वहाँ, कभी इधर, कभी उधर। उस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं। उस पर इसका बंधन नहीं कि पहले सिर बने, बाद मे पीठ, तब पैर। नहीं, कभी भी कोई अंग बन जा सकता है। यदि उस पर प्रतिबन्ध है तो अपनी मधुर इच्छा और प्रेरणा का। इसी तरह सारा चित्र तैयार हो जाता है।

आधुनिक युग में मनोविज्ञान के प्रवेश के कारण उपन्यासो की काया में जो परिवर्तन उपस्थित हुये है और उनमे नये-नये प्रयोग हुये है उसकी झलक मात्र देने का यहाँ प्रयत्न किया गया है। इसके पूर्ण विवरण के लिए अधिक समय, स्थान, अध्ययन

की आवश्यकता है। हिन्दी मे अभी तक इस तरह के प्रयोग नहीं हुये हैं। केवल अज्ञेय ने थोड़ा बहुत प्रयत्न इस ओर किया है।

पाद टिप्पणियाँ

१ Preface, The Revolt of Islam.

२. Contemporary schools of Psychology by R, woodworth 8th edition 1949 P. 13.

३. H. Lawrence : The contemplative man Vol I P. 213-214, 1770.

४. Common Reader by Virginia woulf, P. 149 Pelicon Books 1934.

५. मेंढक जब एक स्थान से कूद कर दूसरे स्थान पर जाता है तो बीच की चीज को एक दम साथ नहीं लेता, परन्तु तीर चलता तो सब स्थानों को स्पर्श करता हुआ चलता है।

६. Litereria Biographia by Coleridge से उद्धृत।

७. दिन के तारे प्रथम संस्करण पृ० १६४।

८. Poetics, part II parg 2.

९. An assessment of Twentieth Century literature by J. Issac P 88 से उद्धृत.

१०. Twentieth century Novel by J. W, Beach P. 14,

११. Modren Fiction by Muller, Funk and wagnails co. New York and London P. 191.

१२. R. L. Stevenson, Essay on Walt, Whitmen in familiar studies in Man and Books 1882.

१३. J. W. Beach, Twentieth century Novel 1942, P. 524

१४. English Novelist, A chapter on James Joyce by I. A strong of से उद्धृत. १५ वही. १६. वही

१७. Time and Novel by A. A Mendilow, Piter Novill, P. 153.

१८ J, W. Beach, Twentieth century Novel P. 361.

१९ वही।

चतुर्दश परिच्छेद

उपसंहार

हिन्दी साहित्य में मनोवैज्ञानिकता का प्रारंभ :

हम अब अपनी अनुसंधान-यात्रा के अंतिम पड़ाव पर पहुँच रहे हैं। हम इस मतलब से निकले थे कि हिन्दी आधुनिक उपन्यास साहित्य में मनोवैज्ञानिकता के पद-चिह्नों को ढूँढ़ें और देखें कि इसने यहाँ अपने लिये कैसा स्थान बना लिया है, इस क्षेत्र को इसने कहाँ तक प्रभावित किया है और इसे वस्तु तथा वस्तु-विन्यास की दृष्टि से कहाँ तक समृद्ध किया है? यों तो साहित्य में मनोवैज्ञानिकता का पुट रहता ही है परन्तु हिन्दी में भक्तिकाल के प्रारंभ से हम मनोवैज्ञानिकता की झलक स्पष्ट पाते हैं। सूर और तुलसी के काव्य में अनेकों स्थल हैं जहाँ मनोवैज्ञानिकता का निर्देशन और चमत्कार इतना स्पष्ट है कि ऐसा मालूम पड़ता है कि वे जीवन के गहनतम अनुभव और निरीक्षण के आधार पर उसी भूमि पर पहुँच गये थे जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान अथवा उससे प्रभावित साहित्य पहुँचता है। मथरा और कैकयी के अकाण्ड ताण्डवों को हम अचेतन में दमित भावनाओं के विस्फोटात्मक रूप में समझ सकते हैं। सूर का साहित्य तो मानों मनोविज्ञान का सागर ही है। आलोचकों ने कहा है कि शृङ्गार का रसराजत्व को दृढ़ आधार पर यदि किसी ने स्थापित किया तो सूर ने। विरह की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं वे सूर के भ्रमर-गीत में वर्त्तमान हैं। इसी को हम आधुनिक भाषा में कहेंगे कि सूर ने अपनी बंद आखों से मानव-हृदय के गूढ़ रहस्यों को अच्छी तरह से देखा है और उसकी सूक्ष्मता को बड़ी बारीकी से पकड़ा है। हमें तो आश्चर्यमय प्रसादन हुए बिना नहीं रहता जब हम देखते हैं कि सूर का मनोवैज्ञानिक संधान कहीं-कहीं तो फ्रायडियन मनोविज्ञान की याद दिला देता है। गोपियाँ ब्रज की गलियों में दही बेच रही हैं। दही बेचने के समय लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिये 'ले दही, ले दही' की आवाज लगानी पड़ती है। पर गोपियाँ यह आवाज लगाना भूल जाती हैं और 'ले कृष्ण, ले कृष्ण' की रट लगाने लगती हैं[1]। इस प्रसंग को आप फ्रायड द्वारा निर्धारित उन विचारों को पढ़िये जिन्हें उसने जीभ की फिसलन, स्लिप्स ऑफ टंग (slips of tongue) या छोटी-मोटी दैनिक भूलों के मनोविज्ञान के बारे में अभिव्यक्त किया है। आप पायेंगे कि सूर में उन्हीं विचारों का व्यवहारिक रूप चित्रित है। पर आगे के साहित्यिकों के द्वारा यह मनोवैज्ञानिक परम्परा विकसित नहीं हो सकी और उनकी दृष्टि शब्द-जाल में या मानव-मन के ऊपरी सतह को टटोलती रह गई।

आधुनिक युग में प्रेमचंद के आविर्भाव के साथ पुनः मनोविज्ञान का प्रवेश हिन्दी साहित्य में प्रारम्भ हुआ और तब से आज तक इसकी धारा निश्चित रूप से विकसित होती चली जा रही है। तृतीय परिच्छेद में हमने देखा कि प्रेमचंद जी के आगमन के साथ ही अन्य गुणों के साथ उपन्यास-साहित्य में मनोवैज्ञानिक प्रवृति का विकास प्रारम्भ हो गया है और उसके कलेवर में इसके कारण कितने ही परिवर्तन हुए हैं। इसमें एक ओर संगठन की, तो दूसरी ओर लचीलेपन की वृद्धि हुई है। मानव-जीवन ही प्रेमचन्द के उपन्यासों की आधार-शिला रहा। अतः मनोविज्ञान के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों का वहाँ समावेश हो सका। जैनेन्द्र को हम गेस्टाल्टवादियों के समीप पाते हैं। "जहाँ तक मनोवैज्ञानिकता की बारीकी का प्रश्न है वहाँ जैनेन्द्र जी रवीन्द्र-नाथ को भी पीछे छोड़ गये हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिकता के केवल कुछ विशेष-विशेष पहलुओं को ही लिया है और बारीकियों को वह छोड़ते चले गये हैं। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ के पात्र उतने जटिल हैं भी नहीं जितने जैनेन्द्र जी के।"[2] इलाचन्द्र और अज्ञेय को हम मनोविश्लेषण से प्रभावित पाते हैं या यह कहा जाय कि उनके उपन्यासों में इसकी प्रवृत्ति पाई जाती है। यशपाल में यद्यपि मनोविश्लेषण का गहरा पुट है पर चूँकि उनके पात्रों पर बाह्य वातावरण का प्रभाव अधिक है, उनके व्यक्तित्व का निर्माण अन्दर से उभारने वाली अचेतन प्रेरणाओं से अधिक बाहर की परिस्थितियों, विशेषतः आर्थिक, से होता है। अतः हम कहना ही चाहें तो उन्हें आचरणवादी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कह सकते हैं।

परन्तु अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए हमने विषय-प्रवेश शीर्षक प्रथम परिच्छेद में निवेदन किया है कि भिन्न-भिन्न आधुनिक मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों के प्रभाव को समाहित करने वाले उपन्यासों को तो मनोवैज्ञानिक कहेंगे ही पर इनके अतिरिक्त अनुभूति के आत्मनिष्ठ (subjective aspect) रूप को प्रदर्शित करनेवाले उपन्यास भी मनोवैज्ञानिक ही कहे जायेंगे। कविता में "सबजैक्टिव" शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है उससे थोड़े भिन्न अर्थ में यहाँ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। "सबजेक्टिव" या आत्मनिष्ठ उपन्यास से हमारा मतलब उन उपन्यासों से है जिनमें पात्रों के मस्तिष्क की प्रक्रिया, उनकी अवस्थाओं के प्रगटीकरण तथा स्पष्टीकरण की विशेष प्रवृत्ति है, दृढ़ आग्रह है। दास्तावेस्की को अथवा हिन्दी में अज्ञेय के, इलाचन्द जोशी के उपन्यासों को हम सबजेक्टिव आत्मनिष्ठ अतः मनोवैज्ञानिक कहेंगे क्योंकि उनका ध्येय पात्रों की क्रियाओं का वर्णन नहीं परन्तु उनकी मूल प्रवृत्तियों का वर्णन है। हमारे पूर्व के अन्य परिच्छेदों के निवेदन से पता चलेगा कि हिन्दी उपन्यास साहित्य ने इस ओर कितनी प्रगति की है। एक छोर पर प्रेमचंद के पूर्व के औपन्यासिकों को रखिये और प्रेमचन्द से प्रारम्भ कर दूसरे छोर पर अज्ञेय को रखिये तो स्पष्ट हो जायेगा कि हिन्दी उपन्यास ने मानव-मन की

कितनी भूमि को आच्छादित किया, कितनी लम्बी मंजिल पार की है।

मनोवैज्ञानिकता, यथार्थवादी दृष्टिकोण का एक रूप

वर्त्तमान युग निराशावाद (Pessimism) तथा यथार्थवाद (Realism) का है। यह बात हिन्दी से अधिक आंग्ल साहित्य के लिये लागू है और चूँकि हिन्दी उपन्यास अंग्रेजी उपन्यासों से ही प्रभावित हैं अतः हिन्दी के लिये भी यही बात सत्य है। वास्तव में देखा जाय तो उपन्यास या साहित्य के किसी भाग में मनोविज्ञान का आग्रह उसी दृष्टिकोण का एक रूप है जिसे यथार्थवाद कहा जाता है और जो १९वीं शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति की विजय-घोषणा थी।

१९वीं शताब्दी के परार्द्ध दशकों में भौतिक विज्ञान ने प्रकृति के रहस्यों का मर्म समझने और उस पर विजय प्राप्त करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की। प्रकृति पर उसका नियंत्रण इतना अप्रतिरोध्य सा दीख पड़ने लगा कि हम समझने लगे कि हम अपनी इच्छानुसार जब चाहे जैसी सेवा में उसे नियुक्त कर सकते है। यह तो हुआ ही, पर सबसे बड़ी जो बात हुई वह यह कि लोगों की विचारधारा तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण में महान क्रान्ति हुई। हमारी जीवन सम्बन्धी परिभाषा ही बदल गई। विज्ञान की सारी बातें प्रत्यक्ष होती हैं, उसके जितने सिद्धान्त हैं वे अकाट्य ऐन्द्रिय साधनोपलब्ध प्रमाणों की आधार-शिला पर स्थापित होते हैं। अतः उनमें सहज विश्वासोत्पादकता होती है। पूर्वकाल की दार्शनिक रहस्यमयता को, उससे आच्छादित धुँधलापन से भरे अनिर्दिष्ट ज्ञानातीत बातों को विज्ञान अवहेलना की दृष्टि से देखता है। उसकी दृष्टि "इदमित्थं" प्रधान है। इस विज्ञान के युग के प्रभाव के कारण हमारी विचारधारा भी वैज्ञानिक हो गई। हमारे विचारों के आदर्श बदल गये और हमारे मन में यह धारणा बद्धमूल हो गई कि चाक्षुष, स्पार्श, कार्ण, और बौद्धिक प्रतीति की सीमा में आनेवाली प्रतीतियाँ ही सत्य हैं और इनसे परे जो कुछ भी है वह संदेहास्पद है, उनकी सत्यता पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक विपत्तियों, दुखों और निराशाओं से पूर्ण इस असार संसार को भी एक इन्द्रियातीत बोधातीत और सर्वव्यापकत्व के सहारे सह्य बना लेने में समर्थ होने वाली श्रद्धा और विश्वास-आस्था-भावना का सर्वथा लोप हो गया और हम इस ससार की प्रत्येक तरङ्ग पर उठने गिरने तथा विनष्ट हो जाने वाली नाविक-हीन, पतवार-हीन नौके की तरह छोड़ दिये गये। थोड़ी सी श्रद्धा और आस्था थी जिसको लेकर जीवन की वेदनाओं को हम ललकारते रहते थे वह भी हमारे हाथ से छिन गई। वह व्यापकत्व जो अपनी व्यापकता और असीमता में हमारे ऐहिक मरणशील जीवन धर्म को सार्थकता, अमरता और आनन्द से सौंदर्य मण्डित करता था वह सदा के लिए लुप्त हो गया और मनुष्य के हाथ में आई दे

वस्तुएँ, निराशावाद और यथार्थवाद। निराशा का कारण यही कि विज्ञान की प्रगतिशील ज्ञान-राशि ने इस बात का ज्ञान कराया कि इस विस्तृत विश्वमण्डल में मानव कितना तुच्छातितुच्छ प्राणी है, नगण्य और अवहेलनीय है। मानव और मानव-जीवन सृष्टि की सर्वोत्तम कृति न रह कर सृष्टि-क्रम में प्राकृतिक नियमों के द्वारा उत्पन्न यों ही सा अर्थहीन पदार्थ (Bye-product) रह गया। यथार्थवादिता का कारण यह कि विज्ञान ने हमें प्रयोगशाला की पद्धति से परिचित कराया जो प्रत्येक वस्तु की यथार्थता आँखों से देखकर, कानों से सुनकर, त्वचा से स्पर्श कर ही स्वीकार करने की अभ्यासिनी है। दूसरे शब्दों में निराशावाद जीवन सम्बन्धी आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओं, सिद्धान्तों, जीवन को अध्यात्म के मेरु शिखर की उत्तुंग सुरक्षित प्रतिष्ठा से उतार जमीन की सतह पर लाकर रख देने वाली विचार-धारा का परिणाम है और यथार्थवाद उस विश्लेषण काँट-छाँट सूक्ष्म छान-बीन और अनुसंधान की प्रवृत्ति का परिणाम है जिसे हमें विज्ञान ने सिखाया है। अनन्त की चक्करदार प्रगति में मानव ज्यों-ज्यों लघु से लघुतर होता गया, छोटा होता गया, अकेला पड़ता गया, जीवन की सार्थकता और महत्ता के भाव कम होते गये त्यों-त्यों जीवन का निराशामय चित्र उनके सामने उगता गया और वे साक्षात् वास्तविकता की ओर झुकते गये क्योंकि वही उनकी ठोस पकड़ में आ सकती थी। इधर आस्था विश्वास के भाव हटे, उधर यथार्थ के प्रति आग्रह के साथ जगे।

उपन्यास की व्याख्यात्मकता

आजकल प्रत्येक विषय में विशेषतः कथा साहित्य के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिकता के समावेश की तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययनों की प्रथा सी चल पड़ी है। प्रत्येक साहित्य स्रष्टा और कलाकार में मानव मन की रहस्यमय व्यापार प्रक्रिया तथा उसकी जटिलता के प्रति दिलचस्पी, मोह, आसक्ति, और लगन अत्यधिक मात्रा में जाग्रत है। कोई भी साहित्य-स्रष्टा नहीं जो अपनी कृति में मनोवैज्ञानिक सच्चाई का दावा उपस्थित नहीं करता हो। मनोविज्ञान पहिले तो दर्शनशास्त्र का अंग होकर रहा, उसका पृथक अस्तित्व ही स्वीकृत नहीं था। १६वीं शताब्दी में वह शरीर विज्ञान (Physiology) की गोद में फूला-फला और आज वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा करता हुआ जीवन के प्रत्येक पहलू पर छा जाना चाहता है। पर वास्तव में देखा जाय तो यह मनोवैज्ञानिकता उसी यथार्थवाद का विशिष्ट रूप है जिसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। हम साहित्य में अधिक से अधिक जीवन की सच्चाई और अनुरूपता देखना चाहते हैं। उसे कारण कार्य की शृंखला में गुंथित देखना चाहते हैं और चाहते हैं कि उसमें कोई भी ऐसी चीज न आने पाये जो हमारी बौद्धिक प्रतीति को खटके। मनोवैज्ञानिकता की प्रवृत्ति यथार्थवाद के प्रति अनुराग या भक्ति का ही एक रूप है—यह भक्ति अन्तर्मुखी भले ही हो।

मनुष्य के व्यवहार तथा आचरण के मूल प्रेरक तल को झाँक कर देखने की प्रवृत्ति कोई नई वस्तु नहीं। चेतना के उदय के साथ ही कदाचित मानव आचरण के मूल स्रोत के देखने की चेष्टा करता आया है—परन्तु जिस तरह निर्मल और स्वच्छ जल की धार में नदी का तल साफ दृष्टिगोचर हो जाता है, उसी तरह प्राचीन काल में मानव के व्यक्तित्व की धारा कुछ ऐसी शान्त स्थिर स्वच्छ गति से प्रवाहित होती थी कि उसके मूल स्रोत को देखना कठिन नहीं था। ग्रीक यूनान के शास्त्रीय (Classical) नाटकों, आख्यानों में, शेक्सपियर के नाटकों में, संस्कृत के कथात्मक गद्य काव्य कथा चम्पू आख्यायिका तथा नाटकों में पात्रों की मूल प्रेरक शक्तियाँ स्पष्ट दीख पड़ती थीं। उनमें किसी तरह के मतभेद का स्थान नहीं था। सब भाव जाने पहिचाने तथा चिर-परिचित थे। पानी स्थिर था, तल साफ दीख जाता था। हमारी प्रेरक शक्तियाँ (inspiring force) सामाजीकृत होती थीं। उनके विषय में साहित्य स्रष्टा, पाठक अथवा श्रोतृवर्ग और कवि-निबद्ध-पात्रों में किसी तरह का असामंजस्य नहीं था। वे सब जानते थे कि अमुक व्यक्ति के क्रिया-कलापों की मूल प्रवृत्ति की प्रेरणा यही है, उनके राम और रावण दोनों अपने-अपने ढंग पर एक स्थिर मर्यादा के भीतर ही आचरण या क्रियाशील हो सकते थे। यही कारण था कि जिसे हम आधुनिक औपन्यासिक युग कहते हैं उसके पूर्व की कथा साहित्य में कथक्कड़ी प्रवृत्ति की प्रधानता थी, किस्सा-गोई का बोलबाला था। कथाकार एक किस्सागो (narrator) मात्र से अधिक-कुछ नहीं था, और वह अपने पात्रों के अद्‌भुत क्रिया-कलापों, असाधारण सिद्धियों तथा आश्चर्योत्पादक वृत्तान्तों के वर्णन से संतोष कर लेता था क्योंकि वह जानता था कि उसके वर्णित वृत्तान्तों की धारा निर्मल है, इतनी साफ है, इतना पारदर्शी है कि निरायास ही बुद्धि की किरणें वहाँ प्रविष्ठ हो सकेंगी और उसके रहस्योद्‌घाटन में किंचित् भी कठिनाई नहीं होगी। अतः क्या आवश्यकता है कि मनुष्य की चेतना को चीर-फाड़ कर देखा जाय, व्याख्या की जाय, अज्ञात प्रदेश के अनुसंधान को ओर प्रवृत्त हुआ जाय। नई दुनिया के अस्तित्व के चिन्ह मिले तब उसकी खोज में औपन्यासिक कोलम्बस अपने प्राणों को हथेली पर लेकर आगे बढ़े। उसके पूर्व इस व्याख्या, विश्लेषण, चार्ट और कम्पास को लेकर कहाँ जाया जाय। इंगलैंड और फ्रांस में भी बहुत हाल तक कथा साहित्य की यही अवस्था रही। हिन्दी में इस युग तक जिसे हम प्रेमचन्द युग कह सकते हैं और जिसकी छाप आज भी किसी न किसी रूप में चल रही है। हाँ, इतना अवश्य था कि फिलिडिङ्ग थैकरे, डिकेंस तथा प्रेमचद और प्रसाद के पात्रों के व्यक्तित्व की धारा में कभी-कभी हिलोर उठती थी और उसकी ऊपरी सतह एक क्षण के लिये विक्षुब्ध हो जाती थी पर शीघ्र ही उसमें स्थिरता आ जाती थी। सुमन, सूरदास या होरी को देखकर कभी कभी पाठक एक क्षण चौंके सही पर उनको पहिचान लेना कठिन न था।

परन्तु दर्शन और शरीर विज्ञान के सीमा-बन्धन को तोड़कर जब, मनोविज्ञान ने अपने यौवन की उद्दामता मे मानव व्यक्ति के ताल में प्रवेश किया तो नीचे से लेकर ऊपर तक हिलोर उठ आई और पानी गदला उठा और इस पंकिलता के कारण मूल तत्व को देखना सम्भव नहीं रह गया। अतः बीसवीं सदी के औपन्यासिकों की शक्ति और ध्यान इस कर्दमता और पंकिलता को दूर करने की ओर केन्द्रित हो गया ताकि पाठक की दृष्टि-किरण को मूल तक पहुँचने मे किसी तरह का अवरोध न रह जाय और पूर्व-काल की तरह वातावरण में सफाई आ जाय। आखिर-कार उपन्यास को आधुनिक युग ने इतना आग्रह पूर्वक क्यो अपनाया है? महाकाव्यों का परित्याग कर दिया, नाटकों की अवहेलना की, प्राचीन अनेकानेक साहित्यिक रूपविधानों को छोड़ दिया पर उपन्यासों और गीत काव्यों को (उपन्यासों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक बल देते हुये) अपनाया। इसका कारण क्या? यही न कि आधुनिक मानव का व्यक्तित्व जिसने आन्दोलित होकर अपने मूलरूप को आच्छादित कर लिया है या जिसने अपने ऊपर लोहे की चादर डाल ली है या जो भाग कर गहरी अचेतन गुफा मे छिप गया है उसके मूलरूप को, उसकी मूल प्रेरणा को दिखलाने मे उपन्यास अधिक सफल सिद्ध हो सका है।

अतः आधुनिक उपन्यासकला ने पात्रों की सिद्धियों, उनके बड़े-बड़े कारनामों, अद्भुत शौर्य-वीर्य की वर्णनात्मकता से मुड़कर मानव की चेतना को ही अपना लक्ष्य बनाया, व्यक्तित्व की तहों के छिलकों को छीलने में ही अपनी शक्ति केन्द्रित की। पूर्व के उपन्यासों में वर्णित व्यक्तित्वों की तुलना हम एक बार पुनः अंगूर के दानों से कर सकते हैं जिसका आन्तरिक रूप झलमलाता रहता है, साफ दृष्टिगोचर होता है, उसके लिये इतना ही पर्याप्त है कि उन्हें कोई लाकर रख दे। उनके रसास्वादन में कोई कठिनाई नहीं, "वेदान्ती"[3] मनुष्य भी उसे आनन्द-पूर्वक सुभला ले सकता है, कोई सहायता अपेक्षित नहीं। पर यदि आपके सामने नारियल या अखरोट रख दिया जाय तब आप कठिनाई में पड़ेंगे कि नहीं? आपको कितनी ही बाह्य सहायताओं और सहायकों की आवश्यकता होगी तब कहीं वह आपका उपभोग्य बन सकता है। आज की उपन्यास-कला का दुर्भाग्य या सौभाग्य कि उसे ऐसे ही "नारिकेल-समाकाराः" सज्जनों से जूझना पड़ता है और उन्हें बोधगम्य रूप में उपस्थित करना पड़ता है। यही कारण है कि आधुनिक उपन्यासों में व्याख्यात्मकता अधिक आ गई है, उसमें ऊँचाई से अधिक गहराई आई है। पवन तनय हनुमान ने अपने "कनक भूधराकार-शरीरा" वाले रूप का परित्याग कर जब मशक का अतिलघु रूप धारण किया तब सुरसा से मुक्ति पा सके अथवा लंका के कोने-कोने को झाँक कर अशोक वाटिका में बैठी सीता का पता लगा सके।

कथा की वक्रगतित्व

आज का उपन्यास इसी मशक रूप को धारण कर लंका को छानने के लिये, उसके कोने-कोने कोने को झाँकने के लिये, रावण को ढूँढ़ने के लिये विभीषण, त्रिजटा तथा सीता का पता लेने के लिये चल पड़ा है। यही कारण है कि वह सीधी सादी गति से न चल कर, एक ही साँस मे सरपट न लगाकर सर्प की तरह टेढ़ी-मेढ़ी गति से, विराम करता चलता है। साँप कुछ आगे बढ़ता है फिर कुछ पीछे फिसल जाता है और इसी फिसलन मे वह गति संचित कर आगे बढ़ता है। जिस अनुपात में उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता का भार बढ़ता गया है उसी अनुपात में उसकी कथा की गति मे वक्रता और विराम करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है। आधुनिक युग में भी ऐसे -उपन्यासकार हैं जिनकी रचनाओ में मनोवैज्ञानिक जटिलताओं का समावेश नहीं है। उदाहरणार्थ सियारामशरण जी गुप्त के तीन उपन्यासों को लीजिये 'गोद' "अन्तिम आकांक्षा" और "नारी"। इनके पात्रों का अपना व्यक्तित्व है अवश्य, पर उन पर किसी तरह का आच्छादन नहीं जिसे हटा कर देखना पड़े! जमुना, पार्वती, सोना, वंसी शोभाराम, रामचन्द्र भाटे चाहे कोई भी हो सबका हृदय पारदर्शक शीशे की तरह साफ है। यदि उनके हृदय में करुणा, दया और माया है तो वह साफ दिखलाई पड़ती है अथवा क्रूरता या कायरता है तो वह भी साफ दीख पड़ती है। यही कारण है कि उनकी कथा की गति सीधी सादी है, उसमें कहीं भी ठहराव नहीं है, कहीं भी थकावट के चिन्ह नहीं। यही बात थोड़े परिवर्त्तन के साथ प्रेमचन्द के लिये भी सत्य है। पर दूसरे प्रकार के औपन्यासिक अज्ञेय, जैनेन्द्र पहाड़ी, शिवचन्द के उपन्यासो की कथा की गति में वक्रता है, उसमें विश्राम करने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। कारण कि इन उपन्यासो में छोटी-मोटी दुबली-पतली नाजुक-बदन कथाओं पर अधिक भार डाल दिया जाता है, उनसे अधिक काम लिया जाने लगा है, उन्हें गन्तव्य अगंतव्य सब स्थानों में पेर दिया जाता है दूसरे शब्दों में उनका शोषण exploitation किया जाता है। अतः कथा में इस भार से थक कर थोड़ा विश्राम कर लेने की इच्छा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। यदि यात्री दुर्बल हो, कथा छोटी हो जैसा आधुनिक उपन्यासों में होता है, और उसके सर पर बोझ हो जैसे मनोवैज्ञानिकता का, तो राह में ठहर कर विश्राम करना आवश्यक होगा ही। पर यात्री स्वस्थ हो और थोड़ा सा ही बोझ उसके साथ हो तो उसे विश्राम करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आज के उपन्यास-क्षेत्र के यात्री-पात्र में स्वस्थता नहीं, असाधारणता है, उसका मानस मनोविकार-ग्रस्त है, वह अचेतन अथवा अर्द्धचेतन कितनी ही अज्ञात शक्तियों से परिचालित है, उसमें कितनी ही कुँठाएँ हैं और वह न जाने अपने ऊपर कितने ही विरोधों अवरोधों और दमन का भार लिये फिरता है। सियारामशरण या प्रेमचन्द का यात्री स्वस्थ है, भले

ही पहलवान न हो। उस पर बोझ भी अधिक नहीं और सीधे बढ़ता ही चला गया है। ठहरता भी है तो ऐसा मालूम होता है कि क्या करे बेचारा प्राकृतिक आवश्यकताओं की अवहेलना तो नहीं की जा सकती है न। पर वह ठहरना नहीं है, वह भी चलने का ही अंश है। 'गोद' मे शोभाराम अपने पिता वगैरा की इच्छा के विरुद्ध जाकर किशोरी से विवाह कर लेता है। वहाँ कहानी थोड़ी ठहरती सी अवश्य है पर रामचन्द्र मुखिया के द्वारा कथा सूत्र जुड़ कर चल निकलता है मानो अश्वारोही को अश्व की पीठ से गिरते देर नहीं लगी कि झट से धूल झाड़ कर वह बढ़ चला। उसी तरह अन्तिम आकांक्षा में रामलाल के चले जाने के बाद होता है पर कहानी झट आगे बढ़ जाती है।

आज के उपन्यासकार अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द की रचनाओं को पढ़कर एक ऐसे मानव की कल्पना हो आती है जिसके जीवन के सूत्र आपस मे बेतरह उलझ गये हों, जिनके ओर छोर का पता मिलना कठिन हो और जिसे सुलझाने के लिये लेखक व्यग्र हो। यही कारण है कि आज के उपन्यासकार को एक बंद कोठरी में, रात्रि के निविड़ अन्धकार में एक बड़े ही सशक्त हजारों काडिल पावर वाले बल्व के नीचे बैठ कर हम गुत्थियाँ सुलझाते पायेंगे। उसके उपन्यास में ब्लास्ट फर्नेस का तीक्ष्ण प्रकाश है। उसमें एक ही जगह पर उन्मत्तता मे नाचने वाले बगूले के चक्कर है। आकाश पाताल के कुलावे को एक कर देने का भागीरथ प्रयत्न है। गुप्त जी तथा उनके सजातीय उपान्यासकारों के सूत्र उलझे नहीं हैं अतः ये बातें भी उनकी रचनाओं में नहीं पाई जाती।

मनोविज्ञान का साधारण प्रभाव

इस तरह साधारण मनोविज्ञान अर्थात् मनुष्य की मानसिक जटिलता के ऊहापोह से अर्थात् जिसे हमने अनुभूति का आत्म-निष्ठ रूप, सबजैक्टिव आस्पेक्ट ऑफ एक्सपीरियन्स कहा है। उसके समावेश का प्रभाव हिन्दी उपन्यासोंपर स्पष्ट है। पर जब हम आधुनिक मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तो का प्रभाव ढूँढ़ते हैं तो उसे दो चार शब्दों मे बता देना, किन्हीं विशेषताओ पर उँगली रखकर उन्हें निर्देशित कर देना कठिन है। आधुनिक मनोविज्ञान के विविध सम्प्रदायों का सम्मिलित प्रभाव इसी बात में परिलक्षित होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के संबध मे औपन्यासिकों की धारणा बदल गई है। वह पहिले की तरह सानुपातिक सुडौल और श्रृंखलित इकाई न रह कर उच्छिन्न हो गया है, टुकड़ों में विभाजित हो गया है। आधुनिक मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों के विचार विजृम्भण ने मानवात्मा की धज्जी-धज्जी उड़ाकर अनेकधा विभक्त कर दिया है। इस नाना रूप और नाम धारण करते रहने वाले जीव के सतत विकासोन्मुख या पतनोन्मुख जीवन प्रवाह के पीछे एक वस्तु है जिसको लेकर यह सारा

व्यापार चल रहा है इस सिद्धान्त में हमारा विश्वास था। एक व्यक्ति आज बालक है, कुछ दिन बाद युवा होता है, फिर वृद्धत्व को प्राप्त होता है। इन तीनों रूपों में कितना महान अन्तर है पर फिर भी इन तीनों रूपों के पीछे खड़े एक विशिष्ट व्यक्तित्व को पहिचानना कठिन नहीं होता था। आणुविक बम ने तो आज अणु और परमाणु को तोड़ कर विश्व में प्रलय का दृश्य उपस्थित कर दिया है पर इसकी नींव उसी समय पड़ चुकी थी जिस समय मनोविदों ने मानवात्मा को चकनाचूर कर दिया था। इन्होंने कहा कि मानवात्मा देखने में भले ही एक मालूम पड़े, कुछ विशेष गुणों तथा क्रियाओं के द्वारा कुछ थोड़े से शब्दों में उसे सीधे-सीधे ढंग से समझा दिया जा सके। पर यह उसका वास्तविक रूप नहीं है। एक मानवात्मा में कितनी मानवात्मायें रहती हैं, एक मनुष्य के अन्दर कितने मनुष्यों का निवास रहता है और उनमें पारस्परिकता हो यह कोई आवश्यक नहीं। हमारे उपन्यासों में व्यक्ति का जिस सीधे, सरल, ऋजु रूप में एक विशेष मार्ग से (चाहे वह कितना ही चौड़ा हो) चलनेवाले के रूप में दिखलाया गया है उतना सीधा और सहज प्राणी वह नहीं है। प्रेमचन्द की सुमन, होरी, सूरदास, जालपा इत्यादि को दो चार गुणों और अवगुणों का लेबिल चिपका कर उन्हें सम्पूर्ण रूपेण समझ लिया जा सकता है। पर मनोविज्ञान ने बतलाया कि व्यक्ति पर किसी तरह की सीमा नहीं, वह तरल है, वायव्य है। हमारी प्रचलित धारणाओं और विचारों का प्राच्छादन उसे ढक नहीं सकता। अनगिनत इकाइयों को लेकर व्यक्ति का निर्माण हुआ है और ये इकाइयाँ भिन्न-भिन्न केन्द्रों की ओर एकत्र हुई हैं। इनमें परस्पर युद्ध छिड़ा रहता है अथवा ये एक दूसरे के प्रति उदासीन हैं तथा एक को दूसरे के अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं है। इस सम्बन्ध में एक आलोचक के कुछ शब्द उद्धरणीय[८] हैं "प्राचीन उपन्यासकारों का यह दृढ़ विश्वास था कि अनेक परिवर्तनशील मनोवेगों के रहते भी

---

8. The classical novelists were convinced that inspite of his changing moods, man was essentially one. Proust was equally convinced that he was many. His characters are composed in layers or, if one prefers, they are all, to some degree, multiple personalities. The only way of bringing out this complexity and of dealing with the very real problems of our knowledge of other people was to apply the method of the memoir-writer to his characters. They are constructed by direct observatoin, by encounters between Marcel and the other characters at different periods of their lives and in different situations, but also by gossip and hearsay. This enables Proust to present them from a large number of different angles and to show that the same person may appear completely different to different people.

मनुष्य मूल रूप में एक ही रहता है परन्तु ठीक इसके विपरीत प्रुस्ट इस बात में विश्वास करता था कि वह एक नहीं है अनेक हैं। उसके पात्रो का निर्माण तह पर तह जमा कर किया गया है। कहना चाहे यह भी कह सकते हैं कि वे किसी न किसी अंश में एक नहीं अनेक व्यक्तित्व धारी मनुष्य हैं। दूसरो की ज्ञानोपलब्धि की हमारी मानसिक प्रक्रिया को ध्यान में रखकर मनुष्य की इस जटिलता को देखा जाय तो पता चलेगा कि इसे पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने के लिये एक ही उपाय है कि पात्रों के चित्रण के लिये संस्मरण-लेखक की कला का आश्रय लिया जाय। पात्रो का चरित्र निर्माण प्रत्यक्ष निरीक्षण तथा जीवन के भिन्न-भिन्न अवसर पर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में मार्शल[५] से उनके सम्पर्क से तो होता ही है पर किम्वदन्तियों से भी उसमें सहायता मिलती है। इस तरह प्रुस्ट[६] पात्रो को एकाधिक दृष्टिकोण से उपस्थित करने में तथा यह दिखलाने में समर्थ हो सका है कि एक ही व्यक्ति पृथक-पृथक लोगों को पृथक-पृथक रूप में दिखलाई पड़ सकता है।" यही कारण है कि इलाचंद तथा अज्ञेय के उपन्यासों में कहीं डायरी के पृष्ठो से, कहीं पत्रो से, कही प्रत्यक्ष निरीक्षण से, कहीं वर्णनात्मकता से अर्थात् हर प्रणाली से काम लिया गया है।

फ्रायड ने मानव की चेतना को खण्ड-खण्ड किया ही, जुंग ने इसे एक पग और बढ़ाया और न जाने उसे किन-किन स्मृतियों संस्कारों का पुंज बना कर जटिल बना दिया। मनोविज्ञान में हम साहचर्य के नियम (Low of association) से परिचित थे, हम जानते कि बाँसुरी को देखकर कृष्ण की, धनुष को देखकर राम की स्मृति जग जाती है पर आचरण वादियो ने बतलाया कि ये ऐसोशियेशन्स ऐसे ऊटपटाँग विचित्र और आश्चर्य-जनक हो सकते हैं कि इनका रूप निश्चित करना असंभव है। प्रत्येक आत्मा या व्यक्तित्व अलग-अलग एक इस भौतिक शरीर के साथ आबद्ध है परन्तु कल्पना के द्वारा तथा आत्मा और आत्मा के मध्य मे काम करने वाले अनन्त और सूक्ष्म तंतुजाल के द्वारा वे परस्पर संलग्न भी हैं और इन क्रियाओ प्रक्रियाओं की दुनिया में मानव आत्मा की कल्पना एक उबलते हुये कड़ाह, नाचते हुये बगूले तथा नदी के वात्याचक्र के रूप में ही की जा सकती है। 'नदी के द्वीप' की नायिका रेखा का पति है हेमेन्द्र। इन दोनों का जीवन पति पत्नी का न होकर पारस्परिक संघर्ष में निरत शाश्वतिक शत्रु-जन्तुओ से भी अधिक नारकीय है पर प्रारम्भ में रेखा से हेमेन्द्र ने विवाह इसलिये किया था कि रेखा की आँखें उसकी एक प्रेयसी से मिलती जुलती थी।[७]

मानवात्मा के इसी उच्छिन्न रूप को लेकर आधुनिक उपन्यासकार अपनी कला की ओर अग्रसर हुए हैं और इसका प्रभाव उनकी कला पर अनेक रूपों में पड़ा है। कोई भी कथाकार व्यक्ति तथा उसकी अनुभूति की अवहेलना कर अपना अस्तित्व

स्थापित नहीं कर सकता। उनको अपनी कला की लपेट में लाना उसके लिये अपरिहार्य है परन्तु अनुभूतियों के भोक्ता-व्यक्ति के सम्बन्ध में उनकी धारणा में भयानक परिवर्त्तन होने के कारण उनके उपन्यासों के स्वरूप में भी परिवर्त्तन हो गये हैं। पूर्ववर्त्ती मनोवैज्ञानिक कथाकार एक काम चलाऊँ ढाँचा बना लेते और उसी में अपने उपन्यास प्राणी को बैठा देते थे और उन अनेक विषमताओं जिनको लेकर ही व्यक्ति की विशिष्टता बनी हैं उनकी एक दम अवहेलना कर देते थे। यह बात आज के उपन्यासकारों के लिये असह्य है। वे व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में ही उसकी सारी असंगतियों और विच्छिन्नताओं के साथ ही चित्रित करेंगे एवं राउंड होल (Round hole) में स्क्वायर पेग (Sqare peg) को फिट करने के लिये उसे काट छाँट कर विकृत नहीं करेंगे। वे नई-नई पद्धतियों, नये-नये टेकनीक, नये-नये ढङ्ग का आविष्कार करेंगे। जो उनके परिवर्त्तनशील धारणाओं को उचित रूप प्रदान कर सकने में समर्थ हो। एक तरह से कह सकते हैं कि नये औपन्यासिको की स्पिरिट क्लासिक न होकर रोमान्टिक है, उनकी कला किसी नियमानुवर्त्तन से उन्मुक्त हो स्वतंत्र रूप से विचरण करना अधिक पसन्द करती है। अज्ञेय और जैनेन्द्र सब कुछ होते हुये भी रोमान्टिक ही हैं[६] (ख)।

आधुनिक मनोविज्ञान को ज्ञात या अज्ञात रूप से अपने व्यक्तित्व में समाहित करने वाले औपन्यासिकों में स्थापत्य कला की गुरु गम्भीरता उच्चता, उदारता और भव्यता लुप्त हो गई है। उसका स्थान संगीत की "नाचिर मूर्छना", उसकी मीठी तान तथा ध्वनि लेती जा रही है। उनके उपन्यासों में प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति से सवलित फलागम के प्रति आग्रह न होकर हवा में धारे से उठकर विलीन हो जाने वाली तान की क्षणभगुरता है। दोनों पाटों से घिरी रहने वाली सरिता का कलरव नर्त्तन नहीं पर उठने और गिरते रहनेवाले बुदबुद की छटपट है,उनमें नाटकीय प्रभाव (dramatic effect) गीतिमयता (lyricism) है, वे प्रबन्ध काव्य से मुक्तक गीतियों के अधिक समीप है। जैनेन्द्र और अज्ञेय को हम गीति औपन्यासिक (लीरिक नावलिस्ट) कह सकते हैं। प्रबन्ध का सौष्ठव इनमें नहीं पर गीति की तरह इनमें हृदय की घनीभूत व्यथा है। उसे कथा का बल प्राप्त नहीं उनकी औपन्यासिक कृतियाँ अपनी आन्तरिक शक्ति पर ही सर उठाती हैं और ललकारती हैं, कहती हैं कम, पर उनके एक-एक शब्द न जाने कितना इतिहास कह जाते हैं। पाठक को वह वस्तु प्राप्त होती है कि वर्णनात्मक उपन्यासों से प्राप्त होने वाली वस्तु के अभाव की उसे शिकायत नहीं रह जाती[७]

पूर्व के उपन्यास केन्द्रनानुगामी होते थे। एक सीमित विषय को लेकर अपने स्वरूप का विस्तार करते थे। उसी को पूर्णरूप से विकसित कर, उभार कर रखने में अपनी सार्थकता का अनुभव करते थे। उपन्यास की सारी शक्ति एक किसी विशिष्ट व्यक्ति या विषय पर आकर केन्द्रित हो जाती थी पर आज के केन्द्रापगामी होते

जा रहे हैं। उनमें एक स्थान से उद्भूत होकर बिखर जाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। गर्म लाल लोहे पर हथौड़ा मारने से जिस तरह चिनगारियाँ चारों ओर निकल पड़ती हैं उसी तरह आधुनिक उपन्यासों मे एक स्थान से चलकर इतस्ततः बह जाने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगती है। इस दृष्टि से इन उपन्यासों में और हितोपदेश और पचतत्र की शैली पर लिखी गई कथाओ जहाँ कथा कहीं से प्रारंभ होकर कहीं भी अंत हो सकती है इनमे ऊपरी सतही समानता मालूम पड़ती है पर फिर भी दोनों की स्पिरिट, टान और मुख्य ध्येय मे इतना अन्तर है कि इन्हे तुलना करने की कोई कल्पना भी नहीं हो सकती।

पूर्ववर्त्ती उपन्यासों में कृति सातत्य (unity of action) की प्रधानता रहती थी। कोई क्रिया प्रारंभ होकर अपनी नियमित गति से अपने निर्दिष्ट पथ पर कुछ देर तक अग्रसर होकर अपने स्वरूप का विस्तार करती हुई समाप्त होती थी पर आज परिवर्त्तित दृष्टिकोण ने इस एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अब औपन्यासिकों की यह मान्यता होती जा रही है कि जीवन का वास्तविक चित्रण क्रिया सातत्य के द्वारा नहीं हो सकता। जो क्रिया कुछ देर तक चलती रहे उसमे जीवन की अनुरूपता नहीं होती परन्तु खण्डित परस्पर निरपेक्ष बीच-बीच में टूट-टूट कर फिर उठनेवाली उच्छृङ्खल रूप से उधर-उधर बॉध को तोड़कर बह पड़नेवाली बाढ़ की तरह उमड-उमड़ पड़ने वाली धारा में जीवन को प्रतिनिधित्व करने की अधिक क्षमता होती है। जीवन धारा एक ऐसी दीपमालिका नहीं जिसको अखण्ड ज्योति अपने प्रकाश को विकीर्ण करती रहती है। यह एक ऐसी विद्युन्मालिका है जिसमें मेकप ब्रेक होता रहता है जिसमे बत्तियाँ कभी इधर, कभी मद ज्योति से, कभी प्रखर, कभी एक रग की कभी दूसरे, कभी समीप, कभी दूर प्रज्ज्वलित होकर जीवन की झलक दिखा जाती है। जीवन मे कोई भी क्रिया प्रारम्भ होकर साफ सुथरे ढग से समाप्त नहीं होती जिसकी समाप्ति पर पर्दा गिरता सा मालूम पड़े और ऐसा लगे कि अब इसके बाद इसके सम्बन्ध मे ज्ञातव्य बातें कुछ भी नही रह गईं जहाँ पर जाकर एक विराम स्थल पर पहुँच कर सन्तोष की गम्भीर साँस ली जा सके। जीवन में रिक्तता की भावना रहती है, जीवन रिक्त है, शून्य है जिसे हम अपनी कल्पना के द्वारा ही भर सकते है ऐसी अवस्था में कहीं भी किसी तरह की व्यवस्था आदि अन्त चाहे मध्य में आकर जीवन को झुठलायेगी ही। उसका सच्चा सिर्देश नहीं कर सकती।

ये ही कुछ प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें नूतन मनोविज्ञान ने कथाकारों को ज्ञात या अज्ञात रूप से अपनाने के लिये बाध्य किया है। अज्ञात रूप से इसलिए कहा है कि जिस वातावरण में हम रहते हैं, जिस जलवायु में हम साँस लेते हैं उसमें कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो हम पर समय समय अपना प्रभाव डालते रहते हैं इस तरह कि इसका

हमें ज्ञान भी नहीं होता। हमें ज्ञान हो या न हो पर वायु पर तैरते रहने वाले अलक्ष्य कीटाणुओं के पुञ्ज हमारे शरीर पर अपना प्रभाव डाल कर उसमें परिवर्त्तन उपस्थित करते ही रहते हैं।

विभिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय और आधुनिक हिन्दी उपन्यास

किसी एक विशिष्ट मनोविज्ञान के सम्प्रदाय को लेकर कहना कि इसने हिन्दी उपन्यास साहित्य को किस रूप मे प्रभावित किया है यह तो और भी कठिन है। वास्तव मे बात तो यह है कि अलग अलग रूप में हिन्दी के लेखकों को भिन्न भिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों का परिचय नगण्य है। हिन्दी में मनोविज्ञान की पुस्तकों के अभाव के कारण हमारे लेखको का इनके ज्ञान के लिये अंग्रेजी की पुस्तकों पर ही निर्भर करना पड़ता है। पर अंग्रेजी के ज्ञान की अपरिपक्वता के कारण वे उनके मर्म को हृदयंगम नहीं कर पाते। परिणाम यह होता है कि यह ज्ञान-लवविदुर्दग्धता उनके मानस के ऊपरी सतह को छू कर रह जाती है। व्यक्तित्व की उस गहराई को नहीं छू पाती जहाँ से सृजनात्मक प्रतिभा जाग्रत होती है। पावलभ (Pavlov) की अभ्यस्त प्रक्रिया (conditioned reflex) सम्बन्धी प्रयोग तथा वाटसन का उग्र आचरणवादी मनोविज्ञान के प्रभाव ने हिन्दी में एक भी उपन्यास की सृष्टि नहीं की। आज से करीब २० वर्ष पहिले राहुल संकृत्यायन जी की एक पुस्तक बाइसवीं सदी प्रकाशित हुई थी जिसमे एलडस हैक्सले के उपन्यास ब्रेभ न्यू वर्ल्ड (Brave new world) की तरह एक आदर्श दुनिया की कल्पना की गई थी जिसमें मनुष्य के जीवन का विकास इच्छानुसार अभ्यस्त (conditioned) तरीके पर किया जा सकेगा। पर यह परम्परा वहीं खतम हो गई। आगे इस विषय को लेकर किसी ने उपन्यास नहीं लिखा।

जो बात आचरणवादी मनोविज्ञान के लिये कही गई है वही गेस्टाल्टवाद के लिये भी सत्य है। गैस्टाल्टवाद का नाम भी शायद ही किसी हिन्दी के उपन्यासकार ने सुना हो। ऐसी अवस्था मे उसके सचेष्ट और सक्रिय प्रभाव की बात करना ही निर्मूल है। पिछले परिच्छेद में जैनेन्द्र को जो गेस्टाल्टवादी उपन्यासकार कहा गया है वह इसी सीमित अर्थ में कि उनके उपन्यास ऐसे हैं कि इस दृष्टिकोण के अनुरूप सहज ही ढल जा सकने हैं और इस रूप मे उनकी व्याख्या सुगमता पूर्वक हो सकती है। मानव व्यक्तित्व सम्बन्धी ज्ञान के लिये, उनके विविध आन्तरिक रूपों के परिचय केलिये यह कोई आवश्यक नही कि साहित्यकार की सृजनात्मक प्रतिभा मनोविज्ञान वेत्ताओं की ही ऋणी हो। नहीं, उसकी प्रतिभा की किरणें स्वतन्त्र रूप में ही उस रहस्यमय स्थल को आलोकित कर सकती हैं जहाँ मनोवैज्ञानिक को पहुँचने में देर लगे। शेक्स-पियर के समय में फ्रायड कहाँ थे? पर उसके पात्रों के व्यक्तित्व में इडिपस ग्रंथि के

चमत्कार पाये ही जाते हैं। वास्तव में साहित्यिकों की कल्पना ही उन सामग्रियों को धीरे धीरे उपस्थित कर देती है जिन्हें आगे चलकर कोई वैज्ञानिक व्यवस्थित कर एक सिद्धान्त का रूप देता है। ७० वीं वर्षगाँठ के उत्सव के अवसर पर उसके प्रशंसकों ने फ्रायड को अचेतन का आविष्कारक (discoverer of unconscious) कह कर सम्बोधित किया तो उसने उनकी भ्रमोक्ति को सुधारते हुए कहा कि नहीं, दार्शनिकों और साहित्यिकों ने मेरे पहिले ही अचेतन का आविष्कार कर दिया था। मैंने तो केवल उस वैज्ञानिक पद्धति का आविष्कार किया है जिसके द्वारा अचेतन का अध्ययन किया जा सकता है।[7] अतः गेस्टाल्ट के नाम सुने बिना भी जैनेन्द्र के उपन्यासों में गेस्टाल्ट के चिन्ह पाये जाँय यह असम्भव नहीं। यहाँ पर इस बात का उल्लेख इतने ही भर के लिये किया गया है कि गेस्टाल्ट के सिद्धान्त कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के लिए कवि (यहाँ उपन्यासकार और आलोचक) दोनों के लिए बहुत उत्तम आधार प्रस्तुत करते हैं। इसका यह सिद्धांत कि संपूर्णता (Gestalt) ही हमारी अनुभूति का मूलतत्व है—वह सम्पूर्णता जो अंशों के योग से पृथक हो परन्तु उनको भी सार्थकता प्रदान करती है। हमारी साक्षात् सौन्दर्य मूलक अनुभूति से मेल खाता है। हम अपने मंतव्यों को ध्वनिकार के शब्दों में यों कह सकते हैं कि जैसे अंगना में उसके सुशोभन अंगों के अतिरिक्त लावण्य, सौष्ठव, कान्ति एक अलग पदार्थ है वैसे ही महाकवियों की वाणी में एक वस्तु होता है जो शब्द अर्थ और रचना वैचित्र्य से अलग प्रतीयमान होती है[8]। अर्थात् सौन्दर्यमूलक अनुभूति ध्वन्यात्मक होती है। यही बात साहित्य में चरितार्थ होती है। किसी साहित्यिक रचना कहानी उपन्यास या काव्य की महत्ता उसकी सहकारी सामग्री शब्द अर्थ इत्यादि के जोड़ से अतिरिक्त किसी अधिक व्यापक वस्तु में रहती है जो अपनी व्यापकता में अपने सहकारी अंशों को भी सार्थकता प्रदान करती है अर्थात् वह "तदवयवातिरिक्त" है। यह व्यक्तित्व के प्रगतिशील सम्पूर्णता में विश्वास करता है। मनुष्य को कारण और कार्य के टुकड़ों में तोड़ कर देखने वाली दृष्टि का विरोध करता है और कहता है कि व्यक्ति अखण्ड है उसको तोड़ तोड़ कर जिन टुकड़ों में विभाजित किया जा सकता है उसके योगफल से वह बिल्कुल भिन्न पदार्थ है। विज्ञान ने जो हमें बौद्धिक विश्लेषण करने तथा किसी वस्तु को यांत्रिक और तथ्यवादी रूप में वर्णन करने का दृष्टिकोण उपस्थित किया है उसके विरुद्ध गेस्टाल्ट ने प्रतिक्रिया उत्पन्न की है। साहित्य का

---

7 The poets and philosophers before me discovered the unconscious. What I discovered was the scientific method by which the unconscious can be studied

काम सूखा चित्रण नहीं, फोटोग्राफी नहीं परन्तु चित्र बनाना है। साहित्य चित्रकार है जो चित्र को छोटी छोटी पंक्तियों में न देखकर एक व्यापक सम्पूर्णता में देखता है। उपन्यासकार की कला प्रभाववादी (Impressionist) की होती है। यदि इतनी सी बात जिसे आज गेस्टाल्ट मनोविज्ञान जोर देकर कहता है हमारे उपन्यासकारों को याद रहे तो 'अश्क के गिरती दीवारें' तथा 'गर्मराख' जैसे उपन्यास अपने खण्ड के छोटे छोटे अंश सम्पूर्ण से विच्छिन्न पड़े हुए वर्णनों के कारण अपने गौरव को नष्ट न करें। यदि लेखक में यह दृष्टिकोण होता तो उसके ये दोनों उपन्यास कहीं अधिक ऊँचाई को उठे होते क्योंकि इन उपन्यासों का विषय ऐसे थे जो उचित ढंग से निबाहने पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की शोभा हो सकते थे।

इन आधुनिक मनोविज्ञान के सम्प्रदायों में हमारा हिन्दी उपन्यास साहित्य फ्रायड, एडलर और जुंग के मनोविश्लेषण के सर्वाधिक प्रभावित हुआ है। इसने अचेतन और अर्द्धचेतन की एक विशाल दुनिया के रहस्यों से हमारे औपन्यासिकों को परिचित कराया है। हिन्दी उपन्यासों में क्षति परिपूर्त्ति की (compensation) की बात होने लगी है, दमित इच्छाओं के शिकार स्वरत्यात्मक पात्रों का चित्रण होने लगा है। आत्म-पीड़क और पर-पीड़क पात्र हमारे उपन्यासों के क्षेत्र पर घूमने लगे हैं। मानसिक ग्रन्थियों का बाजार गर्म हो चला हैं। वैयक्तिक विकृतियों और बेबसियों से ग्रस्त पात्रों के प्रवेश से सारा उपन्यास साहित्य पाट सा गया है। कोई पात्र हीनता के भाव से ग्रस्त है, किसी ने अपनी इच्छाओं का उदात्तीकरण कर लिया है, कोई इडिपस ग्रंथि का मारा पिता को प्रतिद्वन्दी के रूप में देखता है और माँ को प्रेम की नजरों से देख रहा है। हमारे उपन्यासों के बालक सेक्स की भावनाओं से प्रचलित होने लगे हैं। अश्क का चेतन और अज्ञेय का शेखर दोनों अपने माता पिता के प्रणय व्यापारों को छिप कर देखने में बड़े पटु हैं। भाई बहिन का सम्बन्ध अधिक सरस हो उठा है। इसके लिये डा० देवराज के "पथ की खोज" तथा द्वारिकाप्रसाद जी के "घेरे के बाहर" उल्लेखनीय हैं। कोई अपने प्रेमपात्र को ऐन मौके पर जिस समय उसे प्रेम के भाव से सरोबार होना चाहिये था घृणा करने लगता है अथवा शत्रु को अपने पंजे में पाकर उसके लिये प्रेम के तरल भावों से द्रवित होने लगता है। यहाँ तक कि कोई तो अपने प्रेमी की हत्या कर देने में ही आनन्दानुभव करता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना और पात्रों के अन्तर्द्वन्द का चित्रण करना यह उपन्यासों की मुख्य वस्तु समझी जाती रही है और आज भी समझी जाती है पर इन शब्दों के अर्थ में महान् परिवर्तन हो गया है जिसका पता इस निबन्ध के पूर्व के परिच्छेदों से कुछ कुछ चलेगा। आधुनिक उपन्यासों में मिथुनाचार (Sex) की चर्चा खुलकर अपने नग्न रूप में की जाती है। अज्ञेय, जैनेन्द्र, यशपाल,

इलाचंद जोशी अश्क, द्वारिकाप्रसाद इसके प्रमाण हैं। राहुल जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में जय यौद्धेय, सिंह सेनापति तथा 'मधुर स्वप्न' में जिस मुक्त और स्वच्छन्द विलास का महोत्सव मनाया है वह इतिहास के रक्षा मात्र ही नहीं है। इसमें इस युग का भी प्रभाव है। इसको द्विवेदी युग की उपदेशात्मक लज्जा शीलता के वाह्य और झूठे आडम्बर के विरुद्ध प्रतिक्रिया मात्र कह कर ही सन्तोष नहीं किया जा सकता। यह निश्चित रूप से फ्रायड के लिबिडो वाले सिद्धान्त का परिणाम है जो यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्य के अचेतन की सारी प्रवृत्तियाँ काम मूलक होती हैं, हमारे सारे आंतरिक संघर्ष के मूल में काम भावना है।

परन्तु मेरे कहने का अर्थ यह नही कि फ्रायड के मनोविज्ञान का प्रभाव हिन्दी उपन्यासकारों पर उस रूप मे पड़ता है जिस रूप मे यूरोप अथवा अमेरिका के कथा साहित्य पर दृष्टिगोचर होता है। वहाँ तो ऐसे उपन्यासो की एक परम्परा ही है जो फ्रायड की साइको अनालिसिस Psycho analysis की पुस्तक अपने पाकेट मे रखकर लिखी गई। है ऐसे उपन्यास में से 'सिन्क्लेयर का थ्री सिस्टरस' का औ नैल्स का मॉर्निंग बिकम्स[१] इलेक्ट्रा का और रूसी लेखक जोसेंकिसको का ह्वेन द सन राइजेज प्रसिद्ध है। इस अंतिम पुस्तक मे अपने वर्त्तमान अशान्ति असन्तोष और अवसाद के Zoshe HENKO Soviet Literature Today by George Reavey. LINDSAY DRGMMOND LONDON. 2 Guild Ford Place W. C. I. 1946, मूल कारण को ढूढ़ने का प्रयत्न किया है। इस मूल कारण को ढूँढते २ अपनी पुस्तक के प्रथम भाग मे लेखक अपने १६ वर्ष की अवस्था से ३० वर्ष की अवस्था तक के जीवन का पर्यवेक्षण करता है। उसे पता चलता है कि इतना ही पर्याप्त नहीं है उसे और पीछे मुड़कर शैशवकालीन स्मृतियो को कुरेदना पड़ेगा। तब ५ से १५ वर्ष की अवस्था। फिर दो से पॉच। अंत मे जन्म से ले कर २ वर्ष की अवस्था की स्मृतियों को याद करता है। अत मे इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसकी सारी अंशांति के बीज इन्हीं प्रथम कुछेक वर्षो मे पड़ चुके थे जो उसे अन्दर से विवश कर रहे हैं, लाचार कर रहे हैं। पुस्तक में फ्रायड और पावलभ के सिद्धान्तों को चर्चा मे पूरे परिच्छेद ही दिए गए हैं। हिन्दी में इस तरह का उपन्यास नहीं। शेखर में इस तरह का प्रयास किया गया है पर वह परिस्फुटित रूप से सामने नही आ सका है। इसका कारण भी यही है कि फ्रायड के सिद्धान्तो से भी हमारे लेखकों का पूर्ण परिचय नहीं है। यदि पूर्ण परिचय होता तो यह बहुत सम्भव था कि मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयों की प्रयोगशालाओं से रोगियो के जो इतिहास प्राप्त हुए हैं, केस हिस्ट्रीज मिली है उनके आधार पर कोई दो चार उपन्यास भी लिखे जाते। पर आज इस तरह का हमारे यहाँ कोई भी उपन्यास नहीं है। जब किसी सत्य के पारखी

ने यह कहा था कि ट्रू थ इज स्ट्रेन्जर दैन फिकशन अर्थात् सत्य कथाओं से कहीं अधिक अद्भुत और विस्मयकारी है तो लोगों ने अविश्वास किया था। पर आज इन रोगियों के इतिहास के बाद तो इस की सत्यता में कुछ भी संशय नहीं रहा। आशा है भविष्य में इस तरह के उपन्यास अवश्य लिखे जायेंगे।

हिन्दी उपन्यासकारों को अवसर

जहाँ तक आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो को हिन्दी में लाकर उन्हें कलात्मक रूप देने का प्रश्न है हमारे उपन्यासकार बहुत ही अनुकूल परिस्थिति में है। अंग्रेजी के उपन्यासों में इस मनोविज्ञान को पर्याप्त रूप में अपनाया जा चुका है। डी. एच. लारेन्स, जेम्स ज्वायस, वरजिनिया वुल्फ इत्यादि के उपन्यासों को मनोविज्ञान ने बहुत दूर तक प्रभावित किया है। इनके प्रयोग हमारे सामने हैं, इनकी अच्छाइयाँ भी और इनकी बुराइयाँ भी। इनमें एक तो नए धर्म परिवर्त्तन करने वाले का उमड़ता हुआ जोश था और दूसरे इनमें पूर्ववर्त्ती युग के वाह्याडम्बर के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया के भाव थे। अतः मनोविज्ञान के उन्नत और उदात्त रूप को वे नहीं अपना सके। इनके उपन्यास एक विचित्र पहेली बनकर रह गए। टेकनीक की दृष्टि से भी और मिथुनाचार की प्रशस्ति गाने की दृष्टि से भी। इन्होने अचेतन में दमित भावनाओं को नग्न रूप में बाहर लाकर स्वतत्र रूप से उधम मचा देने के लिए स्वतंत्र छोड़ देने मे ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझ ली। उन्हें समझना चाहिए था कि घाव के खुरट को उखाड़ कर मवाद निकाल देना तो स्वस्थता के लिए लाभ-प्रद अवश्य है पर उन्हे हवा में तैरते हुए कीटाणुओं के विकास क्षेत्र बनने के लिए खुला छोड़ देना अति भयंकर है। आप दमित वृत्तियों को चेतन स्तर पर लायें अवश्य पर उनके उदात्तीकरण की भी व्यवस्था अवश्य करें।

वर्त्तमान हिन्दी कथा साहित्य का सौभाग्य है कि इसमें जेम्स ज्वायस, गुटुड स्टेन, विरजिनिया वुल्फ इत्यादि के प्रयोगों के अवाछनीय आतिशय्य ने इसे बुरी तरह आराक्रान्त नही किया है। अज्ञेय के शेखर, नदी के द्वीप, माचवे के परन्तु तथा जैनेन्द्र के कुछ प्रयोगो में कथा के सौष्ठव का तुडमुड भले ही यत्र मिल जाए परन्तु वे पहेली नहीं बन पाए हैं। मनुष्य की चेतना को ही चित्रित करने के लिए, उसकी आतरिक धाराओं के प्रति ईमानदार रहकर उसे पूरी सच्चाई के साथ शब्दो में बांधकर रख देने की प्रवृत्ति ने विदेशी उपन्यासो में जिन उलूलजुलूल प्रवृत्तियों को जन्म दिया है, उन सबसे हिन्दी कथा साहित्य बहुत कुछ वंचित रहा है। यह हिन्दी कथाकार की सजीवता का प्रमाण है।

जिस दिन हिन्दी कथा-साहित्य में जीवन के यथा तथ्य चित्रण के नाम पर, यमनुष्के मनो विज्ञान के सच्चे साहित्यिक प्रतिनिधित्व के नाम पर विलियम फाकनर

की आत्मा अवतरित होगी, घटना का थोड़ा सा बाह्य वर्णन कर उसके अंदर जो हो रहा है इसके लिए पाठक को अन्धकार में टटोलने के लिए छोड़ दिया जायगा, एक पात्र को अनेक नाम से या अनेक पात्रों को एक नाम से पुकारा जाने लगेगा, उपन्यास के प्रचलित कथा सूत्र को एकाएक तोड़कर दूसरी ही एकदम असंबद्ध कथा कही जाने लगेगी, पहली कथा को एक पैराग्राफ या एक वाक्य के मध्य में ही तोड़ कर दूसरी असम्बद्ध कहानी प्रारम्भ होने लगेगी, पाठक पन्ने पर पन्ने पढ़ता चला जायेगा और कथा का ओर छोर न पा सकेगा, कहीं विराम चिह्नों का पता नहीं लगेगा, कहीं छोटे टाईप के तो कहीं बड़े टाइप तथा इटालिक्स अक्षर दीखने लगेंगे, भाषा के गड़बड़ झाले से सारा उपन्यास आच्छादित होने लगेगा, जब संज्ञा और क्रिया यहाँ तक कि संज्ञा और विशेषण के बीच में पेरेन्थसिस दिये जाने लगेंगे और वे पेरेन्थिसीस इतने लम्बे होंगे कि अर्थ संगति बैठाने के लिए आँखों को पुनः लौटकर ब्रेकट के आरम्भ को देखना होगा तब हिन्दी कथा साहित्य के लिए दुर्भाग्य का दिन होगा।

जेम्स ज्वायस के एक उपन्यास की प्रथम पंक्ति वाक्य के मध्य भाग से प्रारम्भ होती है और अंत की पंक्ति में एक वाक्य के कुछ प्रारम्भिक अंश है और वह वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया गया है। हमारे कथाकारों की प्रतिभा ने साहित्य के क्षेत्र में संतुलन के महत्व को समझा है, और वे यह अनुभव करते हैं कि आत्म-निष्ठ जटिल भावों की अत्यधिक विवृत्ति से, मानसिक संवेदनाओं के विस्तृत विवरण का महत्व नष्ट हो जाता है यदि इनके द्वारा जीवन के उन्नायक तत्वों का संकेत न मिलता हो। यदि ये साधन न रह कर स्वयं साध्य का स्थान ग्रहण कर लेते हैं और आन्तरिक चेतना प्रवाह का मात्र चित्रण ही चरम लक्ष्य हो जाता है तो इनको अभिव्यक्त करने वाले उपन्यास मे और प्रदर्शिनी में रख गए उस वैज्ञानिक यन्त्र में अन्तर ही क्या है जिसमें इस बात का कुछ भी संकेत नहीं हो कि यह किस काम के लिए निर्मित हुआ है।

कथाकार अपनी सामग्री जीवन प्रवाह से ही चयन करता है चाहे वह प्रवाह बाह्य जगत मे अनेक वैविध्य पूर्ण भारी भरकम घटनाओ के रूप में ही हो, चाहे आत्म निष्ठता की आंतरिक गहराई में चेतना की आवेगमयी तरलता के रूप में प्रवाहित होता हो। पर उसे अनेक में से कुछ के उपयोगी, अभीष्ट साधक वस्तुओं को चुन लेना ही पड़ता है। जेम्स ज्वायस इत्यादि कुछ कथाकारों ने बीड़ा तो उठाया था कि २४ घंटे के अन्दर मानव हृदय मे जो कुछ घटता है उसे ज्यों का त्यों अपनी ओर से बिना कुछ काट छांट किए शब्दों में पकड़ कर लिपिबद्ध कर दें, पर वे क्या सफल हो सके।[1] एक दिन क्या एक घंटे के अन्दर मनुष्य के अन्दर जिस विश्व का निर्माण और ध्वंस होता है, भावों और विचारों का जो वात्याचक्र चल जाता है उसको हैं भाषा में बांधा कर रखने के लिए युलेसिस से अधिक बृहद्काय पुस्तक की आवश्यकता

होगी और तिस पर भी उसके साथ न्याय न हो सकेगा। मानव मन, कहा ही गया है, वायु से भी चंचल होता है, अतीत और भविष्य दोनों की ओर उसकी गति होती है। जिस तरह पिंड में ब्रह्माण्ड छिपा रहता है, उसी तरह एक क्षण में सारा महाकाल प्रवाह आकर सिमटा रहता है। वह एक तुच्छातितुच्छ काल का बिन्दु है तो क्या स्वयमेव चरम महाकाल है। एक उदाहरण लीजिए एक उपन्यास का नायक ठीक समय पर घड़ी देखकर सकेत स्थल पर आ जाता है। यह व्यावहारिक काल है और यह ग्रिन्विच के काल से मर्यादित घड़ी के द्वारा परिगणित होता है और सब के लिए एक सा है। वह नायक नायिका की प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता से करता है पर वह प्रतीक्षा का एक क्षण युग से भी अधिक बड़ा हो जाता है कारण कि यहाँ पर समय की गणना नायक की आत्मनिष्ठ मनोवैज्ञानिक मूल्यों और ग्रहणता के टर्म्स मे होती है। प्रतीक्षा करते करते वह अपने मन में उन सारी घटनाओं को पुनरावृत्ति करता है, सारी मनस्थितियो, आशाओं और निराशाओ तथा इनसे संबधित हजारों बातो को अपने स्मृति पटल पर लाता है। इन स्मृति, बातो या घटनाओं को प्राचीन बातो या घटनाओ का जोड़ तोड़, मात्र पुनर्निर्माण या पुनारावृत्त या संक्षेप वर्णन कहना न्याय नही होगा। ग्रिनविच के काल प्रवाह मे पड़े और इस विभिन्न भावावेग पूर्ण स्थिति में प्रतिष्ठित नायक की भावनाओ के रंग मे रगे जाने के कारण इनका रूप ही बदल गया है। अंत मे नायक अपनी नायिका का स्वागत करता······उस स्वागत क्षण पर विगत क्षणों का भार है। साथ ही वह एक आनन्दपूर्ण भविष्य के आशामय उद्देश्य से भी प्रभावित है अर्थात् वह क्षण अतीत वर्तमान और भविष्य सब का मिश्रण है। ऐसी अवस्था में जो एक क्षण की भी सारी बातो को विशेषतः मानसिक व्यापारों को लिपिबद्ध करने की प्रतिज्ञा लेकर चलता है वह भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। अतः उसे निर्वाचन, परिशोधन और परिमार्जन तथा काट-छाँट का आश्रय लेना ही पड़ेगा। परिपूर्णता, चाहे वह एक लघु क्षण की हो अथवा एक लम्बी अवधि की, मनुष्य के बूते की चीज नहीं। वह परमात्मा के लिए सुरक्षित छोड़ देनी चाहिए।

आधुनिक कथाकार जिन्हें अग्रेजी के प्रसिद्ध दार्शनिक जोड़ने Putting-in-every thing School. कहा है अपनी कला के द्वारा परमात्मा के स्थान पर पर अपने को प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं और तब साहित्य मे घटाना निर्मातुः विश्वसृजश्च कलह का अशोभन दृश्य उपस्थित हो जाता है हिन्दी कथा साहित्य ने अभी तक अपने को किसी तरह की अतिवादिता से बचाया है और इस कलह की जटिलता से अपनी रक्षा की है। कथाकार का कर्त्तव्य है कि वह बाहर के प्रवाह से ही अपनी सामग्री ले उससे अपना गागर भरे और फिर उसे जीवन के प्रवाह में डाल दे। पर इस पुनः प्रक्षेपन से केवल निकाली हुई क्षति की पूर्ति न हो पर जीवन कहीं अधिक आढ्य और समृद्ध

गे बढे, वह भव्यतर मालूम पड़े ठीक उसी तरह जिस तरह खुले मैदान
र लेने से फेफड़े सबलता, सशक्तता तथा विस्तार का अनुभव करते हैं।

पाद टिप्पणियाँ

. दधि बेचत ब्रज ग्वालिन फिरै।
गोरस लेन बुलावत कोऊ ताकी सुधी नेकहु न करै।
इनकी बात सुनत नहिं स्रवननि, कहति कहाँ ये घरन जरै।
दूध दह्यो ह्याँ लेत न कोऊ प्रातहि ते सिर लिये ररै।
बोलि उठति पुनि लेउ गोपालहि घर घर लोक लाज निदरै।
सूर, श्याम के रूप महारस जाके बल काहू न डरै।
. विवेचना, द्वितीय संस्करण सं० २०००, पृ० ११६।
. वेदान्ती (यहाँ वेदांत वाला मनुष्य।)
. Novel in France by Martin Turnelle 1st editic
P. 371। ५. एक पात्र का नाम। ६. प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासका
. (क) नदी के द्वीप, प्रथम संस्करण।
. (ख) द्रष्टव्य इस निबन्ध का जैनेन्द्र वाला परिच्छेद।
. The liberal Imagination by Lionel Trilling, Lo
don 1951, Secker and Warling P. 34।
. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महा कवीनाम्
तत्त्द प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु
. Soviet Literature To-day by George Reavey LIN
SAY DRUMMOOND, 1946, 2 GUNIL FOF
place London, W. C. I.

सहायक ग्रन्थों की नामावली

(क) मनोविज्ञान संबंधी सहायक ग्रन्थ

1. Contemporary school of Psychology by R. Woodworth.
2. Normal and abnormal Psychology by J. Ernest Nicole, London.
3. Psychiatory for Everyman by J A. C. Brown, Philosophica Library, New york 1947.
4. Hundred years of Psychology by J. C. Flugel
5. Outlines of Abnormal Psychology by W. Macdugall.
6. Psycho- dynamics of Abnormal behaviour by J. F. Brown.
7. Collected papers—5 Volumes by S. Freud.
8. Introductory lectures on Psycho- analysis by S. Freud
9. Adhunik Manovigyana by Shri Lallji Ram Shukla, Banaras.
10. Files of Manovigyana, a Hindi Monthly, edited by Shri Lallji Ram Shukla, Banaras
11. Man, Morals and Society by J. C. Flugel.
12. Leonardo Vinci by S. Freud.
13. Psychopathology of Every day life by S. Freud.
14. Psychoipogy of Women 2 Vols. by Helene Deutsch.
15. Our Inner conflict by K. Honey

(ख) कथा-साहित्य संबंधी आलोचनात्मक और सहायक ग्रन्थ

1. The Twentieth Century Novels by J. W. Beach.
2. Modern Fiction by J. Muller.
3. Time and Novel by A. W. Mendilow.
4. Supernatural in Fiction by P. Penzoldt.
5. The English Novelists, Edited by D. verschoyle.
6. Evolution of English Novels by Stoddard.
7. English Novels by Cross.
8. Novel in France by Martin Turnell.
9. Cavalcade of English Novel by E. Wagenknecht.

10. Common Reader—2 Vol. by V. woolf.
11. Exploration by L. C. Knights
12. Dostovesky by Andre Gide.
13. Literature and Psychology by F. L. Lucas.
14. Art of Novel—prefaces by H. James.
15. Decadence—C. E. M. Joad
16. Guide to Modern Thought by C. E. M. Joad.
17. Novel and our Time by Alex comfort.
18. Liberal Imaginations by L. Trilling.
19. An Assessment of 20th Century Literature by J. ISSACS.
20. Psycho-analytic Explorations in Arts by Ernst kris.

(ग) हिन्दी के सहायक ग्रन्थ

१. हिन्दी उपन्यास, ले० शिवनारायण श्रीवास्तव
२. साहित्य संदेश का उपन्यास अंक
३. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य, ले० गंगाप्रसाद पाण्डेय
४. जैनेन्द्र के विचार, सं० प्रभाकर माचवे।
५. आलोचना की फाइल
६. सहित्य का मर्म, ले० हजारी प्रसाद द्विवेदी
७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले० स्व० रामचन्द्र शुक्ल
८. विवेचना, ले० इलाचन्द जोशी
९. हिन्दी साहित्य—ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१०. हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, ले० डा० लक्ष्मीनारायण लाल
११ ध्वन्यालोक
१२. काव्यालोक—ले० स्व० रामदहिन मिश्र
१३. आधुनिक हिन्दी साहित्य, ले० नन्ददुलारे बाजपेयी

उन कथाकारों तथा उनकी रचनाओं की नामावली जिनकी चर्चा इस निबंध में आई है।

१. प्रेमचंद—सेवासदन, रंगभूमि, प्रेमाश्रम, कायाकल्प, ग़बन, गोदान, मान-सरोवर—५ भाग
२. जैनेन्द्र—परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त्त, व्यतीत, अनाम

स्वामी, एक रात, नीलम देश की राजकन्या और अन्य कहानियाँ, पाजेब, जयसंधि,

३. अज्ञेय—शेखर-एक जीवनी, नदी के द्वीप, विपथगा, कोठरी की बात, परम्परा, जयदोल।
४. इलाचन्द जोशी—सन्यासी, प्रेत और छाया, पर्दे की रानी, निर्वासित, मुक्तिपथ, जिप्सी, रोमाण्टिक छाया, डायरी के नीरस पन्ने, होली और दिवाली, खंडहर की आत्मायें।
५. यशपाल—दादा कामरेड, देश-द्रोही, दिव्या, मनुष्य के रूप
६. 'अश्क'—सितारों के खेल, गिरती दीवारें, गर्म राख
७. भगवती चरण वर्मा—टेढ़े-मेढ़े रास्ते
८. भगवती प्रसाद वाजपेयी—चलते चलते
९. सियाराम शरण गुप्त—अंतिम आकांक्षा, गोद, नारी
१०. सेठ गोविन्ददास—इन्दुमती
११. नरोत्तम प्रसाद नागर—दिन के तारे
१२. जयशंकर प्रसाद—कंकाल
१३. राहुल सांकृत्यायन—बाइसवीं सदी, जय यौधेय, सिंह सेनापति, मधुर स्वप्न
१४. डा० देवराज—पथ की खोज
१५. द्वारिका प्रसाद—घेरे के बाहर
१६. शिवचंद्र—नया आदमी
१७. अचल—चढ़ती धूप
१८. देवकी नन्दन खत्री,—चन्द्रकान्ता संतति
१९. प्रभाकर माचवे—परन्तु
२०. पहाड़ी—सराय
२१. विष्णु प्रभाकर